श्रीमद्भगवद्गीता

कान्यकुब्ज श्रीजगन्नाथसुक्ल विरचित

मनभावनी भाषा टीका समेत

मूल भगवद्गीता

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

दोहा

राधा राधा रमण की कीरति कीरति याहि
सो देवै मनभावनी तिलक तिलककरि ताहि

कलकत्ता

निमतलागली २२ नंबर के मकान मे
श्रीभुवनचन्द्र बसाक के
ज्ञानरत्नाकर यन्त्रमे छपी

संवत् १८२४ ।

विज्ञापन ।

इस असार संसार मे वेद शास्त्र पुराण इतिहास का सारांशरूप तथा मोह तम तिमिर तिरोहण के अर्थ प्रचंड मार्तण्ड और अज्ञान से अन्ध जनसमूह को ज्ञान अञ्जनका अञ्जनूटा यह अनूठा जो गीताशास्त्र सो समरभूमि में बन्धुवध निमित्त व्याकुल अर्जुन से श्रीकृष्ण भगवानने कहा था सोई श्रीनारायण का अवतार श्रीवेदव्यास ने महाभारत मे भीष्मपर्व के बीच प्रकाश किया है और उसका तात्पर्य भी स्वामी श्रीशङ्कराचार्य्य ने भाष्य करि के कहा फेरि शङ्करभाष्य का भी टीका आनन्दगिरि जी ने किया और परम ज्ञानवान् श्रीधरस्वामी ने भी गीता पर सुबोधिनी नाम तिलक किया है परन्तु ये सब संस्कृत भाषामे हैं इससे पण्डित छोडि और लोगों के समझमे गीता का भावार्थ नही आवता है इस कारण से और कईएक सत्पुरुषों की रुची औ कहनेसे पण्डित जगन्नाथसुकुल ने अपने बुद्धि बलके अनुसार मनभावनी नाम भाषा टीका सम्वत् १८२३ मे किया है सो उसी टीका के साथ श्रीमद्भगवद्गीता अङ्गन्यास करन्यास औ माहात्म के समेत श्रीभुवनचन्द्र बसाकने अपने ज्ञानरत्न यन्त्र में अपनी तरफ से छापा और जगन्नाथ पण्डित ने उसे फेर भी शुद्ध किया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्यं उपक्रमणिका

ओंनारायणःपरोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् । अण्डस्यान्तस्त्विमेलोकाःसप्तद्वीपाचमेदिनी ॥१॥ सभगवान्सृष्ट्वेदंजगत्तस्यचस्थितिंचिकिर्षुर्मरीच्यादीनग्रेसृष्ट्वा प्रजापतीन्प्रवृत्तिलक्षणंधर्मंग्राहयामासवेदोक्तंततोऽन्यांश्च सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य

भाषा अनुवाद

इस संसारमे यह सब किसीके इच्छा रहती है कि दुख दूर होय और निरन्तर सुख मिलै परन्तु उसको कोई उपाय विनाजाने बहुतेरे लोग अनेक अनेक यतन करि वेद पुराण निहारि हारिबैठे और अपने मनके मनोरथको न पहुंचे तब परम दयालु भगवान वासुदेव श्रीकृष्णजीने उसको एक अति उत्तम उपायरूप गीताशास्त्र महाभारतके बीच अर्जुनको उपदेश किया जिसमे ज्ञाननिष्ठा और ज्ञाननिष्ठाका कारणरूप जो कर्मनिष्ठा अर्थात् कर्मके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है यही दोनो निष्ठा मे प्रवृत्त कहे कहता हुआ जो गीताशास्त्र तिसका तात्पर्य कहनेके लिये भगवान भाष्यकार शंकराचार्य सकल इतिहास पुराणोंके साथ गीताकी एकवाक्यता अर्थात् किसीसे विरोध नहीं है यह जानाते हुये ग्रन्थके आरम्भमे अन्तर्यामी परमेश्वर का प्रतिपादक कहे कहनेवाला एक पुराणका श्लोक मङ्गलाचरण किया है ॥ उसका अर्थ यह है कि जो अव्यक्तनाम माया जगत्की प्रकृति तिससे प्रगट सकल स्थावर जङ्गमको शरीर समूहमे अधिष्ठित कहे टिके जो सकल जीव तिनके आश्रयभूत अन्तर्यामी नारायण हैं और उसी मायासे अंडाकार यह ब्रह्मांड प्रगट भयाहै कि जिस ब्रह्मांडके भीतर सकल

निवृत्तिधर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। तत्रैको जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः सधर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिः श्रेयार्थिभिरनुष्ठीयमानो दीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवाद्धीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेनाधर्मेणाभिभूयमाने धर्मे प्रवर्द्धमाने चाधर्मे जगतः स्थितिं परिपालयिषुः स आदिकर्त्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल सम्बभूव ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्म्मस्तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानां। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन्नुलक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपदिदेश 'गुणाधिकैर्हि गृहीतोऽनुष्ठीयमानश्च धर्मः प्रचयं

भाषा अनुवाद

लोक और समुद्र समेत यह सातद्वीपवसुन्धरा जो पृथिवी सो धरी भई है॥ १॥ सोई नारायण जगतको सिर्जन करि इस सृष्टिके पालन करनेके लिये मरीचि अत्रि आदि दक्ष प्रजापतियोंको पहले उत्पन्न किया और उनको वेदविहित प्रवृत्ति लक्षण धर्मकी शिक्षा दिया फेर सनकादिकों को उपजाय उनको ज्ञान वैराग्य निवृत्ति लक्षण धर्मका उपदेश किया। जो वैदिक कहे वेदविहित धर्म दो प्रकारका है पहला जगतको स्थिति करनेवाला जिसको प्रवृत्ति लक्षण कहते हैं दूसरा मुक्तिका देनहार निवृत्ति लक्षण है जिसको ब्राह्मण आदि चारो वरण औ चारो आश्रमी अपने कल्याणके अर्थ अनुष्ठान अर्थात् धारण करते हैं॥

जगतमें लोगोंकी कामनावशते विवेकज्ञानके नाशक अधर्मकी वृद्धि भई तो जगतकी स्थिति कहे पालनकी इच्छा करिके वही आदि कर्त्ता नारायण ब्राह्मण औ ब्राह्मणके आधीन वेदविहित धर्मकी रक्षाके निमित्त देवकीके गर्भमें वसुदेवसे अंश रूप आप प्रगट भये। सोई भगवान सदा ज्ञान ऐश्वर्यशक्ति बल वीर्य तेजसे सम्पन्न कहे युक्त अपनी वैष्णवी त्रिगुणमयी मायाको अपने वश करके और आप मुक्तरूप मायाके द्वारा उत्पन्न भये ऐसे देखपड़ेथे अपने किसी प्रयोजनके विना भी लोगों

गमिष्यतीति। तंधर्म्मंभगवतायथोपदिष्टंवेदव्यासःसर्व्वज्ञोभगवान् गीताख्यैःसप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध। तदिदंगीताशास्त्रंसमस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतंदुर्व्विज्ञेयार्थं तदर्थाविष्करणायानेकैर्व्विवृतपदपदार्थवाक्यार्थन्यायमप्यत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेनलौकिकैर्गृह्यमाणमुपलभ्याहंविवेकतोर्थनिर्द्धारणार्थंसंक्षेपतोविवरणंकरिष्यामि। तस्यास्यगीताशास्त्रस्यसंक्षेपतः प्रयोजनंपरंनिःश्रेयसंसहेतुकस्यसंसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणं तच्चसर्व्वकर्म्मसन्न्यासपूर्व्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद्धर्म्माद्भवतितथेममेवगीतार्थधर्म्ममुद्दिश्यभगवतैवोक्तंसहिधर्म्मःसुपर्य्याप्तोब्रह्मणः पदवेदनंइत्यनुगीतासुकिञ्चान्यदपितत्रैवोक्तंनैवधर्म्मीनचाधर्म्मीनचैवहिशुभाशुभी। यःस्यादेकासनेलीनस्तूष्णीकिञ्चिदचिन्तयन्। ज्ञानंसन्न्यासलक्षणमितिच। इहापिचान्तेउक्तमर्जुनायसर्व्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकंशरणंव्रजेति। अभ्युदयार्थोपियः प्रवृत्तिलक्षणोधर्म्मोवर्णाश्रमांश्चोद्दिश्यविहित सचदेवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपिसन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानसत्त्वशुद्धयेभवतिफलाभिसन्धिवर्जितःशुद्धसत्त्वस्यचज्ञाननिष्ठायोग्यता प्राप्तिद्वारेणज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन

भाषा अनुवाद

पर अनुग्रह प्रकाश करिके प्रगटे जिसमे इस धर्मको सवलोग जानिकरि ग्रहण करें क्योंकि वडोंके आचरण किये हुये धर्मको सवलोग ग्रहण करेंगे यह विचारि श्रीकृष्णजी ने संग्राम के वीच शोकसागरमे निमग्न कहे डूवे हुये अर्जुनसे वेदोक्त प्रवृत्ति निवृत्ति दोना प्रकारके धर्म उपदेश किया था सोई भगवत्का कहा हुआ उपदेश सात सै श्लोकमे सर्वज्ञ भगवान वेदव्यासजी ने यह गीता निवन्ध किया अर्थात् वनाया सकल वेदोके अर्थका सारसंग्रह स्वरूप इस गीता का तात्पर्यार्थ लोगो को अति दुर्ज्ञेय कहे जानवे योग नहीं है इसी से वहुतोने यद्यपि इस गीताका अर्थ प्रकाश किया तौभी साधारण लोग उसका उलटा भाव अर्थ ग्रहण करलेते है यह जानि कै यथावत कहे ठीक ठीक अर्थ निर्धारण करनेके लिये हम संक्षेपमे विवरण करनेमे प्रवृत्त भये है दुखरूप इस संसारसे उपरतिरूप जो निर्व्वाण कहे मुक्ति सोइ गीताशास्त्रका प्रयोजन है परन्तु सर्वकर्म परित्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठारूप निवृत्ति धर्मके अनुष्ठान करने से वह प्रयोजन सिद्ध होता है अनुगीता आदि ग्रन्थोमे भगवान् आप यही सकल

चनिःश्रेयसहेतुत्वममिप्रतिपद्यतेतथाचेममर्थमभिसन्धायवक्ष्यतिब्रह्मण्याधायकर्माणि यतचित्ताजितेन्द्रियाः । योगिनःकर्मकुर्वन्तिसङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये इति । इमं द्विप्रकारंधर्मं नि श्रेयसप्रयोजनंपरमार्थतत्वञ्चवासुदेवाख्यं परब्रह्माभिधेयभूतंविशेषतोऽभिव्यञ्जयन्विशिष्टप्रयोजनसम्बन्धाभिधेयवद्गीताशास्त्रंयतस्तदर्थविज्ञानेनसमस्तपुरुषार्थसिद्धिरतस्तद्विवरणेयत्न क्रियतेमया अत्रच धृतराष्ट्रउवाच धर्मक्षेत्र इत्यादि ।

भाषा अनुवाद

अभिप्राय प्रमाणरूप प्रगट देखाया है और जो वर्णआश्रमके विषयमे जगत का स्थिति साधन कहे सहायक कर्मनिष्ठारूप प्रवृत्तिलक्षण धर्म इसमे कही कहीं कहा है वह यद्यपि देवादिलोक प्राप्तिका हेतु है पर तौभी ईश्वरार्पण वुद्धि से किया हुआ चित्तशुद्धिके साथ ज्ञाननिष्ठाकी योग्यताके द्वारा निर्वाण मुक्तिका साधनहोताहै यह वात इसी ग्रन्थमे पीछू कही जायगी इसी भांति निर्वाणमुक्तिका कारणरूप दो प्रकारका धर्म और वासुदेव जो परब्रह्मपरमारथ तत्त्व सोई विशेष रूपसे प्रगट करते विशेष प्रयोजन अभिधेय औ सम्बन्धविशिष्ट इस गीताशास्त्रके अर्थ ज्ञानसे सव पुरुषार्थ सिद्ध होते है इसलिये इसका तात्पर्य कहनेको मै यत्न करताहूं इस विषयमे धृतराष्ट्र ने कहा कि हे सञ्जय इत्यादि ।

इति शाङ्करभाष्य उपक्रमणिका ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय.।

धृतराष्ट्रउवाच। धर्मक्षेत्रेकुरुक्षेत्रेसमवेतायुयुत्सवः। मामकाःपाण्डवाश्चैव किमकुर्वतसञ्जय ॥ १ ॥ सञ्जयउवाच। दृष्ट्वातुपाण्डवानीकंव्यूढंदुर्योधनस्तदा।

भाषा अनुवाद

नेत्रहीन धृतराष्ट्र युद्धमे संदेह करते हुये प्रशंसा वाक्यसे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रका विशेषण देकर आत्महितकारी सञ्जयसे पूछा कि हे सञ्जय धर्मक्षेत्र धर्मभूमि जो कुरुक्षेत्र वहां मेरे पुत्र दुर्योधन आदिक और पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिरादि सब युद्ध की इच्छा करिके इकट्ठे हो क्या करतेहैं इससे यह आया कि धृतराष्ट्रके पूर्वपुरुषों मे कोई कुरुनाम राजा थे जिनका यह कुरुक्षेत्र धर्मस्थान है वहां धर्म बुद्धि होय संग्राम छोड मेल करके राज्यका विभाग तो न कर देंयगे यह भीतरी अभिप्राय है और रणभूमि मे सैन्यदल देखि सशंकित कहे डरे से कौन है क्या धीरवीर भीष्मपितामह के साथ मेरी प्रबल सेना को देखि शत्रुवोंको भय भई है या हिंसा की भय दोनो मानि संग्राम से निवृत्त हो जायंगे यह धृतराष्ट्र सञ्जय से पूछते है पाण्डवा यह सम्बोधन दे कर जनाया कि मेरे भाई पाण्डु रोगी थे और उन को मृग रूप धरि मैथुन करत हुये ऋषिने शाप भी दिया था कि जब तुम स्त्रीसंग करोगे तुर्त मरजावगे तो फेर युधिष्ठिरादि मेरे भाई के पुत्र कैसे हो सकते है इस से ये जारज है और राज्य के लिये लडने को आये कुरुक्षेत्र से यह इन का सोलह आना अन्याय है और मामका कहने से झलकाया कि मेरे पुत्र जो कुरुक्षेत्र गये सो अपने वडों के स्थान पर गये कुछ अन्याय नहीं किया पर उन का आवना पराई जगह अन्याय है ॥ १ ॥ तब सञ्जयने धृतराष्ट्र से कहा कि

आचार्यमुपसङ्गम्यराजावचनमब्रवीत् ॥२॥ पश्यैतांपाण्डुपुत्राणामाचार्य्यमहतींचमूं
व्यूढांद्रुपदपुत्त्रेणतवशिष्येणधीमता ॥ ३ ॥ अत्रशूरामहेष्वासाभीमार्जुनसमायुधि ॥
युयुधानोविराटश्चद्रुपदश्चमहारथः ॥ ४ ॥ धृष्टकेतुश्चेकितानःकाशिराजश्चवीर्य
वान्। पुरुजित्कुन्तिभोजश्चशैव्यश्चनरपुङ्गवः ॥ ५ ॥ युधामन्युश्चविक्रान्तउत्तमौ
जाश्चवीर्यवान्। सौभद्रोद्रौपदेयाश्चसर्व्वएवमहारथाः ॥ ६ ॥ अस्माकन्तु विशि

भाषा अनुवाद

राजा पांडुपुत्र युधिष्ठिरादिका सैन्यदल व्यूहाकार रचना रचित युद्धके लिये तयार खडा देखि आप के पुत्र राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य के निकट जाय कर वक्ष्यमाण यह बात कही है इस से यह जानाया कि भय औ शंका तुमारे ही पुत्र को भई है कि घवडाय के गुरू के निकट दौड गये ॥ २ ॥ सोई दुर्योधन की सब बातें सञ्जय नव श्लोकसे कहते हैं कि हे आचार्य देखियेतो यह युधिष्ठिरका सैन्यदल जिस को आपका शिष्य द्रुपद का पुत्र बुद्धिनिधान धृष्टद्युम्न ने रचा है सो महात्मा आप के सामने बडे विस्तारमे युद्ध करने को तयार निडर खडा है इस से यह आया कि जिस मे द्रोणाचार्य्य क्रोध करैं ॥ ३ ॥ और इस सेना के बीच युद्ध करने मे भीम अर्जुन के समान धनुर्धारी महाबली और और कितने योद्धा हैं तिन के नाम दुर्योधन द्रोणाचार्य से कहते हैं कि युयुधान जो सात्यकी और राजा विराट महारथी द्रुपद राजा ॥ ४ ॥ और धृष्टकेतु चेकितान राजा औ बलवान काशीराज औ पुरुजितराजा कुन्तिभोज औ शैव्य ये सब राजा नरश्रेष्ठ औ बलवान हैं ॥ ५ ॥ पराक्रमी युधामन्यु नाम राजा और बलवान उत्तमौजा नाम एक राजा और सुभद्राके पुत्र अभिमन्यु औ द्रौपदीके गर्भसे युधिष्ठिरादि पांचजनेसे उत्पन्न प्रतिविंद्यादि पांचभाई ये सब महारथी वीर हैं महारथीका लक्षण जो अस्त्रशस्त्रमे निपुण हो दश हजार धनुर्धारी योद्धोंके साथ अकेला युद्ध कर सके उसी को महारथी कहते हैं और असंख्य योद्धोंके साथ युद्ध करने मे जो समर्थ उसे अतिरथी शास्त्र मे कहते हैं और एक योद्धा के साथ जो युद्ध करे सोरथी है उस से भी कम अर्द्धरथी कहावते हैं ॥ ६ ॥ जो प्रबल शत्रु सेनादल देखि डरे से बोलते हो तो मेल क्यों न करलो लडाई से क्या फल

ष्टायेतान्निबोधद्विजोत्तम । नायकाममसैन्यस्यसंज्ञार्थंतान्ब्रवीमिते ॥ ७ ॥ भवान्भीष्मश्चकर्णश्चकृपश्चसमितिञ्जय. । अश्वत्थमाविकर्णश्चसौमदत्तिर्जयद्रथ. ॥ ८ ॥ अन्येचवहव.शूरामदर्थेत्यक्तजीविताः । नानाशस्त्रप्रहरणा.सर्वेयुद्धविशारदाः ॥९॥ अपर्य्याप्तंतदस्माकंवलंभीष्माभिरक्षितं । पर्य्याप्तन्त्विदमेतेषांवलंभीमाभिरक्षितं ॥१०॥ अयनेषुचसर्वेषुयथाभागमवस्थिता. । भीष्मनेवाभिरक्षन्तुभवन्त.सर्व्वएवहि ॥ ११ ॥

भाषा अनुवाद

है ऐसा द्रोणाचार्य न कहें इस शङ्का से दुर्य्योधन कहता है कि मेरे पक्ष मे जो नायक कहे सेनापति है वे सब आप से छिपे नही है तौभी उन के नाम आप को स्मरण कराने के लिये कहता हूं ॥ ७ ॥ साढ़े ये दो श्लोक से कहते है कि संग्रामविजयी आप औ भीष्मपितामह कर्ण कृपाचार्य्य अश्वत्थमा विकर्ण औ सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा औ जयद्रथ ये सब वीर अपनी ओर है तो फेर डर किस बात का है यह आशय जानो ॥ ८ ॥ अब कहते है कि और भी धीर वीर शूर जो मेरे अर्थ प्राण परित्याग करने को निश्चय करि राखे है और नाना प्रकारके शस्त्र चलावनेवाले तथा युद्धविद्यामे विशारद कहे अति निपुणवे सब लोगभी आप की कृपा से इधर तयार है ॥ ९ ॥ इस के अनन्तर दुर्य्योधन ने जा कहा सोई धृतराष्ट्र से सञ्जय कहते है कि ऐसे ऐसे शूर वीरों से भरी पूरी और भीष्म पितामह से रक्षित हो के भी हमारी सेना अपर्य्याप्त कहे पाण्डव को सेना के साथ युद्ध करनेमे असमर्थ सो जानी जाती है और विपक्ष पाण्डवो का अपूर्ण दल आलसी भीमसेन से रक्षित पर्य्याप्त अर्थात् समरमे समर्थ सो देख पडै है । दूसरा अर्थ दुर्य्योधन अपने हृदयकी निडरता प्रकाश करते हुये द्रोणाचार्य्यसे कहते है कि हमारा ग्यारह अक्षौहिणी सैन्य दल महात्मा वुद्धिमान भीष्मपितामह जिस को हरतरह से रक्षा करते है निसन्देह शत्रुवो का पराभव करने को समर्थ है और इन विचारो की एकतो सात अक्षौहिणी मात्र थोडी सेना दूसरे चपलवुद्धि महा गवांर भीमसेन से परिपालित है कहा हमारा सामना क्या करेगा पराभव करना अर्थात् जितना तो वडी दूर है ॥ १० ॥ इस से अब तुम सब लोगों को यही करना उचित है कि शत्रु के सैन्यदल के भीतर प्रवेश करने का क्रम से

तस्यसंजनयन्हर्षंकुरुवृद्धःपितामहः । सिंहनादंविनद्योच्चैःशंखंदध्मौप्रतापवान्॥ १२॥
ततःशङ्खाश्चभेर्यश्चपणवानकगोमुखाः । सहसैवाभ्यहन्यन्तसशब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३॥
ततःश्वेतैर्हयैर्युक्तेमहतिस्यन्दनेस्थितौ । माधवःपाण्डवश्चैवदिव्यौशङ्खौप्रदध्मतुः ॥ १४॥
पाञ्चजन्यंहृषीकेशोदेवदत्तंधनञ्जयः । पौण्ड्रंदध्मौमहाशङ्खंभीमकर्मावृकोदरः
॥ १५॥ अनन्तविजयंराजाकुन्तीपुत्रोयुधिष्ठिरः । नकुलःसहदेवश्चसुघोषमणिपु
ष्पकौ ॥ १६॥ काश्यश्चपरमेष्वासःशिखण्डीचमहारथः। धृष्टद्युम्नोविराटश्चसात्य

भाषा अनुवाद

अलग अलग हो अपनी अपनी रणभूमि पर खडे हो कर भीष्मजी की सब कोई रक्षा करो जिस मे और कोई शत्रु की ओर का योधा पीछू से इनको न मारने सकै इस को अभिप्राय यह है कि भीष्महीं के बल से हमारा जीवन है ॥ ११ ॥ तब तो ऐसी ऐसी राजा दुर्योधन की सनमान और अपनपौ की बातैं सुनि भीष्मजीने जो किया सो कहते हैं कि दुर्योधनके सन्तुष्ट होने के कारण कुरुवंश के वृद्ध पितामह उछल के आगे बढि सिंहनाद करि के शङ्ख को बडे धुधुकार शब्द से बजाया ॥ १२ ॥ भीष्म पितामह की युद्ध मे ऐसी उत्साह देखि सकल सेना के सरदार लोग जिस भांति युद्ध उत्सव मे प्रवृत्त भये सोई कहते है कि तदनन्तर शङ्ख भेरी कहे तूर ही पणव जो मृदङ्ग अनक जो नगारा गोमुख वाद्य विशेष तत्काल एक बारगी जो सभोने बजाया तो वह शब्द एक बडा आश्चर्यभूत भयानक धूधूकार भया कि पृथिवी दहल उठी ॥ १३ ॥ तिस के बादि पाण्डवों की सेना मे युद्ध की तयारी पांच श्लोक से कहते हैं कि इधर तो हंस से श्वेत बरण चार हय संयुक्त सूर्य के समान प्रकाशमान रथ पर सवार श्रीकृष्ण औ अर्जुन ने भी अति उत्तम दोनो शङ्ख धुधुकारे कि तीन लोक हिल उठे ॥ १४ ॥ अब किसने कौन शङ्ख बजाया सो कहते है कि पाञ्चजन्य नामक शङ्ख श्रीभगवान ने और अर्जुनने देवदत्त नाम शङ्ख बजाया फेर भीमकर्मा भीमसेनने भयानक पौंड्र नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५॥ तिस के अनन्तर अनन्तविजय नाम शङ्ख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने बजाया और सुघोष नाम शङ्ख नकुलने औ मणिपुष्प नाम सहदेवने बजाया ॥ १६ ॥ और धनुर्धारी काशीराज शिखण्डी औ धृष्टद्युम्न

किश्चापराजितः ॥१७॥ द्रुपदोद्रौपदेयाश्चसर्व्वशःपृथिवीपते। सौभद्रश्चमहाबाहुः
शङ्खान्दध्मुःपृथक्पृथक् ॥१८॥ सघोषोधार्त्तराष्ट्राणांहृदयानिव्यदारयत्। नभश्च
पृथिवींचैवतुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१९॥ अथव्यवस्थितान्दृष्ट्वाधार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्तेशस्त्रसंपातेधनुरुद्यम्यपाण्डवः। हृषीकेशंतदावाक्यमिदमाहमहीपते ॥२०॥
अर्जुनउवाच। सेनयोरुभयोर्मध्येरथंस्थापयमेच्युत ॥२१॥ यावदेतान्निरीक्षेहंयोद्धु
कामानवस्थितान्। कैर्मयासहयोद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥ योत्स्यमानानवेक्षेहं
यएतेऽत्रसमागताः धार्त्तराष्ट्रस्यदुर्बुद्धेर्युद्धेप्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥ सञ्जय उवाच ॥

भाषा अनुवाद

तथा विराट राजा और युद्ध मे अपराजित जो सात्यकी ॥ १७ ॥ और द्रुपद राजा तथा द्रौपदी के पांच पुत्र प्रतिविन्ध्यादि और सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्युजी हे पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्र ये सब के सब भिन्न भिन्न ध्वनि करने लगे ॥ १८ ॥ वही उन सबों की शङ्खध्वनिने तुमारे पुत्र दुर्योधन और उन से पक्षपातियों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया और वह ध्वनि प्रतिध्वनिरूप से आकाश औ पृथिवीतल मे व्याप्त हो छाय रही ॥ १९ ॥ उस समय मे अर्जुनने श्रीकृष्णजी को जो जनाया सो चार श्लोक से सञ्जय धृतराष्ट्र के निकट प्रगट करते है कि हे महाराज धृतराष्ट्र इस प्रकारकी शङ्ख ध्वनि होने पर भी तुमारे भगवान से यह बात कही ॥ २० ॥ श्रीकृष्ण से अर्जुन इतनी ही बात कही कि पुत्र लोगों की उत्साह युद्ध मे देख कर कपिध्वज अर्जुनने धनुष चढाय उस काल हे अच्युत दोनो दलके बीच मेरे रथको खडा करो ॥ २१ ॥ जो कहो कि क्या तमासगीर हो कि खडे हो देखोगे तुम तो आप योद्धा लडनेवाले हो इससे सेना के मध्य रथ किस लिये खडा किया जायगा इस बात पर कहते है कि उतनी देर रथ खडाकरो कि जबतक हम देखें कि युद्धको कामना करि खडी भई सेनाके बीच किस के साथ लडना हमे उचित है ॥ २२ ॥ दुर्बुद्धि दुर्योधन का मनोरथ सिद्ध करने के अर्थ जो राजा लोग इस युद्ध भूमि पर आय इकट्ठे भये है उन को जब तक हम देखें तबलों रथ दोनो सेना के मध्यमे स्थापन करो ॥ २३ ॥ तिस के बाद क्या भया सो कहते हुये सञ्जय बोले कि हे महाराज धृतराष्ट्र अर्जुन की

एवमुक्तोहृषीकेशोगुडाकेशेनभारत　सेनयोरुभयोर्मध्येस्थापयित्वारथोत्तमं ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्चमहीक्षितां।　उवाचपार्थपश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति
॥२५॥　तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थःपितॄनथपितामहान्।　आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्
पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।　श्वशुरान्सुहृदश्चैवसेनयोरुभयोरपि॥२६॥　तान्
समीक्ष्यसकौन्तेय सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।　कृपयापरयाविष्टोविषीदन्निदमब्रवीत्
॥२७॥　अर्जुनउवाच।　दृष्ट्वेमान्स्वजनान्कृष्णयुयुत्सून्समवस्थितान्।　सीदन्ति
ममगात्राणिमुखञ्चपरिशुष्यति॥२८॥　वेपथुश्चशरीरेमेरोमहर्षश्चजायते।
गाण्डीवंस्रंसतेहस्तात्त्वक्चैवपरिदह्यते॥२९॥　नचशक्नोम्यवस्थातुंभ्रमतीवचमे

भाषा अनुवाद

यह प्रार्थना सुनिके श्रीकृष्ण दोनो सेनाके बीचमे उस उत्तम रथको ले जाय कर
खडा किया ॥२४॥ फेरि भीष्म द्रोण औ और और राजावोंके सामने रथको खडा
करिके श्रीभगवानने कहा कि युद्ध करनेके हेतु एकट्ठी हुयी यह कुरुवंशीयों की
सेनाको देखो और जिनके साथ युद्ध अनुचित मानि तुमारा मन मलीन भया है
इनके साथ युद्ध करना ही पडेगा क्यों कि संग्राममे अस्त्रधारी राजों के सामने से
हटना क्षत्री के योग्य काम नही है ॥२५॥ तहां खडे हुये चचा दादा आचार्य
मामा भाई भतीजे नाते नाती औ मित्र बन्धु ससुर सुहृदो को दोना तरफ अर्जुन
ने देखा ॥२६॥ तो सो कुन्तीपुत्र अर्जुन उन सब बंधुवो को लडने के लिये
संग्राम मे खडे देखि परम कृपा से युक्त अति कातर स्वभाव हो विषाद करते
भये यह वचन बोले ॥२७॥ उस समय अर्जुन ने जो कहा सो संजय कहते
है कि हेराजा तब अर्जुन कृष्णसे बोले कि हे श्रीकृष्ण युद्ध की इच्छा करि संग्राम
भूमिमे खडे हुये इन स्वजन बंधुवोको देखि मेरे हाथ पाव ढीले होगये और सारी
शरीरमे पसीना पसीना हो आया मुख भी सूखता जाता है ॥२८॥ और देह
कांपती है रोवा खडे हो हो उठते हाथसे गाण्डीव धन्वा भी गिरापडता है सर्वांगकी
खाल जली सी जाती है ॥२९॥ और मेरे अब खडे होनेकी सामर्थ्य भी नहीं रही
मेरा मन भ्रमता है और निमित्त असगुन भी उलटे पुलटे देखता हूं बाईं आंख
और हाथ भी फरकते है ॥३०॥ इससे मै अपना अब कल्यान नही देखता हूं

मनः। निमित्तानिचपश्यामिविपरीतानिकेशव ॥ ३०॥ नचश्रेयोनुपश्यामिहत्वा स्वजनमाहवे। नकांक्षेविजयंकृष्णनचराज्यंसुखानिच ॥ ३१॥ किंनोराज्येन गोविन्दकिंभोगैर्जीवितेनवा। येषामर्थेकांक्षितंनोराज्यंभोगाःसुखानिच ॥ ३२॥ तइमेऽवस्थितायुद्धेप्राणांस्त्यक्त्वाधनानिच। आचार्याःपितरःपुत्रास्तथैवचपितामहाः ॥ ३३॥ मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा। एतान्नहन्तुमिच्छामि घ्नतोपिमधुसूदन ॥३४॥ अपित्रैलोक्यराज्यस्यहेतोःकिन्नुमहीकृते। निहत्यधार्त्त राष्ट्रान्नःकाप्रीतिःस्याज्जनार्दन ॥ ३५॥ पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः। तस्मान्नार्हावयंहन्तुंधार्त्तराष्ट्रान्सबान्धवान्। स्वजनंहिकथंहत्वासुखिनःस्याम

भाषा अनुवाद

कि स्वजन बंधु वों को संग्राम मे मारके हे कृष्ण नहीं चहिये हमै विजय और नराज्य और सुख की भी इच्छा हमै नहीं है ॥ ३१॥ देखो क्या कर ना हमै राज्य लेकर हे गोविन्द और भोगसे भी मुझे क्या काम है और जीने से भी हमै क्या प्रयोजन है कि जिनके वास्ते हम राज्य भोगऔर सुख की आकांक्षा करते है वेई पांडव प्राणधन छोड के मेरे सामने संग्राम मे खड़े है और आचार्य्य पितृ पितामह पुत्र पौत्र येई सकल देख पड़ै है ॥ ३२ ॥३३॥ जो कहो कि क्षमा करिके चाहो तुम इन्हें छोडो पर ये सब संग्राम मे अब तुमको मारें होंगे विनमारे किसी तरह न छोडेगे इससे तुम इन सबको संहार करिके राज्य भोग क्योन करो तो हे मधुसूदन ये लोग चाहें हमैं मारैं परन्तु मारते हुये भी मामा नाती पोते भतीजे ससुरे संबंधी इन को हम मारने की इच्छा यही करते है ॥ ३४ ॥ जिन को हम तीन लोक की राज्य संपदा के वास्ते भी मारने की इच्छा नही रखते तो हे जनार्द्दन केवल पृथिवी भर की राज्य के हेतु दुर्य्योधन आदि की नाश करि के हमारी क्याप्रीति अर्थात् कौन वडा कार्य्य सिद्ध होगा तात्पर्य यह कि कुटुम्बको नाश करि हमको संसार का कोई सुख नही है ॥३५॥ जो कहो कि घरमे आगलगावे या विष मिलाय मारे अथवा वध करने को खड्ग उठावे और धन हरन करे या भूमि छीनले और स्त्रीहरिले ये छवो आततायी कहावते हैं इनके मारने मे दोष नहीं है ऐसा शास्त्र अर्थात् नीतिमे लिखा हैं

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीय अध्यायः ।

सञ्जय उवाच । तन्तथाकृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणं । विषीदन्तमिदंवाक्य
मुवाचमधुसूदनः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । कुतस्त्वाकश्मलमिदंविषमेसमुपस्थि
तम् । अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥ माक्लैव्यंगच्छकौन्तेयनैतत्
त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रंहृदयदौर्बल्यंत्यक्त्वोत्तिष्ठपरन्तप ॥ ३ ॥ अर्जुन उवाच ।

भाषा अनुवाद

अहिंसा परम धर्म है इस से भिक्षाकरि निर्वाह करना हीं हमै उचित है ऐसी
ये सब अर्जुन की बातैं सञ्जय के मुख से सुनि और युद्ध से विमुख अर्जुनको जानि
अपने पुत्र का अचल राज्य मानि मन प्रसन्न स्वस्थ हृदय धृतराष्ट्र को देखि फेरि
सञ्जय धृतराष्ट्र की उस दुष्ट आशा को दूर करते हुये यह वचन बोले कि हे
राजन इस प्रकार कृपायुक्त अश्रुधारा पूर्ण लोचन विषाद करते हुये अर्जुन से
दुखमोचन श्रीभगवान ब्रह्मविद्या जो ज्ञान तिससे प्रबोध करते हुये यह वचन
कहते भये सो सुनो ॥ १ ॥ अर्जुनको कातर देखि यह वचन श्रीकृष्ण बोले कि
हे अर्जुन ऐसे असमय मे लड़ाई के बीच जूरख कायर कूरकपूत शास्त्र विहीन
मनुष्यों के योग्य जो लोक मे दुर्यश करने वाला है औ अस्वर्ग्य कहे जिससे स्वर्ग
जाय और नरक मिले ऐसा कश्मल अर्थात् मोह अर्जुन इस नामसे भूतलमे प्रसिद्ध
धीरवीर तुम ऐसे पुरुष को आय कर प्राप्त ,भया यह बड़ाही आश्चर्य है ॥ २ ॥
फेर भी भगवान अर्जुन से कहते है कि हे परन्तप शत्रु संहार करनेवाले अर्जुन
हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र अब तुम वीरभावको छोड़ इस क्लीव कहे नपुंसकके भावको न

कथभीष्ममहंसंख्येद्रोणञ्चमधुसूदन। इषुभिःप्रतियोत्स्यामिपूजार्हावरिसूदन॥
४॥ गुरूनहत्वाहिमहानुभावान्श्रेयोभोक्तुंभैक्ष्यमपीहलोके। हत्वार्थकामांस्तु
गुरूनिहैवभुञ्जीयभोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥ नचैतद्विद्मःकतरन्नोगरीयोयद्वा

भाषा अनुवाद

गही यह तुमारे योग्य नहीं है इस आचरण के करने मे तुमारी शोभा जगतमे कुछ नहीं होगी इससे इस क्षुद्र कहे तुच्छ हृदय की दुर्बलता कहे कादरपन को छोड कर हमारे कहने से उठो और धीरज धरि रमें के अनुसार कार्य करो कुन्तिपुत्र सम्बोधन देने से जनया कि मातृस्वभाव कन्या को होता है पुत्रको तो पितृस्वभावही उचित है और परन्तप कहने से सोचाया कि उठ कर शत्रुवोंको मारलो तुम अनेक वार संग्राममे जय पाय चुके हो क्यों घवडाते हो॥ ३॥ इस प्रकार भगवतसे प्रबोध कराये भी गये अर्जुन तौ भी शोकग्रस्त महा व्याकुल अपनें मनका मनोरथ प्रकाश करते हुये कृष्ण भगवान से फेरि कहने लगे कि हे मधु सूदन पूजा करनेके योग्य जो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य तिनसे संग्राम में हम वाणोसे कैसे युद्ध करैं औ उनको मारैं कि जिनके साथ हम वचनसेभी संग्राम करने की वात नहीं कर सकते है तो हे अरिसूदन कहे शत्रुनाशन साक्षात् युद्ध कैसे करैं इहा शत्रुनाशन कहनेसे अभिप्राय यह कि यत्न कहे उपायसे शत्रु नाश करने वाले हो॥४॥ फेर भी अर्जुन कहते है कि यद्यपि युद्ध करना राजों का धर्म है तौ भी लोभसे जीविका ही के अर्थ वे लोग युद्ध मे अनर्थ रूप पाप करते है और जो कहो कि इन लोगों को विना मारे तुमारी देहयात्रा कहे जीवनवृत्ति भोजन ,वस्त्र भी न चलेगा तो निर्वाह कहो संसार से कैसे होगा इस वात पर अर्जुन कहते है कि जिस लिये महानुभाव महात्मा गुरू लोगों को न मार के भीखमांग खाना भी मेरेजान लोक परलोकमे श्रेय कहे अति उत्तम कल्याण रूप है और नहीं गुरू आदि वडे लोगों को मारिके उनके लोहूसे लपेटे भये भोग हम चाहते है क्यों कि जो आप यह कहो कि परलोक मे जो होगा सो होगा किसने देखा है अब जो उपस्थित है सो वारो तो कहते है कि केवल परलोक ही मे दुख नहीं है यहां भी दुर्यश औ सन्ताप रूप दुख होता ही है और जो कहो कि रहै

जयेमयदिवानोजयेयुः । यानेवहत्वानजिजीविषामस्तेवस्थिताःप्रमुखेधार्त्तराष्ट्राः ॥
६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावःपृच्छामित्वांधर्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयःस्यान्निश्चि
तंब्रूहितन्मेशिष्यस्तेहंसाधिमांत्वांप्रपन्नम् ॥ ७ ॥ नहिप्रपश्यामिममापनुद्याद्यच्छो
कमुच्छोषणमिन्द्रियाणां । अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धंराज्यंसुराणामपिचाधिपत्यं ॥८॥

भाषा अनुवाद

परलोक यहां लोकमे तो सुख मिलेगातो हे श्रीकृष्ण तुच्छ अल्प सुखके हेतु मुक्ति और स्वर्गलोकमे यश ऐसी वडी वस्तु कौन मूर्ख छोडेगा ॥५॥ और जो कदाचित हम अधर्म अङ्गीकार करैं तौभी तो हमारी जय या पराजय क्या होयगी यह भी तो हम नहीं जानतेहै कि दोनो मे क्या होगा सोई कहतेहै कि होय हमी रणमे उनको जय करलें नतुवा वेई सबहमे जीतैं परन्तु हमारी जीत होने से भी विचार कर देखो कि वह हमारी हारही है क्यों कि जिनको नाश करिके हम फेरि और संसार मे प्राणधारण करना नहीं चहते हैं सोई धृतराष्ट्रके पुत्र सब इकट्ठे हुये रणभूमिमे हमारे सामने युद्धके अर्थ खडे है ॥६॥ इन कुटुम्बके लोगों का वध करिके हम अपने प्राण कैसे करि राखैंगे इस चिन्ता को कार्पण्य कहते और दोष जो कुलक्षय कृत पापहैं यही दोनो वातोंसे हमारी शूरता नष्ट होगई अर्थात् चली गई इस से अब धर्मके विचार मे भी हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है कि संग्राम छोड भिक्षान्नसे भोजन करना क्षत्रिय को उचित कि अनुचितहै इस संदेह से व्याकुल होय हम अब आपही से पूछते है कि जिस मे हमारा अत्यन्त परम कल्याण होय सो आप क्षमा करिके हमसे कहो क्यों कि हम आपके शिष्य औ शरणागत है हमे अब और कुछ नही सूझैहै शरणागतपर दया करना आप ऐसे महात्माओंको उचित है॥७॥ जोकहो कि तुमहीं आप अपने मनसे विचारकरके जो करने योग्य होय सो करो न क्यो तिसपर कहते है कि इन्द्रियोंकी चैतन्य शक्तिका नाश करनेवाला जो यह शोक हमे आपके प्राप्त भयाहै सो किसीभी उपायसे दूर होगा यह हम किसीभी भांतिसेनही देखतेहैं और यद्यपि हम निष्कण्टक पृथिवी भरका राज्य करैं या देवाधिपत्य कहे स्वर्गका राज्य इन्द्रपदभी प्राप्त करैं अर्थात् पावें तौभी इसशोकसागरके पार जानेकी कोइ उपायहमनहीं देखतेहैं ॥८॥ इस

सञ्जय उवाच। एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशःपरन्तप। नयोत्स्य इतिगोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूव ह ॥९॥ तमुवाच हृषीकेश प्रहसन्निवभारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च

भाषा अनुवाद

प्रकारकी बातैं भगवानसे कहके अर्जुनने फेर क्या किया सो सञ्जय धृतराष्ट्रसेकहते है कि निद्राविजयी शत्रुनाशन धनञ्जय अर्जुननेभगवानसे कहा कि हेगोविन्द हम युद्ध न करेंगे जो होय सो होय यह कहिकर रथकेउपर मौन होय बैठ रहे ॥९॥ तिसके अनन्तर क्या भया सो संजय कहते है कि दोनो सेना के बीच मे विषाद को प्राप्त भये अर्जुन को सम्बोधन करि भगवान हंसते हुये वच्यमाण ये बचन कहने लगे हे भारत धृतराष्ट्र सुनो ॥१०॥ यह ग्रन्थ प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक से ले कर और द्वितीय अध्यायके दशवें श्लोक तक जो तीन वाक्य है तिन के मध्य मे प्रथम अध्याय के दूसरे श्लोक से ले के द्वितीय अध्याय के नवये श्लोक पर्य्यन्त की वाक्य व्याख्या करने के योग्य है क्यो कि उस मे प्राणियों के सांसारिक दुख का कारणभूत जो शोक मोहादि रूप दोष तिसकी उत्पत्ति का हेतु रूपअहङ्कार की कारणस्वरूप अविद्या वर्णन की गई है और राज्य आदि ममता रूप भ्रान्तिज्ञान निमित्तक स्नेह देखाया औ उस के वियोग से उत्पन्न स्नेह मोह भी देखाया है अर्जुन अपना चत्रिय का जो धर्म युद्ध करना तिसमे आपही प्रवृत्त हो के भी जिस शोक मोहके द्वारा विवेकज्ञानसे रहित हो कर युद्धसे विरक्त और परधर्म भिक्षा मे प्रवृत्त भये थे ठीक है शोक मोहयुक्त प्राणीमात्र बहुधा स्वधर्म छोड परधर्म अङ्गीकार कर लेते हैं और जो स्वधर्म मे प्रवृत्त है वे भी फल की कामना से अहङ्कार पूर्व्वक प्रवृत्त होते है। इस कारण धर्म अधर्म की प्रबलताके हेतु सेउत्तम अधम जोनियोमे जन्म और सुख दुःख आदि प्राप्ति रूप यह संसार किसी प्रकार छूटता नही इस से शोक मोह ये दोनो संसार होने के कारण है केवल संन्यास पूर्व्वक आत्मज्ञान निष्ठाके विना शोकमोहके निवारणकी और कोई उपाय न देखि भगवान वासुदेव लोकके उपर अनुग्रह करते हुये अर्जुनको उपलक्षण करि इस गीताशास्त्र मे सोई ज्ञाननिष्ठा का उपदेश करते है। इसविषयमे कोई कहते

भाषा अनुवाद

है कि सर्व्व कर्म परित्याग करि के केवल आत्मज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है परन्तु श्रुति स्मृति विहित कर्मनिष्ठा के सहित जो तत्त्वज्ञाननिष्ठा है उस से कैवल्यमुक्ति प्राप्ति होती है इस मे प्रमाण इसी गीताके दूसरे अध्यायमे ३३ ४७ आदि श्लोकों से कहा है और युद्ध आदि कर्म भी क्षत्री को अधर्म नहीं है वलु उस को न करने से दोष है यह भी इसी द्वितीय अध्याय के ३३ श्लोक मे निश्चय करिके कहा है। तो उपर की उक्त अभिप्राय अत्यन्त असत् है कि जिस हेतु ज्ञाननिष्ठा औ कर्म निष्ठा दोनो पृथक पृथक कहा है अर्थात् इसी द्वितीय अध्याय के ११ श्लोक से ले कर ३१ श्लोक तक जो परमार्थ तत्त्व निरूपण किया गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम साख्य बुद्धि और सोई बुद्धि युक्त ज्ञानी भी सांख्य कहावते है और इस सांख्य बुद्धि उत्पन्न होनेके पूर्व्व देहादि व्यतिरिक्त कहे भिन्न जो आत्मा उसको कर्तृत्व आदि की अपेक्षा करि के धर्म अधर्म विचार पूर्वक जो मोक्ष का साधन रूप योग निरूपण अर्थात् कहा गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम योगबुद्धि है सोई बुद्धियुक्त कर्मी पुरुष का भी नाम योगी है इस प्रकार से दोनो निष्ठा दिखाई है उन के बीच सांख्य नाम ज्ञाननिष्ठा औ योग रूप कर्मनिष्ठा ये दोनो भी आगे पृथक पृथक कही जायंगी इसीसे सांख्य बुद्धिका आश्रय ज्ञाननिष्ठा औ योगबुद्धिका आश्रय कर्मनिष्ठा ये दोनो निष्ठा एक कालमे एक पुरुष करके अनुष्ठान करीजायं यह किसी प्रकारसे सम्भव नहीं होता है यही शतपथ ब्राह्मणमे कहा है कि यो ज्ञान औ कर्म समुच्चय अभिप्रेत हो तो ये सब विभाग वचन और किसी प्रकार सम्भव नहीं है। और इस प्रकारसे अर्जुनकी प्रश्न भी ठीक नही होती है क्यों कि ज्ञान औ कर्म एक कालमे एक पुरुष को नितान्त असम्भव है यह पूर्व न कहने से अर्जुन किस प्रकार कर्मसे ज्ञानको श्रेष्ठ जानि भगवानसे मिथ्या आक्षेप करैंगे और सर्व उपदेश मे ज्ञान औ कर्म इन दोनो के मध्यमे जो श्रेय हो सो हमको कृपाकर कहो इस प्रकार एक विषयक प्रश्न हो वा कहो किस तरह सम्भव है जो भगवतके उक्त वचनोंका अर्थ न समझके अर्जुन ऐसी प्रश्न किये हों तौ भी अर्जुनसे भगवानके ऐसे प्रतिवचन सम्भव नहीं होतेहै क्षत्री का स्वधर्म जो युद्ध रूप स्मृतिविहित कर्म तिसके सहित ज्ञान सम्पादन करना भी विहित नही है। क्योंकि सो होने से

भाष्ये। गतासूनगतासूंश्चनानुशोचन्तिपण्डिताः॥ ११ ॥ नत्वेवाहंजातुनासंन

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका इस प्रकारका अनुयोग करना कभी सम्भव होता नहीं इसीसे गीताशास्त्र मे लेशमात्र भी श्रौत या स्मार्त्त कर्म के सहित ज्ञान सम्पादन का प्रतिपादन करने को कोई भी समर्थ न होंयगे। अज्ञान किम्वा राग आदि दोष वशते कर्ममे प्रवृत्त मनुष्य को यज्ञ दान तप आदि के द्वारा सत्त्व शुद्धि पूर्वक पर मार्थ तत्त्वज्ञान होनेसे परलोक संग्रहके अर्थ जो फेरिभी कर्ममे प्रवृत्ति होय तो उस कर्मको कर्म नहीं कहते है सुतरां तिसके सहित ज्ञान का सम्पादन नहीं होता है जैसे भगवान श्रीकृष्ण के सकल धर्म्म समुचित नहीं और जैसे काम्य कर्म्मे कामना न रहने से फेरि और वह काम्य कर्म्म नहीं हो सकता है जिस हेतु उस मे फलाभिसन्धि कहे फलकी इच्छा नहीं है। तो फेरि जो जनक आदि राजा कर्म्म के द्वारा मुक्त ऊये थे यह ग्रन्थों मे वर्णन किया है सो केवल लोक संग्रह के अर्थ मात्र अथात् सव कर्म्मा का परित्याग होने से भी गुण औ गुणी ज्ञान वशते कर्म्म आभास के साथ उन की मुक्ति भई थी अर्थात् कर्म्म के त्याग मे अधिकार होने से भी कर्म्म त्याग न करि के उस के सहित निर्म्माण पद प्राप्त किया और जो कहो कि जनकादि राजा पूर्व्व मे तत्त्वज्ञानी नहीं थे तौ भी ज्ञान के साधन भूत सकल कर्म्म ईश्वर को समर्पण करने से उनको सत्त्व शुद्धि अथवा ज्ञान की उत्पत्ति भई थी भगवानने इस गीता शास्त्र मे यही प्रति पादन करि के पीछे सोई प्रकार शुद्ध सत्वगुण मनुष्य की ज्ञाननिष्ठा निरूपण किया है इस से केवल तत्त्वज्ञानसे जो मुक्ति होती है और उसमे जो कर्मके सहयताकी अपेक्षा न करे यही इस गीता शास्त्र का निश्चित अर्थ है यह अर्थ आगे प्रकरण मांय के देखाया जायगा इस प्रकार गीता शास्त्रका तात्पर्य्य अर्थ निर्णय किया गया है परन्तु अव धर्ममे व्यग्र मिथ्या भ्रमविशिष्ट कहे युक्त महत् शोक सागरमे डूवे ऊये अर्जुन को आत्म ज्ञान के विना उद्धार होने की और कोई उपाय न देखि करके भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति तत्त्वज्ञान का उपदेश करते है। प्रथम आध्याय के २८ श्लोक से लेकर तुम जो कुटुम्बके जनोंका शोक करते हो सो वे सव तुमारे

त्वंनेमेजनाधिपाः । नचैवनभविष्यामः सर्व्वेवयमतःपरं ॥ १२ ॥ देहिनोऽस्मिन्
यथादेहेकौमारंयौवनंजरा । तथादेहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्रनमुह्यति ॥ १३ ॥

भाषा अनुवाद

शोचनेके योग्य नहीं है और द्वितीय अध्यायके २ श्लोकसे लेके हमसे प्रबोध कराये अर्थात् समझाये गये भी तुमजो पण्डितमानी के समान ये वचन उच्चारण करते अर्थात् कहते हो कि भीष्म पितामही को संग्राममें हम कैसे मारें इससे यह प्रतीति होती है कि तुम यथार्थ पण्डित नहीं हो जिस हेतु बुद्धिमान पण्डित जोहैं वे गतप्राण अगतप्राण अर्थात् मरे औ जीवते को नहीं शोचते हैं कि बन्धु विहीन हम कैसे जियेंगे ।११। भीष्म आदिके प्रति जो शोच करना अनुचित है इसमें श्रीभगवान कारण कहते हैं कि देखो हम परमेश्वर हमारा शरीर धारण कराना केवल लीला के अर्थ है इससे इस देह के होने जाने वशते हम कभूं पूर्व्वमें नही रहे थे यह सम्भव नहीं होता जिस हेतु हम अनादि और हमारे अंशते उत्पन्न तुम और ये सब राजा लोग भी कभी नहीं रहे थे यह भी सम्भव नहीं है इससे हम जैसे पहले थे तैसे अब भी हैं फेरि आगे भी हम सब होयंगे इससे आत्मस्वरूप देह के जन्म औ मरणका स्वभाव हो है तो फिरि स्वजन विनाश कहो शोक का विषय कैसे है नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥ जो कहो कि तुम ईश्वर तुमारा जन्म औ विनाश न होना सम्भवहैं परन्तु हम लोग जीवहैं इससे हमारा जन्म मरण प्रसिद्धहै इस विषयमें भगवान कहतेहैं कि देखो देहाभिमानी जीवको इस स्थूल शरीर में जैसे कौमार यौवन औ वृद्धा अवस्था प्राप्त होती हैं परन्तु जीव स्वरूप को नहीं होती है और यही सब अवस्थो के मध्यमें पूर्व्व अवस्थाके बीत गये और और अवस्था प्राप्त भये पर भी संस्कार वशते सोई हम हैं यह ज्ञान रहता है तैसेही जीवको भी स्थूल देह केनाश होने पर लिङ्ग शरीर के द्वारा देहान्तर प्राप्ति होनेसे भी आत्माका नाश नही होताहै देखो तुर्तके भये हुये बालकको पूर्व्व देहके संस्कार वशते जन्म होतेही माव दूध पीनेमें प्रवृत्ति देख पडती है इसीसे स्थूल देहके जन्म नाश भयेपर धीर पुरुष मूढ नहीं होते अर्थात् आत्माका जन्म मरण अङ्गीकार नही करतेहैं ॥१३॥ औरजो कहो कि हम भीष्म आदिके प्रति

मात्रास्पर्शास्तुकौन्तेयशीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥ यंहिनव्यथयन्त्येतेपुरुषंपुरुषर्षभ। समदुःखसुखंधीरंसोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥ नासतोविद्यतेभावोनाभावोविद्यतेसतः। उभयोरपिदृष्टोन्त स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥ अविनाशितुतद्विद्धियेनसर्वमिदंततं। विनाशम

भाषा अनुवाद

शोक नहीं करते है परन्तु उनके वियोग मे हमें दुःख करना हीं होगा इस लिये हम अपनेको शोचतेहैं इसवात पर कहतेहैं कि सकल वस्तु जिसकेद्वारा परिमाण की जांय ऐसी जो सब इन्द्रिय वृत्ति कहे संयोग और उनके द्वारा जो विषयों का स्पर्श होना यही शीत उष्णादि के द्वारा सुख दुख देता है किन्तु वे शीतादिक सब अनित्य है इससे उनको धीरज धरके सहो जैसे जल अग्नि धर्म आदि संयोग से कालस्वभाव वशते शीत उष्ण होनेसे सुख दुख है तैसे इष्ट औ अनिष्ट प्राप्त होने से भी सुख दुख होता ही है परन्तु वह अनित्य और मिथ्या है इससे तुमको उनका सहना उचित है तुम ऐसे धीर वीर पुरुष को उन मे हर्ष विषाद करना अति अयोग्य और वृथा है॥१४॥ जिस हेतु कोई उपाय अवलंबन करि शीत उष्ण का वारन करने से कष्टकरि उनका सहना हीं उचित है क्यों कि उसमे बडा फल है यही कहते है कि हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन जिन धीर पुरुषों को सुख दुख समान भाव है अर्थात् शीत उष्ण मे क्लेश बोध नहीं होता सोई विक्षेप रहित पुरुष धर्म औ ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी है॥१५॥ और जो कहो कि तौभी अति दुःसह शीत उष्ण उनको हम कैसे कर सहें और जो बडा क्लेश करिके किसी तरहसे सहैं तो कदाचित इस आत्माका नाश हो सकता है यह शङ्का करि कहते है कि विचार से तो वे सब सहे जाय सकते है देखो जैसे अति तुच्छ औ अनात्मधर्म अर्थात् शरीरके धर्म जो शीत उष्ण प्रभृतिहैं उनका आत्मासे कुछ संबंध नहीं है और सत् स्वभाव जो आत्मा उसका कभू भी विनाश नही होता है यथार्थ दर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष इसी प्रकार से सत असत इन दोनो पदार्थ की निर्णय किया है इससे विवेक ज्ञानके द्वारा शीत उष्ण आदि तुम सह्य करो घवडाते काहेलिये हो॥१६॥ अविनाशी सत वस्तु का स्वरूप सामान्य से वर्णन करिके फेरि विशेष

व्ययस्यास्यनकश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥ अन्तवन्तइमेदेहानित्यस्योक्ताःशरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्यतस्माद्युध्यस्वभारत ॥ १८ ॥ यएनंवेत्तिहन्तारंयश्चैनंमन्यते हतम्। उभौतौनविजानीतोनायंहन्तिनहन्यते ॥१९॥ नजायतेम्रियतेवाकदाचिन्ना यंभूत्वाभवितावानभूयः। अजोनित्यःशाश्वतोऽयंपुराणोनहन्यतेहन्यमानेशरीरे॥

भाषा अनुवाद

रूपसे कहते है कि जो इस अनित्य देहमे साक्षीरूप सवठौर व्याप्त होकर रहा है वही आत्मा को तुम अविनाशी जानो जिस हेतु उसके विनाश करने को किसी की सामर्थ्य नहीं है ॥१७॥ अब उत्पत्ति विनाश धर्म विशिष्ट देहादिकी अनित्यता देखावते है कि नित्य अर्थात् सदा एक रूपसे स्थित और इसीसे अविनाशी औ अपरिमेय कहे जानवे जोग नहीं ऐसा जो देही कहे आत्मा है और सुख दुख आदि धर्मविशिष्ट नश्वर अर्थात् विनाश होनेवाली यह देह है ऐसा तत्वज्ञानी कहते है इसीसे जानो कि जो स्वरूपसे आत्माका विनाश तथा सुख दुख आदिका संवंध नहीं है तो मोहजनित शोक को परित्याग करिके युद्धमे तुम प्रवृत्त होउ और अपना क्षत्रीका परमधर्म जो युद्ध सो कभूं न छोडो छोडना नहीं चाहिये ॥ १८ ॥ भगवान की इन सब वातों से महात्मा भीष्म पितामहादिक के मृत्यु हेतुक जो अर्जुन को दुख शोक आय के प्राप्त भया था सो सब दूर भया और अब कुटुम्ब के वध करनेवाले हम है यह दुख जो प्रथम अध्यायके ३४ श्लोकमे कहा है सो उस दुखके उत्पन्न होने मे कोई हेतु नहीं है यह प्रतीति भगवान करावते है कि यह आत्मा न किसीसे मरता और न किसीको मारता है फेर जो कोई इस को हन्ता जानता और इस को हत मानता है वे दोनो भी कुछ नहीं जानते है ॥ १९॥ आत्माका नाश नहीं है यह वात षडभाव विक्रिया कहे विकारका अभाव कथन के द्वारा भगवानदृढ करते हैं कि आत्मा का जन्म होता नहीं अर्थात् उसका जन्मरूप विकार नहीं है और कभी मरता भी नहीं अर्थात् विनाश रूप विकार उसका नहीं है और आत्मा उत्पन्न होके विद्यमान है यहभी नही अर्थात् वर्त्तमान रूप विकार नही है जो जन्म धरै है सोई वर्त्तमान भी होता यह तो अज तथा पूर्व्वसे सदासर्व्वदा विराजमान है इसका फेरि जन्म लेकर विद्यमान होना

२० ॥ वेदाविनाशिनंनित्यंयएनमजमव्ययं । कथंसपुरुषःपार्थकंघातयतिहन्तिकं

भाषा अनुवाद

कहां यह अतिही असम्भव है और यह नित्य सदा एकरूप अर्थात् इसका वृद्धि रूप विकार नहीं है और यह शाश्वत अर्थात् क्षयरहित है और पुराण अर्थात् इसका परिणाम नहीं है परिणाम कहते बदलने को अर्थात् रूपान्तर होने को आत्मा पुरातन होके भी देहके साथ नयासा होता दीखै है देखो शरीर संयोग मे परिणत होके भी रूपान्तर को प्राप्त नहीं होता है ज्योंका त्योंही रहता और भी कहते कि पहले नही था अब भया और बढता है यह कुछ बात भी आत्मा मे नहीं है इस अर्थमे भी वृद्धिरूप विकार रहित होता है इस विषयमे अज औनित्य ये दोनो शब्दोंके रहनेसे और कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है इसीप्रकार आत्मा का जन्म विद्यमानता वृद्धि परिणाम अपक्षय कहे घटना औ विनाश ये छ विकारो का अभाव सांख्य शास्त्रमे निर्णय किया है अब जो बाकी रहा सो कहते है कि शरीर हत होनेसे भी आत्मा हत नही होता जिस हेतु वह अविनाशी है ॥२०॥ पूर्व श्लोकमे आत्माको षडविकार रहित कहा है इससे आत्मा हनन क्रिया जो मारना तिसका कर्त्ता कहे करने वाला नही है यह बात अच्छी प्रकार से सिद्ध भई सोई भगवान कहते है कि जो कोई इस आत्माको घटने बढने से रहित तथा जन्म हीन औ अविनाशी जानते है हे अर्जुन वे किस वास्ते किसी को मारेंगे कारण यह कि आत्मा जो अविनाशी उसके वध की उपाय कोई नही है और आप प्रेरणा करि और किसी से किसी को भी किस लिये घात करावे गा इस कहने से श्रीकृष्णजी की यह अभिप्राय जानी गई कि भीष्म आदिके वधमे प्रयो जक कहे प्रेरक रूप दोष हमे कभी न दीजो अर्थात् तुमारे कहने से यह काम हमने किया है ऐसी कभी कहियो नही ॥ २१ ॥ जो कहो कि आत्मा अविनाशी भी होय पर तौ भी उस की इस स्थूल देह का नाश देख कर हम शोच करते है तो देखो जैसे मनुष्य जीर्ण कहे पुराने वस्त्र परित्याग कहे उतार कर और नये कपडे धारण करते अर्थात् पहिरते है तैसे ही आत्मा पूर्व प्राचीन शरीर कहे देह को छोड कर और नूतन कहे नई देह ग्रहण करता है इस से कर्म के अनु

॥२१॥ वासांसिजीर्णानियथाविहायनवानिगृह्णातिनरोऽपराणि। तथाशरीराणि विहायजीर्णान्यन्यानिसंयातिनवानिदेही॥ २२ ॥ नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणिनैनंदहति पावकः। नचैनंक्लेदयन्त्यापोनशोषयतिमारुतः॥ २३ ॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम क्लेद्योऽशोष्यएवच। नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोऽयंसनातनः॥२४ ॥ अव्यक्तोऽयम चिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवंविदित्वैनंनानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥ अथ

भाषा अनुवाद

सार देहका अवश्य होनहार जो जन्म औ नाश तिस से शोच करना तुम ऐसों पण्डित को उचित नहीं हैं॥ २२॥ अब २१ श्लोकमे कहा जो आत्माके वधके साधनका अभाव कहे निरूपाय अर्थात् किसी प्रकार से आत्मा का वध नहीं हो सकता है यह देखाय करि अब आत्मा अविनाशी है इस बातको दृढ़ करते हैं कि सकल शस्त्र शस्त्र इस आत्मा को छेदन नहीं करि सकते और अग्नि भी इस को दग्ध करने को समर्थ नहीं है जल इस को आर्द्र कहे गीला नहीं करि सकता और वायु भी इस को सुखाय नही सकती है क्योंकि यह अवयव कहे अंश रहित हैं और इन सब की सामर्थ्य अवयव सहित मे है अर्थात् भौतिक कहे पञ्चभूत निर्म्मित वस्तुमेहै ॥२३॥ इसका कारण यह कि आत्मा अस्त्रशस्त्र से छिन्नभिन्न किं या आगसे दग्ध और जलसे आर्द्र और वायुसे सूखभी नही सकता है इसी से आत्मा नित्य औ अविनाशी तथा सर्व्वत्र विद्यमान है और स्थिरस्वभाव अचल अनादिहै ॥२४॥ और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् चक्षुरादि कर्म्मइन्द्रियों का विषय नहीं है यह बात भी कहचुके हैं और अचिन्त्य अर्थात् मनकोभी अगम्य कहे ध्यान से बाहरहैं और अविकारी अर्थात् जन्मनाश अथवा छोटा बड़ा नया पुराना होना अथवा किसी रूपमे बदलना भी नहीं इसकाहै ऐसे ही तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं इससे जन्म नाश शून्य कहे रहित आत्माके स्वरूप को अच्छी तरह से जान बूझ कर तुम इस झूठे शोक संताप को परित्याग करो ॥ २५॥ और विचार करि देखो जबकि आत्माके जन्म तथा नाश का अभाव है तौ फेरि आत्मा के अर्थ शोक करना किसी प्रकार उचित नहीं है यह बात निर्धार करके ठहराई गई है अब जो देह के जन्म औ नाशसे आत्मा का जन्मनाश है कदाचित ऐसा अशौ

चैनंनित्यजातंनित्यंवामन्यसेमृतं। तथापित्वंमहावाहोनैवंशोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्यहिध्रुवोमृत्युर्ध्रुवंजन्ममृतस्यच। तस्मादपरिहार्य्येऽर्थेनत्वंशोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनिभूतानिव्यक्तमध्यानिभारत। अव्यक्तनिधानान्येवतत्रकापरिदेवनः ॥

भाषा अनुवाद

कार करि मानो तौभी तुमको शोच करना अनुचित है यह कहते हैं कि पुण्यऔ पाप तथा तिन के फल सुख दुख औ जन्म नाश इन सब का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहनेसे यद्यपि देहके जन्म होनेसे आत्मा का जन्म और देहके नाशसे आत्मा का नाश है इस रीतिसे उसके जन्मनाश को नित्य मानो पर तौभी जन्म नाश अवश्यं भावी अर्थात् निश्चय होने वाला ही है फेरिभी उसके अर्थ तुम को शोचना क्या योग्य है नहीं है ॥ २६ ॥ काहेसे शोचना योग्य नहीं है इसका हेतु कहते हैं कि जिसलिये जो वस्तु जन्म ग्रहण करती है उसके आरब्ध कर्म्म के क्षय होनेसे निश्चय उसकी मृत्यु अर्थात् नाशहोताहै वैसेही मरेकाभी पूर्व्व देहकृत कर्म्मवशते फेर अवश्यही जन्म होताहै इसीसे एवंभूत अनिवार्य्य कहे अमेट अवश्यभावी कहे होने वाले जन्म औ मरणके विषयमे तुमको शोच करना तुमको किसीतरह योग्य होतानहीं क्योंकि तुम विद्वान कहे पण्डित हौउ पण्डितका अर्थ यहहै कि सत अ सत्की विवेकिनी कहे विचार करनेवालीबुद्धिकोपण्डाकहतेहैं सो जिसके होयसो पण्डित है आत्मासे भिन्नजो कुछहै सो असत्जानो सत एक आत्माहीं है ॥२७॥ और जो कहो कि देहादि का स्वभाव जो जन्म मरण आदि तदुपाधिक आत्माका जन्म मरण विचारि करि हम शोचते है तौभी शोच करना तुमको न चाहिये इस पर भगवान कहते हैं कि अव्यक्तादि अर्थात् अव्यक्त कहे प्राणियो की उत्पत्ति का मूल कारण जो प्रकृति माया सो प्राणियोकी उत्पत्तिके पूर्व्वकारणरूपसे सब जीवों को अपने भीतर लीन कर के अव्यक्त कहे अप्रकट रहती है और व्यक्त मध्य अर्थात् जन्म मरणके मध्यमे सकल प्राणी वर्त्तमान अवस्था मे विराजमान रहते हैं और अव्यक्त निधन अर्थात् अन्त मे स्वकारण जो माया तिसमे सब प्राणी लीन हो के रहते हैं इस से हे अर्जुन ऐसे रहनेवाले प्राणियोंकी मृत्युसे किसीतरह शोच करना न चाहिये जैसे जगे हुये मनुष्य को स्वप्न मे देखी भई वस्तु के अर्थ शोचा

२८॥ आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदतितथैवचान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोतिश्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित्॥ १०॥ देहीनित्यमवध्योऽयंदेहेसर्व्वस्यभारत। तस्मात्सर्व्वाणिभूतानिनत्वंशोचितुमर्हसि॥ ३०॥ स्वधर्ममपिचावेक्ष्यनविकम्पितुम

भाषा अनुवाद

करना अयोग्य है तैसे यह भी जानो॥ २८॥ तौ फेरि बडे विद्वान लोग जो शोक करते चले आते है सो केवल आत्मा विषयक अज्ञानता ही से होता इस अभिप्राय मे आत्मा की दुर्ज्ञेयता कहे ज्ञान कठिनता का निरूपण करते है कि कोई तो शास्त्र आलोचना करिके इस आत्मा को जानि बूझके भी आश्चर्य ऐसा जानते अर्थात् सर्व्वगत नित्य ज्ञान औ आनन्दस्वरूप आत्मा के अलौकित्व हेतु से असम्भव जो इन्द्रजालिक कौतुक तिस के समान देखि आश्चर्य से घवडाय कर विस्मययुक्त होते है और कोई आश्चर्य केनांई कहते कोई आश्चर्य के तुल्य सुनते और कोई आत्मज्ञानरूप विपरीत कहे उलटी भावनासे अभिभूत होके इस आत्मा का तत्त्व सुनि के भी जानि सकते नहीं अर्थात् बहुत देखि सुनि के भी अच्छी तरह से आत्मा का जानना अति कठिन है॥ २९॥ इस प्रकार आत्मा का दुर्विज्ञेय स्वभाव अर्थात् बडे कष्टसे भी उसका जानना कठिन है यह संक्षेप से उपदेश करि के अब शोक न करना इस विषयमे कहते है कि जैसे सब प्राणियोंकी नश्वर कहे नाश होनेवाली देह मे वर्त्तमान यह देही कहे आत्मा सो देह नाश होने से भी नष्ट नही होता है क्यो कि आत्मा नित्य औ अवध्य है इसी से भूत जो प्राणी तिन की देह नाश के अर्थ तुम को शोक करना उचित नही है॥ ३०॥ प्रथम अध्याय के २९ श्लोकमे अर्जुनने कहा है कि हमारी शरीर कांपती औ रोवां खडे होते तथा हाथसे धनुष बाण गिरे पडते है सो यहभी तुमको अयोग्य असम्भव है जिस हेतु स्वधर्म जो संग्राम तिसमे प्रवृत्त हो के फेरि भीष्मपितामह आदि के हनन करने से अविनाशी आत्मा का विनाश मानि तुमारा डरना औ कांपना यह युक्तिसे सिद्ध होता नही और३१ श्लोकमे कहा है कि ये अपने जनोंको नाश करि के हम श्रेय कहे कल्यान नही देखते उस बात पर भगवान कहते है कि धर्म युक्त जो न्याय युद्ध तिसकी अपेक्षा अर्थात् उससे बढि कर क्षत्रियोको और कौन कल्याण

र्हसि। धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्यनविद्यते ॥ ३१ ॥ यदृच्छयाचोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतं। सुखिनःक्षत्रियाःपार्थलभन्तेयुद्धमीदृशं ॥ ३२ ॥ अथचेत्त्वमिमं धर्म्यंसंग्रामंनकरिष्यसि। ततःस्वधर्मंकीर्त्तिञ्चहित्वापापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ अकी

भाषा अनुवाद

करनेवाला कर्म है अर्थात् कोई भी नहीं है ॥३१॥ और जो कहो कि गुरू आदि अनेक प्राणियोंकी हिंसायुद्धमें होयगी औ शास्त्रमें अहिंसा परमधर्म कहा है इससे युद्ध करना अति अनुचित है इसपर श्रीकृष्ण कहते कि जैसे वेद विहित जो यज्ञमें हिंसा सो हिंसा नहीं है तैसे ही शास्त्रसम्मत जो क्षत्री का परम धर्म युद्ध तिसमें हिंसा औ पापकी कल्पना वृथा करते हो और परम श्रेयरूप महाफल आपसे आप आय तुम को उपस्थित कहे प्राप्त भया है इस से अब तुम किस कारण काम्यमान होते हो सोइ यह दृढकरके कहतेहै कि हे अर्जुन वे मांगे वेयतन किये आप से प्राप्त परमश्रेय कहे कल्याण साधन युद्ध जिससे परम कल्याण सिद्ध होय ऐसा युद्ध अति भाग्यवान क्षत्री लोग पावतेहैं क्योंकि इस से स्वर्गका द्वार वेरोक टोंक खुला रहता है अथवा जो इस प्रकार का युद्ध पावें सोई सुखी है इस श्लोक से प्रथम अध्याय का छत्तीसवां श्लोक कहा गया कि किस तरह आत्मीयजनोंको नाश करि सुखी होयगे इसी बात का भगवानने उत्तर दिया है ॥ ३२ ॥ और जो यह स्व धर्म रूप संग्राम न करोगे तो केवल फल प्राप्ति न होगी यही नहीं है और उलटा प्रत्यवाय कहे अधर्म भी होगा सोई दोष कहते हैं कि जो तुम इस धर्म जनक उपस्थित कहे प्राप्त भये युद्ध करने मे प्रवृत्त न होउगे तो तुम अपने धर्म औ कीर्त्तिके त्याग करनेसे अवश्य पाप के भागी होउगे इसमें कुछ सन्देह नहीं हैं ॥ ३३ ॥ और जो कहो कि स्वधर्म औ कीर्त्ति जाय हम हिंसा न करेंगे तौ युद्ध न करने से केवल स्वधर्म औ कीर्त्ति ही का त्याग नही हैं और भी है सो कहते हैं कि युद्ध छोडने से लोग तुमारा अयश कहेंगे और वह अयश चिरकाल कहे बहुत दिनो तक संसार मे रहेगा और तुम क्षत्रियोंके बीच युद्ध करने मे प्रसिद्ध वीर हौ देखो जो जिसवातमे ख्यात कहे नामीहैं और लोग उसको प्रतिठित बडा करि जानते मानतेहै तो फेरि उसका उसी वातमे अयश यह मरनेसे भी अधिक

र्त्तिञ्चापिभूतानिकथयिष्यन्तितेऽव्ययां । सम्भावितस्यचाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
३४ ॥ भयाद्रणादुपरतंमंस्यन्तेत्वांमहारथाः । येषाञ्चत्वंबहुमतोभूत्वायास्यसि
लाघवं ॥ ३५ ॥ अवाच्यवादांश्चबहून्वदिष्यन्तितवाहिताः । निन्दन्तस्तवसामर्थ्यं
ततोदुःखतरंनुकिं ॥ ३६ ॥ हतोवाप्राप्स्यसिस्वर्गंजित्वावाभोक्ष्यसेमहीं । तस्माद्,

भाषा अनुवाद

हैं और सब पाप औ दोषों का दाता है इस को अच्छी तरह विचार कर देखो ॥
३४ ॥ भगवान कहते हैं कि अर्जुन तुम को अब युद्ध करना ही उचित है क्यों
कि तुम तो यह जानते हौ कि प्राणियों के ऊपर दया करि हम संग्राम छोड़ते
पर महारथी वीर तुम को भयसे युद्ध विमुख मानैंगे जो तुम को पूर्व काहे पहिले
सकल गुण सम्पन्न करके युक्त जानते थे वे लोग अब तुम को कारण आदिक योद्धों
के भय से युद्ध विमुख मानैंगे देखो जिन दुर्य्योधन आदिकों को तुम बहुमत करके
मान्य रहे उनके निकट अब तुम कैसे लघु करके हलके होउगें तो इस हंसीके डर
से युद्ध करना तुमको अवश्य हैं ॥ ३५ ॥ इस से अब तुम युद्ध से निवृत्त न होउ
और जो कहो कि भीष्म तथा द्रोण आदिका वध बड़ा कष्ट है तो देखो तुमारे शत्रु
गण तुमारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुये तुमारे प्रति अनेक अनेक अयोग्य दुर्वचन
कहेंगे तो इस से और दुख कौन हैं यह कष्ट से भी महा कष्ट हैं ॥ ३६ ॥
तो युद्धकरि गुरूआदिके वधसे निन्दाहोगी औ संग्राम छोड़नेसे शत्रु निन्दा करैंगे
इस दुविधा चिन्ता के ऊपर कहते हैं और दूसरे अध्याय के छठयें श्लोक मे जो
अर्जुन ने कहा कि इन को हम मारैं या येई हमै जय करि लेंय इसका भी उत्तर
श्रीकृष्ण करते हैं कि जय करेंगे या पराजय पावेंगे इसको निश्चय करिके अब तुम
उठो जो कहो कि इस दैव आधीन जयपराजयका क्या निश्चयहै तो इस युद्धमे जो
तुमारी मृत्यु होयगी तो स्वर्गवास पावोगे और जो शत्रुवों को जीतोगे तो पृथिवी
का राज्य औ भोग करोगे तिससे हे कौन्तेय अर्जुन युद्ध करने की निश्चय करिके
उठो तुमारेतो दोनोंहाथ लड्डूआहैं ॥३७॥ जो कदाचित बन्धुवधहेतुक पापही की
निश्चयकरि रासेहउसके डरसे युद्धमे निश्चयकरिके नही उठि सकते हो यह
कहो तो सुहृद मित्रोंके जीवन और मरणनिमित्तक सुख औ दुखकी समता कहते हैं

त्तिष्ठकौन्तेययुद्धायकृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥ सुखदुःखेसमेकृत्वालाभालाभौजयाजयौ। ततोयुद्धाययुज्यस्वनैवंपापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥ एषा तेऽभिहितासांख्येबुद्धिर्योगे त्विमांशृणु। बुद्ध्यायुक्तोययापार्थकर्मबन्धंप्रहास्यसि ॥ ३९ ॥ नेहाभिक्रमनाशो

भाषा अनुवाद

कि प्रथम सुख औ दुख तथा लाभ औ हानि जय पराजय इनकोसमान जानिकरि औ प्रीति विरोध को भी त्याग करि के तव युद्ध मे प्रवृत्त होउ इस प्रकार से युद्ध करने से पाप न प्राप्त होयगा अर्थात् न लगेगा ॥ ३८ ॥ पूर्व कथित जो ज्ञान योग उस को कहि करि अब उस का साधन जो कर्मयोग सो कहते हैं कि वस्तु औ तत्त्व को प्रकाश करनेवाला सांख्य नामक तत्त्वज्ञान तुम से कहा गया अर्थात् तत्त्वज्ञानके विषयमे जो बुद्धि सो मैने तुमको कहाहै इससे जो तुमारे मनमे तत्त्व ज्ञानका बोध न भयाहोय तो फिरि चित्तसुद्धिके द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्नहोनेकेअर्थ अब यह कर्मयोग अर्थात् कर्मयोग के विषय की बुद्धि हम कहते है सो सावधान हो कर सुनोकि हे अर्जुन जिस हेतुसे ईश्वरार्पित कर्मके द्वारा चित्त की शुद्धि हो कर ईश्वर के प्रसाद से प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करि अर्थात् पाय करि इस बन्धन से अनायास अर्थात् सहजमे छूटि जाउगे ॥ ३९ ॥ और जो कहो कि जैसे खेती औ वनिज वैपार आदि कर्मों मे कदाचित् कहे कभूं कभूं विघ्नो की बाहुल्य कहे वहुतायत से फल के हानि की भी सम्भावना है अर्थात् निष्फल परिश्रम भी होता है और मन्त्र अनुष्ठान कहे जप यज्ञ आदिक मे भी विघ्न अथवा अङ्ग विकल होने से प्रत्यवाय कहे दोष औ कर्म निष्फल होता है तैसे जो यह कर्म जो विघ्नो के मारे पूरा न हो उठै तौ कैसे कर्मबन्ध की हानि कहे नाश होगा औंर उलटे दोष लगने का डर है इसवास्ते भगवान कहते हैं कि यह निष्काम कर्मयोग का आरम्भ करने से जो पूरा न भी हो उठै तौ भी निष्काम कर्म निष्फल होता नही और इसमे दोष पाप भी नहीं लगता है जिस हेतु ईश्वर को उद्देश्य करि अर्थात् ईश्वर के अर्थ किये कर्म मे विघ्न होते ही नहीं और ईश्वराराधन के अर्थ इस धर्म के थोडे आचरण से भी वडे भयानक संसार से रक्षा होती है अर्थात् ईश्वरार्पित कर्म रक्षा करता है इस से यह काम्यकर्म की तरह कुछ अङ्ग विकल होने से भी

ऽस्तिप्रत्यवायोनविद्यते। स्वल्पमप्यस्यधर्मस्यत्रायतेमहतोभयात्॥ ४०॥ व्यवसा
यात्मिकाबुद्धिरेकेहकुरुनन्दन। बहुशाखाह्यनन्ताश्चबुद्धयोऽव्यवसायिनां॥ ४१॥
यामिमांपुष्पितांवाचंप्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताःपार्थनान्यदस्तीतिवादिनः॥

भाषा अनुवाद

निष्फल नहीं होता है तात्पर्य्य यह कि ईश्वरार्थ कर्म करने से जो दोष न लगे और महत् फलहै तो साक्षात् ईश्वर की आज्ञा करनेमे और क्या कहनाहै ॥४०॥ जो कहो कि कणाद आदि आचर्य्यों के मत मे ज्ञान कर्म उपासना रूप अनेक प्रकार की बुद्धि कही हैं और आप जहां ज्ञानयोग रूप औ कर्मरूप दोही प्रकार बुद्धि के कहा सो कैसे सम्भव होय इस अभिप्राय पर उक्त इन दोनो के भी विप रीत कहे उलटा भिन्न प्रकार कहते है कि हे कुरुनन्दन अर्जुन यह ईश्वर आरा धन रूप कर्मयोगमे व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् मद्भक्तिके द्वारा अवश्य ही उद्धार होगा ऐसी निश्चयात्मिका कहे निश्चयरूप बुद्धि की निष्ठा एक ही हैं और अव्यव सायी अर्थात् आराधन के वहिर्मुख कामी कहे सकाम कर्म करनेवालो की अनन्त वासना से अनेक प्रकार की बुद्धि होती है और उस मे भी कर्मका फल और अश्व मेध राजसूय आदि यज्ञ का अङ्ग दिग्विजय की भांति गुण काला आदि नाना प्रकार बहुत शाखा प्रशाखा विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है परन्तु भगवत् आरा धन के अर्थ नित्यकर्म या नैमित्तिक कर्म तुछ अङ्ग विकल कहे अधूरा भी होने से नष्ट नही जाता हैं यथासाध्य कहे जितना या जैसा अपने से हो सके उतना और वैसाही करो यही उस धर्म की विधि है ईश्वरार्पित कर्म विघ्न औ दोष को शान्त करि देता इस से उस के करने मे कदाचित वैगुण्य नही होती अर्थात् उस को विगुण नही कह सकते हैं और काम्यकर्म तैसा नही है इस से दोनो के बीच बडा अन्तर है सो एक बुद्धि को के रहो दुबिधा मन से दूर करो ॥४१॥ जो कहो कि सांख्ययोग रूप बुद्धि एक ही प्रमाणभूत है तो फेरि यही सब के चित्त मे क्यो नही स्थिर होती अर्थात् जो सकाम मनुष्य हैं वे भी ये कष्ट रूप सकल कामना त्याग करि भगवद्भक्ति ही से मुक्त होवगे ऐसी निश्चयरूप बुद्धि काहे से नही करते है तिस पर कहते हैं कि विपश्चिता कहे इन्द्रायन की तरह

४२ ॥ कर्मात्मानःस्वर्गपराजन्मकर्मफलप्रदां । क्रियाविशेषबहुलांभोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानांतयापहृतचेतसां । व्यवसायात्मिकाबुद्धिःसमा

भाषा अनुवाद

अति सुन्दर यह जो उत्तम,स्वर्ग आदि फल सुनावनेवाली श्रुति कहे जो वेदवाक्य हैं जिस को कामी कहे सकाम मनुष्य सब कहते है सोई स्वर्ग आदि फल श्रुति रूप वेदवाक्य से विचार शून्य मनुष्यों को अर्थात् उस पर विश्वास करनेवालों को भगवद्भक्ति से निश्चय मुक्त होंयगे ऐसी बुद्धि उत्पन्न कभी नहीं होती है इस स्लोक के आगेवाले तीन स्लोकोके साथ इस स्लोक की अन्वय है जो कहो कि वे मनुष्य ऐसे काहे लिये कहते है तो उनका सिद्धान्त भगवान कहते है कि जिस लिये वे सब लोग अति मूढ औ अज्ञानी है उन के अज्ञानमे अब हेतु कहते है कि वेदके बीच मे जो सब वाक्य है सो केवल प्रशंसा परक है अर्थात् चतुर्मासया जीयों को अक्षय स्वर्गफल होता है और यज्ञके शेष मे सोमलता पी करि अमर होते है इत्यादि जो पलास पुष्प के समान पुष्पित वेदवाक्य है अर्थात् निर्गन्ध फूल के तुल्य इनी वेदवाक्योसे काम्य कर्ममे वेलोग निरत है इससे कहते है कि यह वेदोक्त स्वर्ग आदि फल को छोड कर और ईश्वरतत्त्व प्राप्त करने योग्य वस्तु कुछ नहीं है इसी मतको वेलोग कहते है ॥४२॥ अतएव कामात्मा कहे कर्मबुद्धि स्वर्गादि फल प्राप्तिरूप कामना ही है परम पुरुषार्थ जिन के मत मे ऐसे जो मूढ है तेई जन्म कर्म तथा स्वर्ग फल देनेवाली जो वेदवाक्य सब है और भोग ऐश्वर्य प्राप्त होने के अर्थ साधनभूत जो वेदोक्त कहे वेदविहित अनेक अनेक क्रियों की आधिक्य कहे बहुलायत है जिन से मूढजन ऐसे वचन वोलते है अर्थात् जन्म ही है कर्म का फल तिंस के देनेवाली वाक्यों को कहते है ॥ ४३ ॥ भोग औ ऐश्वर्य्य से आसक्त तथा ऊपर लिखी विषलता के तुल्य सुन्दर वेदवाक्य से आक्रष्ट कहे खैंचा गया है चित्त जिन का उनकी समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रतारूप परमेश्वर मे जो एक निष्ठा तिसमे निश्चयात्मिकाबुद्धि होती नहीं इससे कर्मरूप जो बुद्धि उस मे कर्त्ता स्वरूप अहङ्कार अर्थात् हम कर्त्ता है इस वासना के मारे उन विचारोंको ऐसी एकनिष्ठा निश्चयात्मिका बुद्धि आपसे आप उत्पन्न कैसे होय यह भगवानने कहा

धौनविधीयते ॥ ४४ ॥ त्रैगुण्यविषयावेदानिस्त्रैगुण्योभवार्जुन । निर्द्वन्द्वोनित्यस
त्त्वस्थोनिर्योगक्षेमआत्मवान् ॥ ४५ ॥ यावानर्थउदपानेसर्वतःसंप्लुतोदके । तावान्
सर्वेषुवेदेषुब्राह्मणस्यविजानतः ॥ ४६ ॥ कर्मण्येवाधिकारस्तेमाफलेषुकदाचन ।

भाषा अनुवाद

॥ ४४ ॥ स्वर्ग आदि फल जो परम फल नहीं है तौ फेरि वेदों ने किस लिये स्वर्ग आदि फल के साधन नाना प्रकार के कर्मों का विधान किया है तौ कहते हैं कि सकाम अधिकारी जनो के अर्थ वेद कर्मफल का प्रतिपादन अर्थात् कहते हैं परन्तु तुम निष्काम होउ निष्काम होने की उपाय यह है कि निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख दुःख शीत उष्ण हानि लाभ जन्म मरण आदि से रहित होउ अर्थात् ये सब सहो जो कहो कि कैसे इनको सहै तो कहते हैं कि धैर्य अवलम्बन करि के सहो और अप्राप्त वस्तु को प्राप्ति करने की इच्छा जो योग है औ प्राप्त भई वस्तु की रक्षा करना जो क्षेम है इन दूनो को परित्याग करि के सावधान होउ क्यों कि सुख दुख मे आसक्त औ अप्राप्त वस्तु की इच्छा प्राप्त का रक्षण इस मे व्याकुलचित्त असावधान जो है वह निष्काम कैसे हो सकेगा त्रैगुण्य जो त्रिगुणात्मक संसार सो है विषय कहे कथनीय जिनको ऐसे तो वेद है पर तुम निस्त्रैगुण्य कहे सांसारिक भाव सुख दुःखादि से रहित होउ ॥ ४५ ॥ जो कहो कि वेदोक्त कर्म औ तत्तत् कामनाके फल सकल त्याग करिके निष्काम ईश्वराराधनके अर्थ जो व्यवसायात्मिका बुद्धि सो कुबुद्धि है इस शङ्का को निवारण करते हुये भगवान कहते हैं कि जिस से जल पान किया जाय सो उदपान अर्थात् बावडी कुआ ताल तिन से जो अल्प जल हो तो सब काम साधने के अर्थ अर्थात् स्नान पान आदि करने के वास्ते तहां तहां भ्रमण करिके सब काम सिद्ध होयंगे परन्तु संप्लुतोदक कहे एक महा कुण्ड जिस मे अगाध जल भरा है उस एक ही से सब निर्बाह हो सकते हैं तैसे ही वेदोक्त जो कर्मके फल सो सब भगवद्भक्तियुक्त ब्रह्मपरायण पुरुष की भक्ति ही से मिलते हैं देखो ये स्वर्ग आदि सम्पूर्ण तुच्छ सुख ब्रह्मानन्द के भीतर ही अन्तरभूत हैं इस ब्रह्मानन्द के कणामात्र आनन्द को प्राप्त हो के सर्व प्राणी जीते रहते हैं यह श्रुतिमे कहाहै इससे निश्चयात्मिका जो बुद्धि सोई सुबुद्धि है ॥४६॥

माकर्मफलहेतुर्भूर्मातेसङ्गोस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥ योगस्थःकुरुकर्माणिसङ्गंत्यक्त्वाधन
ञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वासमत्वंयोगउच्यते ॥४८॥ दूरेणह्यवरंकर्मबुद्धियोगा

भाषा अनुवाद

जो ऐसा कहतेहो कि समस्त कर्म का फल परमेश्वरकी आराधना करने हीसे होगा तो हम भगवतका आराधनहीं सब छोड़कर करैं और कर्म करनेसे क्या प्रयोजन है इस शङ्काको निवारण करते हुये सिद्धान्त कहते है कि तत्त्वज्ञानके अर्थी जो तुम सो तुमको कर्ममात्र करने का अधिकार है और बन्धन का हेतुभूत कर्म के फलकी अभिलाषा करिके ये अनेक प्रकार की कामना करनेमें कभी तुमारा अधिकार नहीं है जो कहोकि कर्म करनेसे उसका फल अवश्य होहीगा जैसे कि आहार करनेसे तृप्ति होती ही है इसपर कहते हैं कि सो होय पर उसका पुण्य पाप नहीं लगता है जैसे अज्ञान बालक जो नीचका अन्न खाय तो उसका धर्म न जाय क्योंकि धर्म नाश के अर्थ नहीं खाया सो तुम फलके अर्थ कर्म मे प्रवृत्त न होउ निष्काम कर्म करो जो कर्मफलकी तृष्णासे कर्म करोगे तो कर्मफल प्राप्तिके हेतु होउगे जब फल की इच्छासे कर्म मे मनुष्य प्रवृत्त होता है तब फल औ जन्म दोनोका हेतु हो जाताहै नीच ऊंच योनिमे जनमिजनमिके फल भोगता है और जो कर्मफल को न चाहे तो दुःखरूप कर्म करने से क्या प्रयोजन है ऐसी मतिभी तुमको मति होय अर्थात् न करनेमे भी रुचि न होय तात्पर्य यह कि सकाम कर्म न करो निष्काम तो अवश्यही करो ॥ ४७ ॥ तो फिरि क्या करना चाहिये सो कहते हैं कि हे धनञ्जय अर्जुन योग कहे ईश्वर मे जो एक निष्ठा उसी मे स्थित होयके कर्म करो और हमी इसके कर्त्ता हैं ऐसे अभिमानको त्याग करिके केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करो अर्थात् निष्काम कर्मका फलरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अप्राप्तिमे समता पूर्वक कहे समचित्त होय केवल ईश्वरार्पण जानिके कर्मअनुष्ठान करो जिसहेतु ऐसी ही समता को साधुलोग योग कहते है क्योंकि इसी से चित्त स्थिर होता हैं यह सुबोधिनीका अर्थ है। ईश्वरार्पण शब्दका भाव अर्थ यह है कि हम अपने हृदय मे टिके हुये अन्तर्यामी रूप परमेश्वर के आधीन हैं वही अन्तर्यामी हमारी वासना के अनुसार शुभ अशुभ जिस कर्म मे हमको लगावते उसी

धनञ्जय । बुद्धौशरणमन्विच्छकृपणाःफलहेतवः ॥४९॥ बुद्धियुक्तोजहातीहउभेसु कृतदुष्कृते । तस्मात्योगाययुज्यस्वयोग.कर्मसुकौशलं ॥ ५० ॥ कर्मजंबुद्धियुक्ता हिफलंत्यक्त्वामनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताःपदंगच्छन्त्यनामयं ॥ ५१ ॥ यदाते

भाषा अनुवाद

को हम उनकी प्रेरणा से करते हैं ऐसे विचारकर किये हुये सब कर्मों को भग वत अर्पण कहते हैं सोई पञ्चदशी मे कहा है कि जानामिधर्मंनचमेप्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मंनचमेनिवृत्तिः । त्वयाहृषीकेशहृदिस्थितेनयथानियुक्तोस्मितथाकरोमि ॥४८॥ जितने काम्य कर्म हैं सब को निकृष्ट कहे नकारे कहते हैं व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा किये जो कर्मयोग उनका नाम बुद्धियोग और वह ज्ञान साधन का उपाय है निष्काम बुद्धियोग की अपेक्षा सब काम्यकर्म अत्यन्त अपकृष्ट जो काम्य कर्म ऐसा तुच्छ ठहरे तो हे धनञ्जय बुद्धिशब्द वाच्य कहे ज्ञान तिसको आश्रय करि निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोगका अनुष्ठान करो चिन्तनीय पालनकरनेवाले ईश्वर ही को बुद्धिका आश्रय करो कर्मफलके अभिलाषी जो नर हैं सो कृपण औ दीन हैं श्रुतिमे भी यही कहा है कि हे गार्गि ईस अक्षर स्वरूप ब्रह्मको न जानि जो संसार मे लोकान्तरगामी होते हैं वेई कृपण अर्थात् निकृष्ट हैं इस से बुद्धि कहे ज्ञान उसमे आश्रय लेउ ॥ ४९ ॥ पूर्व जो कहा कि सुख दुख आदि से समान बुद्धि होकर स्वधर्म को करै तो बुद्धियोगयुक्त होने से क्या होता है सोई बुद्धियोग की श्रेष्ठता कहते हैं कि सुकृत जो पुण्य स्वर्ग आदि का देनहार औ दुःकृतजो पाप नरकवासकी प्राप्ति करनेका साधन इनदोनोंको बुद्धियोगयुक्त पुरुष इसी जन्म मे भगवत् की कृपामे परित्याग करते हैं तिससे हे अर्जुन तुम बुद्धियोग रूप निष्काम कर्म करो जिससे योग कर्मके बीच मे कौशल कहे चातुर्य है अर्थात् सकल कर्म बन्धन होने के कारण हैं तौ भी ईश्वर की आराधना से मुक्ति प्राप्ति करना चातुर्य है इसी को योग कहते सो बुद्धियोगयुक्त तुम होउ ॥५०॥ सुख दुख आदिमे समता युक्त भी भये और सुकृत दुःकृत कर्मके फलको परित्याग किये भी अर्थात् नि.काम कर्म किये से भी फेरि मोक्ष कैसे होगी इस शङ्कापर कर्मको मोक्षको साधनता है यह कहते कि कर्मके फल की अभिलाष छोड करिके केवल

मोहकलिलंबुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदागन्तासिनिर्वेदंश्रोतव्यस्यश्रुतस्यच॥ ५२॥ श्रुतिविप्रतिपन्नातेयदास्थास्यतिनिश्चला। समाधावचलाबुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसि॥ ५३॥ अर्जुनउवाच। स्थितप्रज्ञस्यकाभाषासमाधिस्थस्यकेशव। स्थितधीःकिंप्रभाषेतकिमासीतव्रजेतकिं॥ ५४॥ श्रीभगवानुवाच। प्रजहातियदाकामान्सर्वान्

भाषा अनुवाद

ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हुये बुद्धिमान मनुष्य ज्ञानी होके जन्मरूप बन्धन से छूटि करि सकल उपद्रव से रहित जो विष्णुपद जिसको मोक्ष कहते तिस को सहजमे पावतेहैं॥५१॥ जो कहोकि कब हम उस विष्णुपदको पावेंगेतो दोश्लोकसे कहते हैं कि मोह जो देहादिक मे आत्मबुद्धि अर्थात् आत्मास्वरूप जो कुछ है सो देह है ऐसा जो दृढ़ विश्वास सोई दुरवगाह अज्ञान गहन वन है सो जब इस पूर्व कथितरूप परमेश्वर की आराधना करने से भगवत की कृपासे तुमारी बुद्धि देह अभिमानरूप मोहमय अगम्य कानन कहे वनके पार अच्छीतरह से होगी अर्थात् देहाभिमान छूटैगा तब विष्णुपदरूप मुक्ति प्राप्तिहोगी और जो अर्थ सुना चाहते हो और सुनिचुके हो तिस सब अर्थ मे वैराग्य उत्पन्न होगी अर्थात् वह सब तुच्छ कहे किसी कामका नहीं यह जानि सकोगे फेरि और उस बातको न पूछोगे॥ ५२॥ इसी प्रकार लौकिक कहे लोक की वार्त्ता औ वैदिक कहे वेद की बातैं अनेक प्रकार की श्रवण करते करते पूर्व से विक्षिप्त कहे भ्रमित जो तुमारीबुद्धि सो जब समाधि मे स्थिर होगी अर्थात् अच्छीतरह लगाया जाय चित जिसमे सोसमाधि कहे परमेश्वर तिसईश्वरमे और औरविषयोंको छोड़ि अभ्यास करते करते निपुण होय जब अचल रूपसे स्थिर होगी तब तुम योगका फल जो तत्त्वज्ञानं सोपावोगे॥५३॥ पूर्व श्लोक मे कहा जो आत्मतत्त्वज्ञानी का लक्षण उस के जानने की इच्छा करि अर्जुन पूछते हैं कि हे केशव अनायासलभ्य समाधि मे स्थित जो निश्चल बुद्धि स्थित प्रज्ञ पुरुष उसका क्या लक्षण है अर्थात् कैसे उसको जानैं तात्पर्य यह है कि कैसे लक्षण होने से किस आचरण से स्थिरप्रज्ञ होता हैं सोई पूछतेहैं कि ज्ञानी कैसे बोलते बैठते और कैसे चलते फिरते रहतेहैं॥५४॥ श्रीभगवान बोले कि हे अर्जुन सुनो जिनको साधक लोग ज्ञान साधन के निमित्त

पार्थमनोगतान्। आत्मन्येवात्मनातुष्टःस्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥ दुःखेष्वनुद्वि
ग्नमनाःसुखेषुविगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधःस्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥ यः
सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्यशुभाशुभं। नाभिनन्दतिनद्वेष्टितस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता॥५७॥
यदासंहरतेचायंकूर्मोऽङ्गानीवसर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता॥

भाषा अनुवाद

यत्नपूर्वक साधना करते हैं वेई सिद्धके स्वाभाविक कहे स्वभावसिद्ध लक्षण है इस मे अब सिद्धके लक्षण कहने के अनन्तर ज्ञानके साधन अध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं तिनमेसे प्रथम दो श्लोकसे पहिली प्रश्न का उत्तर करते हैं कि हे अर्जुन मुनिजन मनोगत सकल कामना जब अच्छीतरह से त्याग करते हैं कि अपने परम आनन्दरूप आत्मा मे जो रमै सो आत्माराम अर्थात् आप आपने आत्म सुख मे सन्तुष्ट होतेहैं तिससे जब क्षुद्र विषय अभिलाषको छोडतेहै तब उसी लक्षणसे मुनिजन स्थितप्रज्ञ कहेजातेहैं ॥५५॥ अब लक्षण कहनेके बहानेसे जिज्ञासु अर्जुन को और जो करना चहिये सो उपदेश करते है कि जिनका मन दुख पडने से उद्विग्न अर्थात् घबडाय नही और सकल सुखकी स्पृहा कहे इच्छा न करैं सुख दुख मे समान रहै सो वीतराग अर्थात् विषय प्रीति रहित एवं भय औ क्रोधशून्य स्थितप्रज्ञ कहे स्थिरबुद्धि मुनि कहावते है ॥५६॥ अर्जुन ने पूछाथा कि तत्त्वज्ञानी किस प्रकार से बात कहतेहै उस प्रश्न का उत्तर भगवान कहतेहै कि समस्त पुत्र मित्र धन धाम आदिक मे जिस को स्नेह कहे प्रीति नही है और शुभ प्राप्ति होने से सुखी औ अशुभ लाभ होने से दुखित भी न होय है अर्थात् स्तुति औ निन्दा मे राग द्वेष कहे प्रीति विरोध हीन है केवल उदास के समान अर्थात् उदासीन ऐसे हो बात करते है उनी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है वेई स्थिरबुद्धि मुनि है ॥ ५७ ॥ जिज्ञासु को और क्या करना योग्य है सो सूचन करावते कहते है कि और पूर्व कथित योगी जब इन्द्रियार्थ जो नानाप्रकारके विषय तिन से सर्व इन्द्रियोंको अनायास कहे सहजमे लौटावै अर्थात् फेरलेय इसमे दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे कूर्म कहे कछुआ अपने मुख कर चरण अनायास समेटि लेता है तैसेही योगी विषयों से इन्द्रियों को जब बटोर ले सकै तब उस ज्ञानी की बुद्धि स्थिर है ॥

५८ ॥ विषयाविनिवर्त्तन्तेनिराहारस्यदेहिनः । रसवर्ज्जंरसोप्यस्यपरंदृष्ट्वानिव
र्त्तते ॥ ५९ ॥ यततोह्यपिकौन्तेयपुरुषस्यविपश्चितः । इन्द्रियाणिप्रमाथीनिहर
न्तिप्रसभंमनः ॥ ६० ॥ तानिसर्व्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः । वशेहियस्येन्द्रि
याणितस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥६१॥ ध्यायतोविषयान्पुंसःसङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्

भाषा अनुवाद

५८ ॥ जो कहो कि इन्द्रियों की विषय मे अप्रवृत्ति होना यह स्थित प्रज्ञ का लक्षण न हो सकेगा क्यो कि जड आतुर औ उपवास करनेवाले मनुष्यों की इन्द्री भी विषय मे नहीं प्रवृत्त होती है तो इनसे औ ज्ञानी से फेरि क्या विशेष कहे अन्तर है इन को भी स्थिरबुद्धि मुनि कहना उचित है तिस पर कहते हैं कि हां आहार न करने से निराहार पुरुष को यद्यपि विषयों का इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता सत्य है पर तौ भी उसकी विषयों से अभिलाषा नहीं जाती अर्थात् विषय की वासना मन मे बनी रहती हैं और स्थित प्रज्ञ पुरुष के परमात्म दर्शन हेतु से विषय की लालसा निवृत्तहोजाती अर्थात् अच्छी तरहसे अभिलाष सहित विषयवासना नाशहोतीहै और जड आतुर जैसे विषयोंके अज्ञहैं तैसे आत्मा को भी नहीं जानते तो वे स्थिर बुद्धि कैसे हो सकते है और रस कहे राग जो प्रीति सो स्थित प्रज्ञ पुरुष की आप से आप निवृत्त होती है ॥५९॥ इन्द्रियों का संयम किये विना अर्थात् विषयों से रोकने के विना स्थित प्रज्ञा कहे परमात्मा मे अचल बुद्धि होती नही इस से प्रथम साधन की अवस्था मे इन्द्रीयों को स्वाधीन करने के अर्थ बडा यत्न करना चाहिये यह कहते है कि हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन अर्जुन मोक्ष के हेतु प्रयत्न करते हुये विवेकी विचारवान ज्ञानी पुरुष के भी मनको ये प्रबल प्रमाथी कहे क्षोभ करनेवाली इन्द्री हरण कर लेती हैं ॥ ६० ॥ इन्द्रियों को स्वाधीन करना यह कहि करि फेरि क्या करना उचित है सो कहते है कि तो सब इन्द्रीयों का संयम करिके युक्त योगी मेरे मे तत्पर हो रहे अर्थात् आत्मामे निष्ठाकरिके बैठ रहे यह कहि कर ज्ञानी कैसे स्थिति करते इस प्रश्नका उत्तर दिया अर्थात् जिसके इन्द्रीयगण वश है उस को प्रज्ञा कहे बुद्धि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर है ॥ ६१ ॥ बाह्यइन्द्रिय कहे बाहर की इन्द्रियों के वश न रहने

संजायतेकामःकामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥ क्रोधाद्भवतिसम्मोहःसम्मोहात्
स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥ रागद्वेषवियु
क्तैस्तुविषयानीन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

भाषा अनुवाद

मे जो दोष सो देखाय अब अवशीभूत जो मन तिस का दोष देखावते हैं कि बुद्धि के द्वारा रूपादिक विषयों को ध्यान करते हुये पुरुष का मन उन विषयों मे आसक्त होता अर्थात् विषय सङ्ग होता है और सङ्ग से अधिक अधिक कामना उत्पन्न होती हैं फेरि जो कामना किसी प्रकार से नष्ट होय तो क्रोध प्रगट होता है अर्थात् काम से क्रोध प्रगट होय है ॥ ६२ ॥ और क्रोध मोह का हेतु है इस को दृढ़ करते हैं कि क्रोध से अर्थात् उस के द्वारा मोह होता है अर्थात् काज अकाज का विचार नहीं रहता फेरि संमोह होने से शास्त्र औ आचार्य्य तथा गुरु का दिया जो उपदेश कहे शिक्षा अर्थ सो विचलित अर्थात् भूल जाय है और स्मृति भ्रंस होने से कहे उपदेश भूल जाने से बुद्धि की चेतनाशक्ति चली जाती है अर्थात् बुद्धि नष्ट होती है बुद्धि नाश होने से जड़ के समान होय फेरि वह मनुष्य मुर्दे की तुल्य हो कर नष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥ जो कहो कि चिरकालसे विषयमे निमग्न स्वभाव कहे विषय मे आसक्त इन्द्रियगण का विषय से रोकना जो असाध्य अति कठिन हैं तो पूर्व्वउक्त दोष निवारण कैसे हो सकैगा इस से स्थित प्रज्ञा होनाभी असम्भव कहे अति दुर्घट है इस शङ्का पर कहते हैं कि राग कहे प्रीति औ द्वेष जो विरोध तिनसे रहित होके अर्थात् इनको छोड़ के औ अभिमान त्याग करिके सब इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने से भी शान्ति प्राप्ति होती है तो राग द्वेष रहित कैसे होय सो कहते हैं कि मन के आधीन कहे वशीभूत सब इन्द्रिय हैं और इन्द्रिय वशकारी मन को जो मनुष्य अपने वश कर राखै है उसके फेरि और राग द्वेषादिक रहते नहीं इस कहने से अर्जुन की चौथी प्रश्न जो है कि स्थितप्रज्ञ कैसे गमन करैं है उस का उत्तर दिया कि स्वाधीन इन्द्रियगण राखि के विषयों मे गमन करै अर्थात् इन्द्रीजित हो विषय भोग करै जिस हेतु आत्मवश इन्द्रिय द्वारा विषय भोग करता हुआ आत्मा

प्रसादेसर्व्वदुःखानांहानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसोह्याशुबुद्धिःपर्य्यवतिष्ठते॥ ६५॥ नास्तिबुद्धिरयुक्तस्यनचायुक्तस्यभावना। नचाभावयतःशान्तिरशान्तस्यकुतः सुखं॥ ६६॥ इन्द्रियाणांहिचरतांयन्मनोऽनुविधीयते। तदस्यहरतिप्रज्ञांवायु र्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥ तस्माद्यस्यमहाबाहोनिगृहीतानिसर्व्वशः। इन्द्रियाणी

भाषा अनुवाद।

सुखी रहता है॥ ६४॥ इस प्रकार शान्ति प्राप्त होने पर फिरि क्या होता है सो कहते हैं कि शान्ति लाभ होने से सब दुख नाश हो जाते हैं फेरि इस शान्त चित्त पुरुषके सुन्दर बुद्धि स्थिर होती है॥ ६५॥ इन्द्रियों का निग्रह कहे काबूरखना जो स्थितप्रज्ञ पुरुष का साधन सो विपरीत कहे उलटी रीतिसे कहते हैं कि अवशीकृत इन्द्रिय मनुष्य के शास्त्र औ आचार्य्य के उपदेश से आत्मज्ञान होने के योग्य बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है तो स्थित प्रज्ञ होना दूरबात है इहां भावना का अर्थ ध्यान है सो ध्यान के द्वारा बुद्धि आत्मामे प्रतिष्ठित कहे स्थित होती है परन्तु जो इन्द्रियगण वश न करि सकै उस को यह ध्यान कहां है इसीसे वह आत्माके ध्यानका अनधिकारी है तो फिरि उसको शान्तिनहीं होती अर्थात् आत्मामे चित्तयुक्त नहीं होता और अशान्त पुरुष को सुख कहे परम आनन्द कहां से हो सके गा॥ ६६॥ इन्द्री वश किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता इसका कारण कहते हैं कि अवशीकृत इन्द्रिय विषयाधीन भोगी पुरुषकी इन्द्रियों के बीच जब एक इन्द्री के साथ मन धावता है अर्थात् उसके आधीन हो विषय पर चला तो फिर वह मन पुरुष की बुद्धि हरि कै उस को विषय मे वेक्षिप्त करता है तब सब इन्द्री इकट्ठे हो प्रज्ञा को हरण करती हैं तो और क्या कहैं फेरि वायु जैसे जलमे नाव को इधर उधर नचावती है तैसे ही यह मन इन्द्रियों के साथ विक्षिप्त हो जहां तहां मारामारा भ्रमता फिरता इस पुरुष को खराब करता है॥ ६७॥ इन्द्रियोंका संयम करना स्थिरप्रज्ञ पुरुष का साधन औ यही उसका लक्षण है यह जो पूर्व्व कहि चुके सोई अब फेरि कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन जो इन सब इन्द्रियों को विषयों से शान्त राखि सकै उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है महाबाहु सम्बोधन देनेसे यह जनाया कि तुम वैरियों के निग्रह करने मे समर्थ हो इससे

न्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥　या निशासर्वभूतानांतस्यांजागर्त्तिसंयमी।
यस्यांजाग्रतिभूतानिसानिशापश्यतोमुनेः ॥ ६९ ॥　आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठंसमुद्र

भाषा अनुवाद

अवश्य इन्द्रियोंको वश करि सकोगे क्योंकि ये इन्द्री पुरुषकी परम शत्रु हैं शत्रुको जय करने विना बडी हानि है यह इसका भावार्थ है ॥६८॥ जो सन्देह करो कि निद्रागत कहे सोये हुये मनुष्यके समान देखना सुनना बोलना चलना या अरस परस करना आदि इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित कहे इन्द्रीजित तो कोइभी पुरुष इस संसारमे नहीं देख पडता है तो स्थित प्रज्ञका लक्षण जो कहा सो असम्भव अर्थात् कोईभी स्थिर बुद्धि नहीं है इस पर श्रीभगवान कहते है कि अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत्त कहे घेरे हुये सकल मनुष्योंको आत्मनिष्ठा कहे आत्मज्ञान तत्त्वज्ञानरूप विषयमे दर्शन आदि कोई व्यापार न रहने से जन्तुवों की जो निशा कहे रात्रि अर्थात दर्शनादि व्यापार शून्य अवस्था है तद्रूप आत्मनिष्ठा कहे तत्त्वज्ञान अवस्था रात्रि है जिसमे विषयी विचारों को कुछ नहीं सूझता है सोये हुये पुरुष के समान शिथिल पडेहै कोई इन्द्रीभी कुछ काममे नहीं आतीहै यही आत्मनिष्ठारूप निशा तुम सब जीवोंकी जानो इससे संयमी कहे इन्द्रीजित जागते है अर्थात् तत्त्व ज्ञानका अनुभव करते औ स्व स्व रूपको देखते आनन्द पावते है और जो विषय निष्ठा कहे विषयों का ज्ञान जिस मे सब प्राणी जागते अर्थात विषयी जन विषयों मे बोधयुक्त होय दर्शनादि व्यापार करते हुये स्वप्न की ऐसी संपदा मे मगन है सोइ अवस्था मुनि जो तत्त्वज्ञानी है उन को रात्रि तुल्य है अर्थात् इस विषय मोह रूप रात्रिमे उन को कुछ नही सूझता है सोये हुये नर के समान अचेत हैं अर्थात् ब्रह्म मे दृष्टि है और विषयों को देखते नहीं सोई कहा कि जो निशा सब भूत कहे प्राणियों की है उस मे मुनि जन जागते और जो ज्ञानियों की रात्रि उस मे प्राणी सब जागते है जैसे उलूआपक्षी और चमगादुर छुछुन्दर आदि जीव और जीवोकी जो रात्रि वह इनका दिन है अपना सब व्यापार उसमे करते खुसीसे रात भर घूमते हैं तैसेही जानो ॥६९॥ जो कहो कि विषयमे दृष्टि विना भये फेरि वे ज्ञानी विषय भोग कैसे करते है इस आशय मे भगवान कहते हैं कि

मापःप्रविशन्तियद्वत् । यद्वत्कामायंप्रविशन्तिसर्वेमशान्तिमाप्नोतिनकामकामी ॥
७० ॥ विहायकामान्य सर्व्वान्पुमांश्चरतिनिस्पृह. । निर्ममोनिरहङ्कार.स
शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥ एषाब्राह्मीस्थिति.पार्थनैनाप्राप्यविमुह्यति । स्थित्वा
स्यामन्तकालेऽपिब्रह्मनिर्व्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायांसांख्ययोगो
नामद्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

भाषा अनुवाद

जैसे नद नदी नारोंके जल प्रवाहके जोर से अचल समुद्रमे जाय प्रवेश करते पर समुद्र को इच्छा नही है तैसेही विषय सब अदृष्ट कहे पूर्व्व कर्म्मके अनुसार इस संसारमे भोगइच्छा हीन मुनिके अन्तःकरणमे अदृष्टके जोरसे कर्म्मके द्वारा विषय प्रवेश करते हैं परन्तु तिनके द्वारा ही विषय भोग करते हुये भी वे कैवल्य मुक्ति पावते है और कामके कामी भोग कामना शील कहे विषय स्वभाव वे नहीं होते है ॥७०॥ जब ऐसी व्यवस्था है तों जो प्राप्त विषय को त्याग करते या अनादरसे ग्रहण करते है और अप्राप्तमे इच्छा रहित कहे किसीकी अभिलाषा नही रखते इससे उनके अहङ्कार नही है इसी से भोग अभोग साधनमे ममता स्नेहशून्य हो कर आत्मामे दृष्टि राखि अदृष्ट वशते विषयोंका भोग करते है और कही भोगांय पर शान्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् जो सब कामना छोडि वेपरवाह अहं ममता हीन पुरुष भोग करै या कही जाय पर शान्ति तो पावते ही है ॥ ७१ ॥ पूर्व्वकी कही हुई ज्ञाननिष्ठाकी प्रसंशा करिके कहते है कि हे अर्जुन उक्त ब्रह्मज्ञान की निष्ठा ऐसी है इससे भगवतके आराधनसे शुद्धचित्त पुरुष यह ब्रह्मनिष्ठा पाय करि और संसार सागरमे मूढ नही होता है देखो मरती वार भी एक क्षण भर जो ब्रह्मनिष्ठामे मन स्थिर करते वे ब्रह्ममे लीन होते है तो बालपनसे या बहुत दिनोंसे इस ब्रह्मनिष्ठा की अभ्यास से इसमे मन स्थिर करि अन्तमे मुक्ति मिलैगी इसमे फिरि कुछ सन्देह बाकी है सो हे पार्थ यह ब्राह्मी स्थिति है इसको प्राप्त होय फेरि मोह नही पावते अन्तकाल मे भी इस से क्षणभर मन थिर करिके मनुष्य निश्चय ब्रह्म निर्व्वाणपद पावते हैं ॥७२॥ इति श्रीजगन्नाथसुकुलविरचितायां मनभावनीटीकायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीय अध्यायः ।

अर्जुन उवाच । ज्यायसीचेत्कर्मणस्तेमताबुद्धिर्जनार्दन । तत्किंकर्मणिघोरेमां नियोजयसिकेशव ॥१॥ व्यामिश्रेणेववाक्येनबुद्धिंमोहयसीवमे । तदेकंवदनिश्चित्ययेन

भाषा अनुवाद

गीताशास्त्रमे प्रथम प्रवृत्ति औ निवृत्ति को हेतुरूप सांख्य तथा योग ये दो प्रकार को बुद्धि देखावते हुये श्रीजगदीश्वरने अशोच्यानन्वशोचस्त्वं इत्यादि श्लोक से पहिले मुक्तिसाधनके विषयमे देह औ आत्माका भेद कहा तिसके अनन्तर एषा तेऽभिहिता सांख्ये इत्यादि श्लोकके द्वारा निष्काम कर्म करने को कहा परन्तु तिससे कौन पक्ष मुख्य कहे श्रेष्ठ औ कौन गौण कहे साधारण है यह कुछ भाव कहे भगवत की अभिप्राय न जानी गई और तिसके बीचमे ज्ञानी पुरुष को कर्म रहित होना तथा इन्द्री वश करना औ निरहंकार रहना कहिकर एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ इस श्लोकसे प्रसंशा पूर्वक भगवतकी कहावत से तत्त्वज्ञान औ निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोग इन दोनोके मध्यमे ज्ञान ही की श्रेष्ठता भगवान को अभिमत है यह जानिकर अर्जुन कहते हैं कि हे केशव जो निष्काम कर्म योगरूप भक्तियोग की अपेक्षा शीघ्र मुक्ति का देनहार तत्त्वज्ञान ही श्रेष्ठ आप को अभिमत है तो फेरि किसवास्ते तस्माद्युध्यस्व तस्मादुत्तिष्ठ ये बातें कहि कहि कर हे जनार्दन घोर हिंसा रूप कर्मसे हमै प्रवृत्त करते हौ जनार्दन संबोधन देनेसे यह आया कि जन कहे भक्तजन जो मै तिस को अर्दन कहे पीड़ा देने वाले काहेको होते हौ यह अर्जुन का तात्पर्य्य है ॥ १ ॥ हे अनघ निःपाप अर्जुन मैयह बात पूर्व कहि चुका हूं तहां जो मोक्ष के हेतु रूप ज्ञान तथा कर्म ये दोनो

श्रेयोऽहमाप्नुयां ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच । लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठापुराप्रोक्तामया

भाषा अनुवाद

निष्ठा मै पृथंक पृथक कहे अलग अलग जो कहे होता या अभी जो तुमसे कहा इसी मे पृथक करि कहा होता तो अलवत्ता दोनो के बीच जो उचित हो सो निश्चय कर कहो यह तुमारा कहना ठीक था परन्तु मै ने तो ऐसा नही कहा केवल दोनो हीं पक्ष मे एक ब्रह्मनिष्ठा ही को कहा क्यों कि गौण और मुख्यफल दायक ये कर्मयोग औ ज्ञानयोगसे भिन्न भिन्न ऐसी एक ज्ञाननिष्ठा ही मैने कहा सो भी अधिकारी के भेद से कि जैसा अधिकारी हो वैसा आचरण करै और दोनो निष्ठा का अधिकारी एकही पुरुष कैसे होगा जो तुम कहते हो कि दोनो मे एक निश्चय कर कहो सो शुद्ध अन्तःकरण औ अशुद्ध अन्तःकरणहोने से अधिकारी दो प्रकार के है इससे दो मत कहे गये है सोई दो प्रकार ब्रह्मनिष्ठा जो मोक्षप्राप्तिकी उपाय सो पूर्व अध्यायमे मैने स्पष्ट करके कहा है अब उक्त दोनो मतका निर्णय करते है कि साख्य कहे शुद्ध अन्तःकरण ज्ञानमार्गमे आरूढ पुरुष को ज्ञान परिपाक रूप कारण से ज्ञानयोगके द्वारा आत्मा की निश्चय करनेवाली ध्यान आदि निष्ठा और धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्यादि श्लोको से भगवान कर्म को प्रधान कहा है इसी शङ्कापर अर्जुन कहते है कि कही तो कर्म की प्रशंसा और कही ज्ञान की वडाई करते हुये आप ही सन्देह के उत्पन्न करनेवाली इन वातो से मेरी बुद्धिको मोहसा करते हुये यह आप क्या कहते हो यद्यपि परम करुणामय जो आप तिन के माह कहां है तौ भी भ्रान्ति से हमको मोह की ऐसी वातै समझ पडती है सो ज्ञान औ कर्म दोनो के बीच मे जो कल्याणकारी होय वही एक पक्ष निश्चय करके हमको कहो अथवा जो हमारा कल्याण इस युद्ध कर्महीसे निश्चय किये हो तो इसी को निर्धार करिके ठीक कहो ॥ २ ॥ अर्जुन की प्रश्न के अनुरूप उत्तर करते हुये श्रीभगवान कहते है कि इस लोकमे शास्त्रके अर्थ अनुसार चलनेवाले ब्राह्मण क्षत्री वैश्य इन तीनि वर्णोके अर्थ दो प्रकार की निष्ठा पूर्वही अर्थात् सृष्टि के प्रथमही उन का श्रेयसाधन कहे मुक्तिका देनहार वेदार्थ सम्प्रदाय प्रगट करतेहुयेमैने इस रूपसे ब्रह्मपरता कही

नघ। ज्ञानयोगेनसांख्यानांकर्मयोगेनयोगिनां ॥ ३ ॥ नकर्मणामनारम्भान्नैष्क र्म्यंपुरुषोऽश्नुते। नचसंन्यसनादेवसिद्धिंसमधिगच्छति ॥४॥ नहिकश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्य्यतेह्यवशः कर्मसर्वःप्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥ कर्मेन्द्रियाणि

भाषा अनुवाद

है। यथा तानिसर्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः इस श्लोक से और जो ज्ञानमार्ग मे नहीं प्राप्त है उन लोगो को चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानमार्ग पर आरूढ़ होने के अर्थ उस की उपाय रूप कर्मयोग के अधिकारियो को कर्मयोग से निष्ठा अर्थात् ब्रह्मपरता कही गई है यथा धर्म्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्यादि श्लोकोंसे कहा है अतएव चित्तशुद्धि अशुद्धि दो अवस्था भेदसे दोय बार ब्रह्मपरता कथित भई है पर तौ भी तुम से प्रकाश करि कहे खुलासासे मैंने कहि दिया है कि एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमा शृणु इस श्लोकसे फिरि भी तुम सन्देह करते हो ॥ ३ ॥ इस से यह आया कि सम्पूर्ण चित्तशुद्धि के द्वारा जब तक ज्ञान उत्पन्न न होय तब तक वर्ण कहे जाति औ आश्रम कहे ब्रह्मचर्य्य गार्हस्थ्य वान प्रस्थ संन्यास इन मे विहित जो जो कर्म सो सब करना उचित है नही तो चित्त शुद्धि के विना ज्ञान कैसे होसके गा यही भगवान कहते है कि कर्म किये विना पुरुष नैष्कर्म्य जो तत्त्वज्ञान सो नही पावते है जो कहो कि संन्यासी फेरि सर्वकर्म परित्याग करि तत्त्वज्ञान कैसे पावते है और वेद की श्रुति कहती है कि संन्यास धारण करने ही से मुक्ति मिलती है फेरि कर्म करने से क्या प्रयोजन है इस शङ्कापर कहते है कि सो नही क्यों कि निष्काम कर्म करि चित्तशुद्धि किये विना ज्ञान का अभाव है औ ज्ञान के विना मुक्तिप्राप्ति नही होती यह निश्चय है कुछ संन्यास ही लेनेसे पुरुष सिद्धिको नही पाय जाता है ॥ ४ ॥ कर्म संन्यास इसका यह अर्थ है कि सर्व कर्म मे आसक्ति रहित होना मात्र न कि एकाएक सब कर्मो का त्याग करना और शरीर रहते कर्म का त्याग भी असाध्य है सोई कहते है कदाचित कहे किसी अवस्थामेभी क्या ज्ञानी और क्या अज्ञानी क्षणमात्र भी मान सिक वाचिक कायक कर्म किये विना रह नही सकता है कारण यह कि प्रकृति जो स्वभाव तिस के प्रभाव से राग द्वेष कहे प्रीति विरोध आदि गुणो से सब

संयम्यय आस्तेमनसास्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मामिथ्याचारःसउच्यते ॥ ६ ॥ यस्त्विन्द्रियाणिमनसानियम्यारभतेऽर्जुन । कर्मेन्द्रियैःकर्मयोगमसक्तःसविशिष्यते ॥ ७ ॥ नियतंकुरुकर्मत्वंकर्मज्यायोह्यकर्मणः । शरीरयात्रापिचतेनप्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्रलोकोऽयंकर्मबन्धनः । तदर्थंकर्मकौन्तेयमुक्तसङ्गः समाचार ॥ ९ ॥ सहयज्ञाःप्रजाःसृष्ट्वापुरोवाचप्रजापतिः । अनेनप्रसविष्यध्वमेष

भाषा अनुवाद

मनुष्य परतन्त्र, कहे परवश हो कर्म करते ही हैं ॥ ५ ॥ इसी से अज्ञान कर्म त्यागी की निन्दा करते हैं कि जो आत्मस्वरूप को स्थिर न करि के वाक पाणि पाद आदि कर्म इन्द्रियों को वशीभूत अर्थात् काबू करि भगवत के ध्यान के बहाने से मन की अशुद्धता के कारण से इन्द्रीयगण का अर्थरूप विषयों का स्मरण मनसे करता है सोई मूढ मिथ्याचारी अर्थात् नास्तिक कहावता है ॥ ६ ॥ अब इस के विपरीत कहे उलटा कहते अर्थात् कर्मकारी पुरुष को श्रेष्ठ कहते हैं कि जो फल की अभिलाष रहित मनुष्य चक्षु श्रोत्र घ्राण आदि ज्ञान इन्द्रियों को, मन के द्वारा वशीभूत करि के अर्थात् ईश्वर मे तत्पर होय सकल कर्म मे अपने को अन्त र्यामी भगवानके आधीन जानिके कर्मरूप योग आरम्भ करते है वेई फलाभिलाष रहित चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानवान होते है और कर्म दोष रहित हो मुक्तिलाभ करते है ॥ ७ ॥ जिस हेतु ऐसी व्यवस्था है इस से तुम कर्म करौ सोई कहते हैं कि नियत कहे नित्य कर्म संध्या उपासन आदि कर्म अनुष्ठान करो जिसलिये कर्म न करने से कर्म करना ही भला है नहीं तो सब कर्म छोडने से एकबारगी कर्मशून्य अचेतनकी भांति रहनेसे तुमारीशरीरयात्राभी कैसे करनिबहैगी अर्थात् नचलैगी ॥ ८ ॥ सांख्य मतवाले कहते हैं कि बन्धनके कारणभूत कर्म है इससे सम्पूर्ण कर्म न करनाहीं भलाहै उसी को निर्णय करिके भगवानकहतेहैं कि यज्ञ शब्दका अर्थ विष्णुहै यह श्रुतियोंमे कहाहै सो यज्ञरूप जो विष्णु भगवान तिनके आराधनार्थ जो कर्म तिस को, छाड़िकरिके और सब कर्म अलबता लोगों को संसार बन्धन करते है परन्तु ईश्वर आराधन रूप कर्म तैसे नही है इससे विष्णु प्रीत्यर्थ निष्काममानस होय सब कर्म अच्छी तरहसे करो क्या डरहै ॥ ९ ॥ ब्रह्मा

वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥ देवान्भावयतानेनतेदेवाभावयन्तुवः। परस्परंभावय
न्तःश्रेयःपरमवाप्स्यथ ॥११॥ इष्टान्भोगान्हिवोदेवादास्यन्तेयज्ञभाविताः। तैर्द
त्तानप्रदायैभ्योयोभु ङ्क्तेस्तेनएवसः ॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिनःसन्तोमुच्यन्तेसर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जतेतेत्वघंपापायेपचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥ अन्नाद्भवन्तिभूतानिपर्जन्यादन्न

भाषा अनुवाद

की वाक्यसेभी कर्म की कर्त्तव्यता ही श्रेष्ठ आवती है सोई चारि स्लोकसे कहते
है कि यज्ञके साथ सहयज्ञ अर्थात् यज्ञके अधिकारी ब्राह्मण आदि सब प्रजा को
सृष्टिके आदिमे उत्पन्न करनेके बादि ब्रह्माने यही बात कही थी कि इसी यज्ञ के
द्वारा तुमारी वृद्धि होय इहां प्रसव शब्दका अर्थ वृद्धि है अर्थात् उत्तर२ वृद्धि होती
जाय कारण यह कि यज्ञ तुमारी इष्ट कामना की दाता है इस जगह यज्ञ
शब्द नित्य कर्म का उपलक्षण है अर्थात् यज्ञ कहने से नित्य कर्म भी सब आवते
हैं और इहां काम्य कर्म की प्रशंसा करना असङ्गत भी है तौभी स्वाभाविक कोई
कर्म नकरनेसे काम्य कर्म करना भी उत्तम है इसी से कहा कि उसमे कोई दोष
नही है ॥ १० ॥ यज्ञ इष्टकामना की दाता कैसे होगी सो कहते हैं इसी
यज्ञके द्वारा तुम सब देवतावो को घृत आहुति देकर बढावो और वे देवता सब
भी तुमारी वृद्धि करै अर्थात् जल बरसाय अन्न उपजाय तुमको सन्तुष्ट करै इसी
तरह तुमारा दोनो का परस्पर कहे एकसे एकका अभीष्ट अर्थ सिद्ध होय ॥११॥
इस को अच्छी तरह विचार करिके कहते हैं कि कर्म नकरनेसे दोष होता है
देखो यज्ञसे सन्तुष्ट देवता जल वृष्टि करिके तुम सबके अर्थ अन्न आदि नाना
प्रकार के भोग देयंगे तो जो पञ्च यज्ञ के द्वारा देवदत्त अन्नादि वस्तु उनको न
देकार आपही भोग करि लेय सो चोर औ कृतघ्न है यह तुम जानो ॥ १२ ॥ इस
हेतु से यज्ञ करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं और जो देव अतिथि अग्नि गोग्रास
बलि वैश्वदेव ये पञ्चयज्ञ नही करते केवल अपने वास्ते पाक करके खाते है वेई
लोभी पापाचारीहै सोई भगवानकहतेहै कि जो देवादिको को देकर आप भोजन
करतेहै उनको पञ्चसूनाका पाप नही लगताहै सूना कहे हत्याके स्थान गृहस्थों
के घरमे रोज रोज हत्या होनेकी पांच जगहहै घर झारते चुल्हेमे आग बारते

सम्भवः । यज्ञाद्भवतिपर्ज्जन्योयज्ञःकर्म्मसमुद्भवः ॥१४॥ कर्म्मब्रह्मोद्भवंविद्धिब्रह्माचरसमुद्भवं ॥ तस्मात्सर्व्वगतंब्रह्मनित्यंयज्ञेप्रतिष्ठितं ॥ १५ ॥ एवंप्रवर्त्तितंचक्रंनानुवर्त्तयतीहयः । अघायुरिन्द्रियारामोमोघंपार्थसजीवति ॥ १६ ॥ यस्त्वात्मर

भाषा अनुवाद

जलके पावसे और उखलमे कूटते तथा चक्की पीसते समय अनेकजीवहिंसा होती हैं सो पाप पञ्चयज्ञ न करनेवाले को लगतेहैं और वे स्वर्गवास नहींमावते ॥१३॥ संसार चक्रमे प्रवृत्तहोनेका हेतु जो कर्म सो कर्त्तव्य है यह तीन श्लोकसे कहते हैं कि अन्नही उदर मे जायकर रसरूप हो शुक्र कहे वीज औ शोणित कहे रुधिर होताहै जिससे भूत कहे प्राणी उत्पन्न होते हैं और सो अन्न मेघ वरसने से होता है और मेघ यज्ञधूम से होते और वह यज्ञ फेरि यज्ञ करने वालोंके व्यापारसे पूरी होती है यही वात श्रुति कहती हैं कि अग्निमे दी हुई आहुति सूर्य लोकमे रहती इसीहेतु सूर्य से वृष्टि होती औ वृष्टिसे अन्न होता फेरि उस अन्नसे सब प्रजा जन्मलेती हैं॥ १४ ॥ जैसे अपूर्व हेतुवों से कर्म को श्रेष्ठता औ कर्त्तव्यता किसलिये कहा औ कर्म क्या वस्तु है सोई विवरन करते हैं कि यज्ञ कारी पुरुषों का व्यापाररूप जो कर्म सो ब्रह्म कहे वेदसे उत्पन्न भयाहै औ ब्रह्म जो वेद सो अक्षर जो परब्रह्म तिससे प्रगटभयाहैं यह तुम जानो और श्रुतिनेभी कहा हैं कि परब्रह्मकी निःश्वास से ऋक् यजुर और सामवेद प्रगटे हैं इससे सर्वव्यापी परब्रह्म सर्वदा यज्ञमे प्रतीत हैं अर्थात् यज्ञरूप उपाय से ब्रह्मप्राप्ति होती है जैसे उद्योग करने से लक्ष्मीका लाभ होता है अथवा जगतमे मूल कर्म हैं इससे मन्त्र और अर्थके द्वारा सब मनुष्योंमे प्राप्त अनादि कालसे स्थित जो वेद ब्रह्म सो तात्पर्यके द्वारा प्रतिष्ठित है इससे यज्ञादि कर्म अवश्य कर्त्तव्य है ॥ १५ ॥ जिस हेतु ईश्वर की प्रेरणासे मनुष्य सकल पुरुषार्थ सिद्ध होनेके अर्थ इस संसार चक्रमे आय उत्तम कर्मरूप चक्रमे प्रवृत्त हैं इससे कर्म न करने से मनुष्य जन्म हीं व्यर्थ हैं यह कहते हैं कि ईश्वर की आज्ञा रूपवेदसे पुरुष यज्ञ कर्म मे प्रवृत्त होते तिससे मेघ और मेघसे अन्न अन्नसे प्राणी और प्राणियों से फेरि कर्म्म की प्रवृत्ति होती यही चक्र है अतएवजो ईश्वर साधन कर्म्म नहीं करते केवल इन्द्रियों

तिरेवस्यादात्मतृप्तश्चमानवः । आत्मन्येवचसन्तुष्टस्तस्यकार्यंनविद्यते ॥ १७ ॥ नैव
तस्यकृतेनार्थोनाकृतेनेहकश्चन । नचास्यसर्वभूतेषुकश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥ तस्मा
दसक्तःसततंकार्य्यंकर्म्मसमाचर । असक्तोह्याचरन्कर्मपरमाप्नोतिपूरुषः ॥ १९ ॥

भाषा अनुवाद

से विषय भोग मात्र करते उनका वृथा जीवन है ॥ १६ ॥ कर्म्मणामनारम्भा दित्यादि स्रोकसे अज्ञानी पुरुषके अन्तःकरण शुद्धिके हेतु कर्म्मयोग कहि करअब ज्ञानी को कर्म न करना दो श्लोकसे कहते हैं कि जिसकी आत्मा मे रति कहे प्रीति औ आत्म आनन्दमे मगन तथा आत्मासे जोसन्तुष्टहैं और भोगादिसे रहित है ऐसे जो तत्त्वज्ञानी उनको कोई कर्म भी करना नहीं है ॥ १७ ॥ जो तत्त्व ज्ञानीकहे आत्मज्ञानी पुरुषहैं उसको कोईभी कर्मकरना जरूरनहीं सोई कहते हैं कि न ज्ञानी को कर्म करने से पुन्य है और कर्म न करने से प्रत्यवाय कहे पाप भी नहीं है क्यों कि ज्ञानी तो निरहङ्कार है इस से उस को किसी कर्म का विधि औ निषेध नहीं है वह सब से अलग है जो कहो कि श्रुति कहती है कि देवतोंकी इच्छा नहीं है कि मनुष्य ब्रह्म को जाने औ ब्रह्मज्ञानी हो मोक्षको पावे तो निश्चय है कि मोक्ष होने मे देवता विघ्न करेंगे इसवास्ते विघ्न वारण के अर्थ देवतोंकी सेवारूप कर्म जरूर ही करना पड़ैगा इसपर भगवानकहतेहैं कि ब्रह्म से लेकर और स्थावरपर्य्यन्त किसीकी सहायता ज्ञानीको दरकार नहीहैं क्योंकि ज्ञानमार्ग मे विघ्न का अभाव है यह श्रुति से कहि चुके हैं इस से आत्मदर्शी को प्राणीमात्र की आश्रय कहे अवलम्ब लेने का कुछ काम नहीं है ॥ १८ ॥ इस से हे अर्जुन ज्ञानी पुरुषही को कर्म कर्त्तव्य नहीहै और दूसरे मनुष्यको तो कर्मकरना ही उचित है सो तुम कर्म करो यही कहते है कि तस्मात् कहे तिस मे असक्त हो कर्त्तव्यकर्म निरन्तर समाचर कहे करो असक्त हो पुरुष कर्मकरते हुयेपर जो मुक्ति उस को प्राप्त होतेहै अर्थात् फल कामना रहित होकर अवश्य कर्म जो नित्य नैमित्तिक है सो सब करो जिसहेतु आसक्ति रहित कर्मकारी मनुष्य परम जो मुक्ति उस को चित्तशुद्धि के द्वारा पावता है । नित्यकर्म संध्यावन्दनादिक है और नैमित्तिक जो निमित्त पाय कर किये जांय जैसे पुत्र जन्म मे जातकर्मादिक

कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादय.। लोकसंग्रहमेवापिसंपश्यन्कर्तुमर्हसि॥
२०॥ यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। सयत्प्रमाणंकुरुतेलोकस्तदनुवर्तते
॥ २१॥ नमेपार्थास्तिकर्तव्यंत्रिषुलोकेषुकिञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यंवर्तएवच
कर्मणि॥ २२॥ यदिह्यहंनवर्तेयंजातुकर्मण्यतन्द्रितः। ममवर्त्मानुवर्तन्तेमनुष्या.
पार्थसर्वशः॥ २३॥ उत्सीदेयुरिमेलोकानकुर्यांकर्मचेदहं। सङ्करस्यचकर्तास्या

भाषा अनुवाद

कियेजातेहैं इससे यहजनाया कि तुमको युद्धकी नैमित्तिक कर्मकरना आवश्यक है ॥१९॥ अब इस विषय मे ज्ञानियों के आचरणको प्रमाण देते है कि देखो परम ज्ञानी जनक राजा कर्म के आचरण करने से शुद्धसत्व हो कर अच्छी तरह ज्ञान को प्राप्त भये थे और जो तुम सम्पूर्ण ज्ञानी अपने को जानो तौभी कर्म करना ही श्रेय कहे कल्याण है यह कहते हैं कि सब मनुष्यों को धर्म मे प्रवृत्ति के अर्थ अर्थात् हमारे कर्म करने से सब लोग कर्म करेंगे नही तो ज्ञानी का व्यवहार देखि अज्ञानी भी लोग व्यवहार छोडि वैठेंगे इस हेतु लोक की रक्षा के अर्थ कर्म करना अवश्य प्रयोजन है यह विचारि कर्म करना योग्य है सो तुम भूल के भी कर्म न त्याग करना ॥२०॥ और तुमारे कर्म करने से सब लोगों की कर्म मे रुचि होयगी यह भगवान कहते है कि श्रेष्ठ कहे वडे लोग निवृत्ति या प्रवृत्ति कर्म जो प्रमाण मानते और करते है सोई साधारण मनुष्य भी आचरण करते है अर्थात् उन के अनुसार सब व्यवहार के अनुगामी होते है ॥ २१ ॥ इस विषय मे भगवान अपने को दृष्टान्त दे कर कहते है कि हे पार्थ अर्जुन देखो त्रैलोक्य मे भी हम को कर्त्तव्य कर्म कुछ नही है तौभी हम कर्म कर्त्ते ही रहते हैं और हम को त्रिभुवन मे भी अलभ्य तथा किसी वस्तु मे अभिलाष नहीं है॥ २२ ॥ तौ फिरि जो हम कर्म न करै तो कर्म न करने से जो लोगो की हानि होयगी सोई देखावते कि जो सावधान हो कर्म मे हम कभी न वर्त्तमान,होंय तो सब लोग हमारी ही राह लेय अर्थात् हमारी नाई कर्मों को न करै ॥ २३ ॥ तौ उस न करनेमे जो होगा सो कहते है कि जो हम कर्म न करैं तो धर्म लोप हो जाय औ धर्म लोप से प्रजा नष्ट होयगी और वेमर्जाद हो राह छोड जो जिस के मन

सुमहन्यामिमाःप्रजाः ॥ २४ ॥　सक्ताःकर्मण्यविद्वांसोयथाकुर्वन्तिभारत । कुर्य्या
द्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्पुर्लोकसंग्रहं ॥ २५ ॥　नबुद्धिभेदंजनयेदज्ञानांकर्मसङ्गिनां ।
योजयेत्सर्वकर्माणिविद्वान्युक्तःसमाचरन् ॥ २६ ॥　प्रकृतेःक्रियमाणानिगुणैःकर्मा
णिसर्वशः । अहङ्कारविमूढात्माकर्त्ताहमितिमन्यते ॥ २७ ॥　तत्त्ववित्तुमहाबाहो

भाषा अनुवाद

माने सोई करै तो संसार मे दुराचार से वर्णसङ्कर जन्मैंगे फेरि इस अनुचित के कर्त्ताभी हमी ठहरे अपनी प्रजा आपही नष्ट किया यही होगा ॥ २४ ॥　इस वास्ते आत्मज्ञानी को भी लोगों पर कृपा करि शिक्षा देने के अर्थ कर्म करना चाहिये इसी को कहते है कि हे भारत अर्जुन कर्म मे आसक्त हो कर जैसे अज्ञानी लोग कर्म करते है तैसे लोगों के उपदेश की इच्छा करिके विद्वान कहे ज्ञानीभी कर्म करै तो धर्म की मार्ग वनी रहैगी ॥ २५ ॥　तो फेरि सब को तत्त्व ज्ञानहीका उपदेश करना चाहिये जो ऐसा कहो सो नहीं यह कहते है कि अज्ञ जो कर्म मे आसक्त है तिन को आत्म उपदेश दे कर बुद्धि का भेद उत्पन्न कभी न करै अर्थात् कर्म से उन को न छुडावै बल्कि उन से और भी कर्म करावै तो फेर उन से किस तरह कर्म करावै सो कहते है कि आप सावधान हो कर्म का आचरण करता उन से करवा वै नही तो उनकी बुद्धि चल विचल करावने से फेरि कर्म मे उन की श्रद्धा चली जायगी और जो ज्ञान की भी उत्पत्ति न भई तो उन की दोनो राह नष्ट भई विचारे अज्ञानी उधर के भी न भये और इधरसेभी गये यही होगा ॥२६॥　जो कहो कि इस प्रकार जो ज्ञानी कर्म करै तो अज्ञानी औ ज्ञानीके वीच क्या विशेष कहे अन्तर रहा इसो अभिप्राय पर दो श्लोकसे दोनो का अन्तर देखावते हैं कि देखो मूढलोग प्रकृति जो माया सो इन्द्रियोंके द्वारा जो सब कर्म करती है उन कर्मो को हम करते है ऐसा मानि लेते है तो मानि लेने का कारण यह है कि अहङ्कार से इन्द्रियों मे आत्मा का अध्यास अर्थात् इन्द्रियों को आत्मा जानि कर उन की बुद्धि मूढ हो गई है ॥ २७ ॥　और ज्ञानी ऐसा नहीं मानते है सोई कहते कि तत्त्वज्ञानी तो हम इन्द्रियरूप नहीं है ऐसे विचार करि इन्द्रियों से आत्मा को जुदा जानते है और हमारे कोई भी कर्म

तेऽपिकर्मभिः ॥ ३१ ॥ येत्वेतदभ्यसूयन्तोनानुतिष्ठन्तिमेमतं। सर्वज्ञानविमूढां स्तान्विद्धिनष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥ सदृशंचेष्टतेस्वस्याःप्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्तिभूतानिनिग्रहःकिंकरिष्यति ॥ ३३ ॥ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थेरागद्वेषौव्यवस्थि

भाषा अनुवाद

सो कहते है कि जो लोग इस तरह कर्म न करैं ते विचार रहित है और कर्म तथा ब्रह्मज्ञानमे भ्रष्टविवेक जानो सोइ कहते है कि जो इस मेरे मत की निन्दा करते हुये इस मत मे नहीं प्रवृत्त होते है उन को सकल ज्ञान के मूढात्मा कहे नष्टबुद्धि जानो ॥ ३२ ॥ जो कहो कि तौ फेरि महा फल के अर्थ इन्द्रियों को निग्रह करऔर कामनाको त्यागि के सभी लोग क्यों नहीं इस तरह स्वधर्म का अनुष्ठान करते है तो इसपर कहते है कि पूर्व कर्मके संस्कारके अधीन जो स्वभाव तिसके अनुसार गुण दोष के ज्ञानवान भी चेष्टा करते है तो फेर अज्ञ विचारे जो स्वभाव तिस के अनुरूप चेष्टा करते इस मे और क्या कहना है जब कि स्वभाव वलवान है तब कि और इन्द्रियनिग्रह कोई फेर कर सकै है तो स्वभाव के अनुरूप चलनाही पडता है ॥ ३३ ॥ जो वलवान स्वभावही के अनुसार कर्म मे सबकी प्रवृत्ति है तौ यह कर्म करना औ यह न करना जो शास्त्र विधि औ निषेध करता सो व्यर्थ है इस शङ्का पर कहते है कि इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य दुइवार कहने से हरएक इन्द्रियको अपनी अपनी विषयके अनुकूल वस्तुमे प्रीति औ प्रतिकूल विषयमे वैरक्ति कहे विरक्तारूप रागद्वेषादि अवश्य होगा सो इसीसे रागद्वेषके अनुरूप कर्मने प्रवृत्ति होना यह यद्यपि सब को स्वभाव सिद्ध है पर तौभी राग द्वेषके वशीभूत होना न चाहिये यही शास्त्रोंमे नियम कर राखा है क्यों कि मुमुक्षु पुरुष के वेई विघ्नकारी औ विपक्ष है तात्पर्य यह कि विषयों के स्मरण के द्वारा रागद्वेष प्रगट करवाय वह स्वभाव असावधान पुरुषों को अपने वलसे अति जोर धारा प्रवाह की नाई अनर्थमे प्रवृत्त करावता है परन्तु शास्त्रतो उस अनर्थ प्रवृत्तिके पहिले ही विषयों से रागद्वेष का प्रतिवन्धक रूप कहे रोकनेवाला जो भगवत आराधन तिसमे प्रवृत्तिकरावते है इससे देखो कि प्रवाहमे मरने के पहिले ही नौका प्राप्त पुरुष के समान उस अनर्थ से शास्त्र द्वारा मनुष्य वचिजाते है

गुणकर्मविभागयोः। गुणागुणेषुवर्त्तन्तइतिमत्वानसज्जते॥ २८॥ प्रकृतेर्गुणसंमूढ़ाःसज्यन्तेगुणकर्मसु। तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत्॥ २९॥ मयिसर्वाणिकर्माणिसंन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममोभूत्वायुध्यस्वविगतज्वरः॥ ३०॥ येमेमतमिदंनित्यमनुतिष्ठन्तिमानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तोमुच्यन्ते

भाषा अनुवाद

नहीं हैं ऐसे विचारसे कर्मोसे अपने को पृथक मानते हैं अर्थात् इस प्रकार इन्द्री औ कर्म से पृथक बुद्धि हो कर जो तत्त्व वस्तु सो जानते हैं हे अर्जुन वे और फेरि कर्म मे आसक्त नहीं होते अर्थात् हम कर्म करते हैं यह विचार नहीं करते इस का हेतु यह कि माया के द्वारा सब इन्द्री विषयों मे प्रवृत्त हैं हम सब से अलग हैं यह उन का जाना है॥ २८॥ सो कहते हैं कि प्रकृति जो माया तिस के गुण जो सत्त्व रज तम तिन से सम्यक मूढ़ कहे मोह को प्राप्त जो जन हैं तेई लोग गुणो के कर्म मे अर्थात् सात्त्विक राजस तामस त्रिगुण कर्म मे आसक्त होय कर्म का सङ्ग करते हैं तिन असम्पूर्ण ज्ञानी मन्दमति मनुष्यों को उस कर्म के आनन्द से मगन मन कर्म करने से छुड़ावित कहे सम्पूर्ण ज्ञानी सो न चलावे अर्थात् उन को कर्म रहित न करै॥ २९॥ सो देखो तत्त्वज्ञानी को भी कर्म करना उचित है फेरि भगवान कहते हैं कि तुम तो अभी ऐसे कुछ तत्त्व ज्ञानी भये भी नहीं हो इस से अच्छी तरह कर्म करो कर्म करने मे तो तुमारा अधिकार ही है यह भगवान कहते हैं कि आत्मा मे चित्त देके सब कर्म हमारे मे अर्पण करके अर्थात् हम अन्तर्यामी भगवान के आधीन होय कर्म करते हैं और यह हमारा काम है हम करते हैं इस विचार औ फल की आश को छोड़ कर तथा शोक दूर करि के तुम वे खट के युद्ध करो यह श्रीकृष्णने कहा॥ ३०॥ इस प्रकार कर्म करने मे उपकार कहते हैं कि जो इस हमारे मतसे श्रद्धायुक्त होय और असूया रहित अर्थात् निन्दा न करि के कि दुखदाई कर्मसे हमको प्रवृत्त करते अर्थात् लगावते हैं ऐसो दोष दृष्टि न करके जो कोई यह मेरामत अङ्गीकार करके करैगा सो कर्मके द्वारा क्रम क्रमसे ज्ञानी की तरह कर्मसे मुक्त होय पर होयगा॥ ३१॥ अब इसके विपरीत आचरण मे जो दोष

तौ। तयोर्नवशमागच्छेत्तौह्यस्यपरिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥　श्रेयान्स्वधर्मोविगुणःपर
धर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मेनिधनंश्रेयःपरधर्मोभयावहः॥ ३५ ॥　अर्जुन उवाच।
अथकेनप्रयुक्तोऽयंपापञ्चरतिपूरुषः। अनिच्छन्नपिवार्ष्णेयबलादिवनियोजितः ॥३६॥
श्रीभगवानुवाच। कामएषक्रोधएषरजोगुणसमुद्भवः। महाशनोमहापाप्माविद्धि

भाषा अनुवाद

इससे स्वाभाविक प्राप्त कर्म त्याग करके धर्म प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य है तात्पर्य मे यह कि तुम स्वभाव प्राप्त करुणा को छोड़ि अब युद्ध करो ॥ ३४ ॥ स्वाभाविक प्रवृत्ति त्याग करि धर्ममे प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य हैं किन्तु निज धर्म दुःखदायक युद्ध रूपके करने के असमर्थ औ परधर्म शुभ करनेवाला अहिंसारूप ये दोनो भी धर्म पचमे समान हैं तो इन दोनोके मध्यम पर धर्म हीं मे प्रवृत्त होने की इच्छा करते हुये अर्जुनके प्रति भगवान कहते है कि साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण किये हुये परधर्म की अपेक्षा अङ्ग हीन होने से भी स्वधर्म श्रेय कहे सुन्दर है अर्थात् स्वधर्म युद्ध आदि मे प्रवृत्त पुरुष का मरण भी श्रेय कहे श्रेष्ठ लाभ है क्यों कि उस से स्वर्गादि प्राप्त होता है परन्तु परधर्म भयदायक अर्थात् निषिद्ध है इस से नरक प्राप्ति का कारण होता है सोई कहा कि स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भया वहः ॥ ३५ ॥ तयोर्न वशमागच्छेत् इस श्लोकसे कहा कि राग द्वेष के वश न होना फेरि विरोध हेतुक युद्ध को स्वधर्म कहि कर आज्ञा देते हैं इस पर अर्जुन कहते हैं कि वृष्णि वंश मे अवतीर्ण हे वार्ष्णेय हे कृष्ण अनर्थरूप पाप करने मे इच्छा न रहतेभी किसीकी प्रेरणासे यह पुरुष पाप आचरण करता है काम,क्रोधको विचार बलसे रोक के भी मनुष्यकी पापकर्म करने मे फेरि प्रवृत्ति देख पड़ती है इससे यह जानि पड़ै है कि कोई उसका मूलभूत कारण होगा जो बलकरके करावता हैं इस सम्भावना पर सन्देह करते हुये अर्जुन ने प्रश्न किया है ॥ ३६ ॥　अर्जुन ने जो पूछा कि इच्छा विना भी किसी की प्रेरणा से पुरुष पापाचार मे प्रवृत्त होता हैं इसीका उत्तर भगवान करते हैं कि सब को अपने वश करनेवाला औ प्राणियों का परम शत्रु सकल अनर्थ प्राप्तिकारी यह काम जो कामना सोई किसी कारण से प्रतिहत भया अर्थात् कामना जो सिद्ध न भई तो

नमिहवैरिणं ॥३७॥ धूमेनाव्रियतेवह्निर्यथादर्शोमलेनच। यथोल्वेनावृतोगर्भस्तथाते
नेदमावृतं॥३८॥ आवृतंज्ञानमेतेनज्ञानिनोनित्यवैरिणा। कामरूपेणकौन्तेयदुष्पूरे
णानलेनच ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष

भाषा अनुवाद

वही काम बदल कर रजोगुण से है जन्म जिस का ऐसा क्रोध रूप होय पुरुष को अहंकार के वश कराय रजोगुण की सेवा मे डाल देता है यह क्रोध फेरि महाशन है अर्थात् महत भोजन है जिस का सो ऐसा महापापमा कहे पाप रूप परम शत्रु है यह तुम जानो तात्पर्य यह है कि काम ही जीवों को प्रेरणा देता हैं परन्तु सतोगुण की वृद्धि होने से रजोगुण की चय होती है फेरि रजोगुण का कार्य काम कहे कामना का जन्म नहीं होता है सो इस मोक्षमार्ग के वैरी काम रूप शत्रु को पूर्व कथित उपाय से नाश करना हीं उचित है देखो कामना के अनुरूप भोग मिलने से भी उन का भोग चिरकाल करते भी सन्तोष नहीं होता है इसी से कहा कि महाशन कहे वडा खानेवाला जो काम सो भोग करनेसे भी पूर्ण नहीं होता है ॥३७॥ अब विशेष रूपसे कामकी शत्रुता देखावते हुये कहते है कि जैसे धूम से आग औ मल से दर्पण उल्वा जो झिल्ली चमडा तिस से गर्भ आवृत कहे लपेटे है तैसे ही काम जो कामना तिस से यह ज्ञान भी आवृत कहे घेरा गया है ॥ ३८ ॥ फेरिभी कामका वैरित्व प्रकाश करते है कि विवेक ज्ञान सद् काम से आवृत होता है यद्यपि अज्ञानी मनुष्य को यह काम भोग समय मे सुख का हेतु है पर तौ भी शेष मे वैरभाव प्रगट करता है इसी से ज्ञानी लोगों को भोगकाल मे भी अनर्थ हो जानि पडता है क्यों कि यह काम दुख का कारण है हे कौन्तेय अर्जुन देखो यह काम अनेक दिन विषयभोग करते भी सन्तोष नही पावता दिन दिन और औरइच्छा बढती ही जाती है जैसे आग इन्धन पाय अधिक अधिक बढती है और सन्तुष्ट नही होती है और जो कदाचित विषयभोग न मिला अथवा असामर्थ्यसे भोग ही न कर सकै तो शोक सन्ताप होता है इस से आखिरमे तो दुख छोड सुखका लेश भी नही है ॥ ३९ ॥ अब कामके रहनेकी जगह और इस के जय करने की उपाय दो श्लोक से कहते हैं कि विषयों का

ज्ञानमावृत्यदेहिनं॥४०॥ तस्मात्त्वमिन्द्रियान्यादौनियम्यभरतर्षभ । पाप्मानंप्रजहि ह्येनंज्ञानविज्ञाननाशनं॥४१॥ इन्द्रियाणिपराण्याहुरिन्द्रियेभ्यःपरंमनः । मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेर्यःपरतस्तुसः ॥४२॥ एवंबुद्धेःपरंबुद्ध्वासंस्तभ्यात्मानमात्मना । जहिशत्रुंम हावाहोकामरूपंदुरासदं ॥४३॥ इति कर्मयोगोनामतृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भाषा अनुवाद

इन्द्रियों के द्वारा भोग होता है और मन से सङ्कल्प रूप विषयवासना मानसिक कर्म तथा बुद्धि से निश्चय होना अर्थात् यह काम अवश्य करेंगे इन सब बातों से जाना गया कि मन बुद्धि औ इन्द्री ये कामना के आधार स्थान हैं अर्थात् उत्पत्ति औ रहनेकी जगह है सोई काम विवेक ज्ञानको आच्छादन कहे घेरि कर देही जो आत्मा उस को मोह युक्त कर देता है ॥ ४० ॥ तिस कारण से मोह होने के प्रथम हीं ये सब इन्द्री औ मन तथा बुद्धि को नियम्य कहे काबू करके या रोक कर इस पापरूप काम को हे भरतर्षभ अर्जुन अच्छी तरह नाश करो अथवा त्याग करो क्यों कि यह काम आत्मज्ञान और शास्त्रोक्त जो विज्ञान तिन दोनो का नाशक है ॥ ४१ ॥ अब जिस मे मनुष्य चित्त को सावधान करि आत्मा मे लगाय इन्द्रियोंको वश करने सके सोई आत्माका स्वरूप देहादिसे भिन्न देखावते हैं कि देह आदि वाह्य कहे बाहरके स्थूल पदार्थों से इन्द्री सूक्ष्म और पर हैं अर्थात् श्रेष्ठ है और इन्द्रियों से भी सङ्कल्पात्मक मन इन्द्रियों को विषयों मे प्रवृत्ति करा वनेवाला पर है अर्थात् सूक्ष्म औ श्रेष्ठ है अथवा इन्द्रियों से भिन्न जानो और मन की अपेक्षा निश्चय शक्तिरूप बुद्धि श्रेष्ठ है या भिन्न है क्यों कि मन के सङ्कल्प को यह बुद्धि रोक सकती है और जो बुद्धि से भी परे अर्थात् श्रेष्ठ किम्वा पृथक् और साक्षी रूप हो सब के अन्तर मे टिका है सो आत्मा है तिस को यह दुष्ट काम मोहयुक्त करता है ॥ ४२ ॥ अब कहते हैं कि विषय औ इन्द्रियों से काम आदि विकारयुक्त बुद्धि ही होती है और आत्मा निर्विकार बुद्धि का साक्षीरूप और उस से पृथक् है इस से आत्मा को श्रेष्ठ जानि और ऐसी निश्चयरूप बुद्धि से मन को निश्चल कर के हे महाबाहो दुख का दरवाजा निवारण करने के योग्य सद् कामरूपी दुष्ट दुर्जय शत्रु को जीतो ॥ ४३ ॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थ अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच। इमंविवस्वतेयोगंप्रोक्तवानहमव्ययं। विवस्वान्मनवेप्राहमनु
रिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥ एवंपरम्पराप्राप्तमिमंराजर्षयोविदुः। सकालेनेहमहता
योगोनष्टःपरन्तप ॥ २ ॥ सएवायंमयातेऽद्ययोगःप्रोक्तःपुरातनः। भक्तोऽसिमे

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण भगवान आप ही अपना आविर्भाव कहे प्रगट होना और तिरोभाव कहे परमधाम का जाना तिस के प्रकाश करनेके निमित्त सामवेदके अन्तर्गत जो ब्रह्म प्रतिपादक तत्वमसि महावाक्य है तिसके तत्पद औ त्वम्पदके विचार करनेके अर्थ कर्मयोग की प्रशंसा करते गीताशास्त्र की अभिप्राय जो प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण ज्ञानयोग औ कर्मयोग सो दो अध्याय से कहि चुके यह मानते हुये अब वंशके कथन से उस कर्मयोग की स्तुति करतेहै कि यही कर्मयोग मैने पूर्वकाल मे सूर्य के प्रति से कहा था और सूर्यने अपने पुत्र आद्य देव मनु से कहा औ मनुने फेरि अपने पुत्र इच्वाकु राजा से कहा था ऐसेही परम्परा वह कर्मयोग चला आता था ॥ १ ॥ इसी प्रकार इस कर्मयोग को परम्परा प्राप्त कहे एक से दूसरा दूसरे से तीसरा ऐसे राजऋषि लोग जानते चले आतेथे पर अब हे परन्तप शत्रुतापन अर्जुन वह कर्मयोग बहुत काल पाय कर नष्ट हो गया है ॥ २ ॥ सोई कर्मयोग जो परम्परा सम्प्रदाय से संसार मे न रहा तिस को अब फेरि हमने तुम से कहा क्योंकि तुम हमारे भक्त और मित्र भी हौ नहीं तो मैने फेर और किसी से इस को नहीं कहा और न कोई मेरा भक्त छोड इस के कहनेके योग्य है ॥ ३ ॥ अब

सखाचेतिरहस्यंह्येतदुत्तमं ॥ ३ ॥ अर्जुनउवाच। अपरंभवतोजन्मपरंजन्मविव
स्वतः। कथमेतद्विजानीयांत्वमादौप्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥ श्रीभगवानुवाच। बहूनि
मेव्यतीतानिजन्मानितवचार्जुन। तान्यहंवेदसर्व्वाणिनत्वंवेत्थपरन्तप ॥ ५ ॥ अजोऽ
पिसन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिंस्वामधिष्ठायसम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

भाषा अनुवाद

भगवानने ऐसे कहा कि प्रथम हमने सूर्य से यही कर्मयोग कहा था तब तो अर्जुन सन्देह युक्त होय पूछा कि हे महाराज अपर कहे इस समय मे तो आप का जन्म भया है और पर कहें पूर्व काल मे विवस्वान जो सूर्य तिन का जन्म भया था इस से नवीन जो आप सो प्राचीन सूर्यके प्रति कर्मयोग जो कहा यह, हम किसतरहसे जानें कि तुम ने सूर्य से प्रथम कहा था यह हमै असम्भवसा जानि पड़ै है। दूसरा अर्थ या अपर कहे और भी पूर्वकालमे आपका जन्म भयाथा कि सूर्यही का पर कहे इस समयमे कोई जन्म और भयाहै नही तो यह आप का कहना असंभव हैं तो हम कैसे जानै कि तुमने सूर्यसे योग प्रथम कहा है ॥४॥ तब तो श्रीभगवान बोले कि हे अर्जुन हां मैने और जन्म मे उपदेश किया था सन्देह न करो हमारे और तुमारे भी बहुत जन्म होय वीते हैं पर उन सब को हम जानते हैं और तुम नहीं जानते हो क्यों कि हमारी ज्ञान शक्ति बनी रहती है तुम अविद्या कहे अज्ञान से आहृत कहे घेरे भये हो ॥ ५ ॥ जो कहो कि अनादि जो तुम तुमारा जन्म कैसे और अविनाशी हो तुम तुमारा पुनर्जन्म ही वा कैसे सम्भव होय जो कहते हो कि बहुत जन्म हमारे व्यतीत भये हैं और फिर भी तुम ईश्वर तुमारे पुन्य औ पाप दोनोभी नहीं तौ फेरि जीवकी नाई तुमारा जन्म कैसे सम्भव हो सकै तिस पर कहते हैं कि हां यह बात तो ठीक है पर हम जन्म रहित और अविनाशी स्वभाव होके भी तथा ईश्वर अर्थात् कर्म के वश नहीं भी है पर तौ भी अपनी माया के द्वारा स्व इच्छा से प्रगट होते हैं और जो कहो कि तौ भी पञ्च ज्ञानइन्द्री औ पञ्च कर्मइन्द्री पञ्च प्राण और एक अन्तःकरण ये सोरह कलारूप लिङ्ग शरीर के विना किस तरह जन्म होना सम्भवै है इस पर भगवान कहतेहैं कि हम अपनी शुद्धसत्वात्मक प्रकृतिको स्वीकारकरिके अतिजाज्वल्यमान

यदायदाहिधर्मस्यग्लानिर्भवतिभारत । अभ्युत्थानमधर्मस्यतदात्मानंसृजाम्यहं ॥
७ ॥ परित्राणायसाधूनांविनाशायचदुष्कृतां । धर्मसंस्थापनार्थायसम्भवामियुगे
युगे ॥ ८ ॥ जन्मकर्मचमेदिव्यमेवंयोवेत्तितत्त्वतः । त्यक्त्वादेहंपुनर्जन्मनैतिमामे
तिसोऽर्जुन ॥ ९ ॥ वीतरागभयक्रोधामन्मयामामुपाश्रिताः । बहवोज्ञानतप

भाषा अनुवाद

सत्वमूर्त्तिसे स्वेच्छाधीन अवतार लेते हैं ॥ ६ ॥ तो अपनी इच्छासे कब आप जन्म ग्रहण करते हो इस अपेक्षा पर भगवान कहते हैं कि हे भारत भरतवंशी अर्जुन जब जब धर्मकी ग्लानी अर्थात् हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान कहे वृद्धि होती तब तब हम शरीर धारण करते हैं ॥ ७ ॥ जो कहो कि कैसे समय मे आप क्यों शरीर धारणकर अवतरते हो तो कहते हैं कि साधु कहे स्वधर्मके करनेवाले लोग उनकी रक्षा और दुःकृत कहे अधर्मी पापी जनों के नाशके हेतु मै जन्म लेता हूं इस से यह आया कि धर्मका स्थापन औ साधु का रक्षण दुष्टोंका वध करिके धर्मकी वृद्धि करने को सोई सोई समय मे मै शरीर ग्रहण करता हूं यही कहा कि सम्भवामि युगे युगे जो कोई शङ्का करै कि दुष्ट नाश करनेसे भगवानकों निर्दयता आवती है तो ऐसा कभी कहना नहीं देखो माता पिता गुरु ये जो पुत्र शिष्यको शिक्षाके लिये ताड़न करते हैं तो क्या निर्दई हैं ऐसे ही ईश्वर गुण दोष नियमके अर्थ दण्ड देते हैं किन्तु शत्रुता से नहीं ॥८॥ अब अपने जन्म कर्म जाननेका फल कहते हैं कि हमारे स्वेच्छासे दिव्य कहे अलौकिक आश्चर्यरूप जो जो जन्म औ कर्म केवल लोकके अनुग्रहार्थ हैं तिन के तत्त्व पूर्वक जाननेसे लोग देह अभिमान छाड़ि फेरि संसारमे जन्मग्रहण नही करतेहैं बलु हमारे ही को प्राप्त होते अर्थात् आवागमन से रहित होते हैं ॥ ९ ॥ जो कहो कि ईश्वरके जन्म कर्म जानने हीं से कैसे ईश्वर प्राप्त होय है इस पर कहते हैं कि शुद्ध सतोगुण से अवतार ले हमारी जो परम दयालुता के कर्म तिन के जानने से सतो गुणके द्वारा सत्त्व वृद्धि होती है फेरि वे लोग संसार से विगतस्नेह औ गत क्रोध निर्भय होय मेरे आश्रित मद्रूप अर्थात् मत्स्वभाव वर्त्ततेरे ज्ञान सम्पन्न परम पवित्र हो मद्भाव को प्राप्त भये अर्थात् मेरे स्वरूप मे लीन हो गये हैं ॥ १० ॥

सांप्रतामज्ञावमागता ॥ १० ॥ येयथामांप्रपद्यन्तेतांस्तथैवभजाम्यहं। ममवर्त्मानु
वर्त्तन्तेमनुष्याःपार्थसर्वशः ॥ ११ ॥ कांक्षन्तःकर्मणांसिद्धिंयजन्तइहदेवताः। क्षिप्रं
हिमानुषेलोकेसिद्धिर्भवतिकर्मजा ॥ १२ ॥ चातुर्वर्ण्यंमयासृष्टंगुणकर्मविभागशः।

भाषा अनुवाद

तो तुमारे भी क्या विपरीत भाव कहे स्वपर बुद्धि है जिस हेतु शरणागत को कृपाकरि आत्मस्वभाव देते और दूसरे को नहीं देते हौ इस का सिद्धान्त कहते है कि हेपार्थ अर्जुन जो मनुष्य जब जिस प्रकार अर्थात् सकाम या निःकाम रूप हमको भजते सेवते है उनको वैसे ही फलप्रदान करिके मैंभी अनुग्रह करता हूं और कामना करके जो लोग इन्द्र आदि देवतों का भजन पूजन करते है उनका अनादर या त्याग हम नहीं करते है कारण यह कि जिस किसी की पूजा भजन करै वह मेरी ही पूजा होती है क्यों कि सर्व्व रूपमय मैंहीं हूं सो हे पार्थ मेरी ही राह मे सब मनुष्य वर्त्तमान है पर जैसी जिसकी भावना तैसा तिस को फल मिलता है इस से सकाम लोगों को कर्म्मानुसार फल लाभ देखाया और निःकाम पुरुष तो मेरा रूप ही है ॥११॥ जो ऐसा कहो कि तौ फेरि मोक्षही के वास्ते सब लोग भगवत का आराधन क्यों नहीं करते है इसपर कहते है कि मनुष्य लोकके बहुतेरे लोग कर्म्मफल की अभिलाषा करि इन्द्र आदि देवतों की सेवा करते और साक्षात् हमारी सेवा नही करते है क्यों कि कर्म्मसे फल शीघ्र प्राप्त होता और मेरी साक्षात् सेवासे ज्ञान का फलरूप जो मुक्ति सो दुःप्राप्त है बड़े कठिनसे चिरकालमे मिलती है ॥ १२ ॥ और जो कहो कि चारो वर्णके कर्त्ताभी तुमहीं हो और अनेक प्रकारके कर्म्म भी वेदके द्वारा तुम्हीने कहा है फेरि उन्ही कर्मों के करनेवाले ब्राह्मण आदि वर्णों को उत्तम औ अधम कर्म्मभी तुमने कहा है तो इस सब के करने औ कहने वाले एक तुम ठहरे फेरि किसी की प्रवृत्ति सकाम कर्म्म मे और किसी की निष्काम मे जो होती है तो कहो वैषम्य दोष कहे विषम स्वभाव तुमारा क्यों नहीं है इन बातों से अलबत्ते तुमको पक्षपात दोष हो सकता है इसके उपर भगवान कंहते है कि हां चातुर्वर्ण्य कहे सतोगुण प्रधान जो ब्राह्मण उनके कर्म्म शम दम उपरति तितिक्षा समाधान यज्ञ है और सत्त्व रज

तस्यकर्त्तारमपिमांविद्ध्यकर्त्तारमव्ययं ॥ १३ ॥ नमांकर्माणिलिम्पन्तिनमेकर्मफले स्पृहा। इतिमांयोऽभिजानातिकर्मभिर्न्नसबध्यते ॥ १४ ॥ एवंज्ञात्वाकृतंकर्मपूर्वै रपिमुमुक्षुभि.। कुरुकर्मैवतस्मात्त्वंपूर्वैःपूर्वतरंकृतं ॥ १५ ॥ किंकर्मकिमकर्मेति कवयोऽप्यत्रमोहिता.। तत्तेकर्मप्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

भाषा अनुवाद

प्रधान जो क्षत्री उनके कर्म भूमि रक्षा प्रजापालन युद्ध आदिक हैं और रजोगुण सतोगुण प्रधान जो वैश्य तिन के कर्म व्यापार खेती आदिक है और तमोगुण प्रधान शूद्र का कर्म इन तीनो वर्ण की सेवा रूप है सो यह बात ठीक है पर जो भी हम इनके कर्त्ता हैं तौभी अकर्त्ताही जानो क्योंकि हम अव्यय हमारी आसक्ति इन कर्मोंसे नही है ॥१३॥ वही कर्म की आसक्ति देखलाते हुये भगवान कहते है कि देखो विश्वसर्जन आदि कर्म हमको नही लगते और न कर्मफलकी इच्छा हमै रहती है क्योंकि हम निरहङ्कार कर्म करते है और पूर्ण काम है इससे कोई विषयके श्रवण दर्शनादि से हमारी भोगमे इच्छा नही होती तो ये कर्म हमै कैसे आसक्त कर सकैं और तुम को क्या कहैं देखो जो मनुष्य हम को कर्म मे निर्लिप्त जानते है वे भी कर्मबन्धमे नही पडते कारण यह है कि जो हमारे निर्लेपताके हेतु अन अहंकार औ निस्पृहत्व है सो उन ज्ञान कार पुरुष के भी शिथिल होते कहे नाम मात्र को रहजाते है और कुछ काम देखने योग्य नही रहते है ॥१४॥ अब ऐसे चारि श्लोकसे प्रसङ्ग प्राप्त ईश्वर के वैषम्य दोष को दूर करते हुये पूर्व कथित कर्मयोग को विस्तार करि कहते है कि अहङ्कार रहित किया हुआ कर्म ज्ञानका बाधक नहीं होता है यह जानि करि के पूर्व कालके मुमुक्षु जन जनक आदिकों ने किया था इससे तुमभी अभी इस प्रथम अवस्थामे कर्म करो अब ज्ञानअवस्था प्राप्त होगी आपही सब कर्म छूट जांयगे अभी छोडनेसे सतोगुण की शुद्धि होना अति दुर्घट हैं देखो और और युगमे भी लोगोने प्रथम कर्मको किया है यह कर्म युग युगान्तरसे किया चला आता है ॥ १५ ॥ और देखो तत्त्वज्ञानी के साथ विचार करके कर्म करना चाहिये केवल भेडियाधसंतकी नाईं लोकपरम्परा प्राप्त देखकर करना अनुचितही जानो यह कहते है कि देखो कौन कर्म कर्त्तव्य

कर्मणोह्यपिवोद्धव्यंवोद्धव्यञ्चविकर्मण. । अकर्मणश्चवोद्धव्यंगहनाकर्मणोगतिः ॥
१७ ॥ कर्मण्यकर्मय पश्येदकर्मणिचकर्मयः । सबुद्धिमान्मनुष्येषुसयुक्तःकृत्स्न

भाषा अनुवाद

और कौन अकर्त्तव्य है इस कर्म अकर्म के विचार मे कवि कहे वडे वडे पण्डित भी मोहित होजाते पता नहीं लगता है इससे जिस कर्मके करने से इस अशुभ संसार से मुक्त होउगे सो और अकर्म जो अकरणीय कर्म ये दोनो हम तुमसे कहते है सो सावधान हो सुनो जिसको जानि करिके अशुभ संसार से छूट मुक्त हो जावगे ॥ १६ ॥ जो कहो कि मन वचन देह के व्यापार ही तो कर्म है और देहादि व्यापार का अभाव ही अकर्म है यही तो लोकमे प्रसिद्ध है फेरि जो आप ने कहा कि पण्डित लोग भी कर्म अकर्म के विषय मे मोह को प्राप्त होते हैं सो कैसे इस वात पर कहते है कि कर्म तो शास्त्रविहित व्यापार का तत्त्व जानि करके कर्त्तव्य है केवल लोक व्यवहार देखि अवश्य कर्त्तव्यकर्म नहीं और अकर्म तो संन्यास आश्रम अङ्गीकार करि शास्त्रकी रीतसे कर्मका त्याग करना पर तत्त्व ज्ञानवान हो कर उचित है और विकर्म जो निषिद्ध कर्म उसका भी तत्त्व जानना आवश्यक है क्योंकि सव कर्मोंकी गतिका ज्ञान होना कठिन है सोई कहाकि कर्म की गति गहन कहे वडी कठिन सहज से जानने जोग नहीं है ॥ १७॥ जो कहा कि कर्मकी गति गहन कहे जानवे जोग नही है और कहा कि कर्म अकर्म निषिद्ध कर्म का तत्व जानिकर कर्म को करै सोई कर्मगति की कठिनाई देखावते हुये भगवान वह तत्त्व कहते है कि जिस के यथार्थ ज्ञानमे पण्डितभी मोहित होते औ जिस के ज्ञानसे इस संसार से छूट जाते है उस को मै कहताहूं तुम सुनो यह प्रतिज्ञा जो करी थी सो अब कहते है कि भगवत आराधन रूप कर्म जब कि किसी तरह ज्ञान होने मे वाधा नही करता तो वह क्या कर्म है उस को अकर्म ही अर्थात् कर्म संन्यास ही जो देखते है सोई कहा कि कर्मण्य कर्म य पश्येत् और शास्त्र विहित कर्म न करने से दोष होता है फेरि वही न करना ज्ञान का प्रतिबन्धक कहे वाधा का हेतु होता है इस से शास्त्रोक्त कर्म को न करना ही जो अकर्म उसी को कर्त्तव्य जो देखते है वेई लोग कर्मकारी पुरुषोंके

कर्मकृत् ॥ १८ ॥ यस्यसर्वेसमारम्भाःकामसङ्कल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणंतमाहुःपण्डितंबुधाः ॥ १९ ॥ त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गंनित्यतृप्तोनिराश्रयः। कर्म

भाषा अनुवाद

मध्यमे बुद्धिमान है उन्ही की प्रसंशा करते है कि ऐसे ही कर्म्म अनुष्ठान करते जो ज्ञानयोग को प्राप्त होते सोई योगी पुरुष है और उनको भगवत आराधन रूप कर्म्म के अन्तर्भूत कहे अङ्गभूत समस्त कर्म्म करना आय गया है। वही कहा कि स युक्त कृत्स्न कर्म्म कृत्। इससे यह आया कि ज्ञानमार्ग मे जाने की इच्छा जिस को है उस को कर्मयोगअवस्था मे कर्म करना उचित है सोई ३ अध्यायके ४ श्लोक मे कहा कि न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषो श्नुते और सम्पूर्ण ज्ञान होने से फेरि कर्म का कुछ आवश्यक नहीं है सोई ३ अध्याय के १७ श्लोकमे कहा कि यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानव इति ये दोनो बातें इस श्लोक से अच्छी तरह कही गईं और जो कर्मेन्द्रियाणि संयम्य यह ३ अध्याय के ८ श्लोक से कहा इन्द्रियो से आत्मा भिन्न है तथा कोई कर्म नहीं कर्ता है ऐसे जानि दृढ समाधि मे जो रहते हैं और अनायास कहे वे मांगे प्राप्त भये अन्न को भोजन कर लेते वे सकल कर्म करते भी योगी है और उन को विकर्म औ निषिद्ध कर्म श्वगमांस भोजनादि दोष भी नही हैं क्यों कि उन्हे उस वस्तु का आग्रह नही है परन्तु अज्ञानी को आग्रह औ उस मे रुचि है तो वेशक श्वगमास खाने से दोष है इस से निषिद्ध कर्म का तत्त्व कहा यही तत्त्व जानि सब कर्मों मे प्रवृत्त होना मै ने कहा है सो जानो ॥ १८ ॥ नव कर्माण्य, मश्येत् इस श्लोकसे श्रुति का तात्पर्य जो कहा सोई पांच श्लोक से स्पष्ट करके कहते हैं कि जिस के सब समारम्भ कहे कर्म्म कामसंकल्प वर्जित अर्थात् कामना रहित है उसी को बुध कहे बुद्धिमान लोग पण्डित कहते हैं जिससे कर्म अनुष्ठान के द्वारा शुद्धचित होने से प्रगट हुये ज्ञान अग्निसे सकल कर्म दग्ध हो जाते है फेरि कर्मबन्ध उसको नही होता है और ज्ञानारूढ अवस्था मे कामका अर्थ कर्म्म फल और उसके अर्थ यह कर्म्म हम को करना उचित है परन्तु ज्ञान आरूढ पुरुष इन दोनो से भी रहित है सोई कहा कि जिस के सब समारम्भ कामना

एवभिप्रवृत्तोऽपिनैवकिञ्चित्करोतिसः ॥ २० ॥ निराशीर्यतचित्तात्मात्यक्तसर्व्व परिग्रहः । शारीरंकेवलंकर्मकुर्व्वन्नाप्नोतिकिल्बिषं ॥ २१ ॥ यदृच्छालाभसन्तु ष्टोद्वन्द्वातीतोविमत्सरः । समःसिद्धावसिद्धौचकृत्वापिननिबध्यते ॥ २२ ॥ गत

भाषा अनुवाद

रहित होंं सो पण्डित है ॥ १९ । और सर्व कर्म तथा कर्म के फल मे आशक्ति छोड कर नित्य आनन्दरूप आत्मा के सन्तुष्ट मनुष्य अप्राप्त वस्तु की चेष्टा औ प्राप्त का पालन इन दोनो से दूर है इसी से वे कोई कर्ममे प्रवृत्त होयं पर उनका वह कर्म कर्म नहीं है अर्थात् उसके सब कर्म अकर्मता को प्राप्त है सोइ कहते है कि कर्मके फल औ संग जो आसक्ति तिसे छोडि नित्य आत्मसुख से तृप्त वेपरवाह जो कर्ममे प्रवृत्तभी है पर वह कुछभी नहीं करता है यह जानो ॥२०॥ विक्षेप कारी कर्महो को तो शास्त्र बन्धनका हेतु कहते है और आपने तो कर्मकी प्रसंशा करि जनकादिक को दृष्टान्त देखाय प्रथम अवस्थामे अधिकार औ ज्ञानप्राप्त भये भी निरहङ्कार कर्म करने से अदोष कहा इससे सर्वथा कर्म करना प्राप्त होता है इस सन्देह पर भगवान कहते है कि जो सर्व कामना परित्याग करि निष्कामहो तथा मन इन्द्री शरीर अपने वशीभूत राखि सकल विषयसे निवृत्त है और शरीर निर्वाह मात्र के अर्थ कर्तृत्व अभिमान रहित होय कर्मों को करते हुये भी वे मनुष्य कर्मबन्धको नहीं प्राप्त होते है अर्थात् कर्मजनित किल्बिष जो पाप सो नहीं लगता है सोई कहा कि निराशीर्यत चितात्मा त्यक्त सर्व परिग्रह. ॥ २१ ॥ और यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट कहे मागे विना आपसेआप प्राप्त जो यथालाभ तिससे जो सन्तुष्ट है अर्थात् उत्तम अधम अधिक अल्प लाभसे हर्ष विषाद रहित है और शीत उष्ण हानि लाभ सुख दुःख वैर प्रीति आदि द्वन्द्वभाव रहित हैं तथा सिद्धि असिद्धि मे समभाव है वे पुरुष कर्म करते भी संसार गति को नहीं प्राप्त होते अर्थात् कर्म बन्धनमे नही पडते हैं सोई कहा कि यदृच्छा लाभ सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरइति ॥ २२ ॥ और भी कहते हैं कि गतसंगस्य कहे जिसका देह गेह औ विषय से संग कहे आसक्ति चली गई है औ काम क्रोध से मुक्त कहे छुट गया है और चित्त ज्ञानरूप परब्रह्म मे स्थित है ऐसे गुणो से युक्त मनुष्य के यज्ञ रक्षार्थ

सङ्गस्यमुक्तस्यज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतःकर्मसमग्रंप्रविलीयते॥ २३॥
ब्रह्मार्पणंब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैवतेनगन्तव्यंब्रह्मकर्मसमाधिना॥
२४॥ दैवमेवापरेयज्ञंयोगिनःपर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरेयज्ञंयज्ञेनैवोप

भाषा अनुवाद

किम्वा लोकशिक्षार्थ या शरीर यात्रार्थ अथवा भगवदाराधनार्थ किये हुये सम्पूर्ण कर्म्म वासना समेत विलीन हो जाते हैं॥२३॥ जो यह शङ्का करो कि धर्म्मशास्त्र तो वेदका अर्थही है और तिसमे लिखते हैं कि नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म अर्थात् विना भोग किये कर्म क्षीण नही होता कर्म का फल भोगना हीं पड़ता है तो इस पर कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रिया औ कारक तथा फल रूप जो कुछ द्वैत है सो सब ब्रह्म मात्र कहे ब्रह्म छोड और कुछ नहीं है ऐसे ज्ञानवान ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप पुरुष के यावत कर्म विलीन हो जाते हैं इस मे कुछ सन्देह नहीं सोई उप निषद मे कहा है कि ब्रह्मविदो ब्रह्मैव सर्व्वं क्रिया कारक फलजातं भवति। सोई कहते हैं कि ब्रह्म के अर्थ और ब्रह्म ही हवि तथा ब्रह्म रूप अग्नि मे ब्रह्म हीं ने दिया है इस प्रकार जो जानता है अर्थात् होम अग्नि स्रुवा हवि कर्त्ता क्रिया घृत आदि सब सामग्री और जिस को दिया जाय यह सब जो है सो ब्रह्म व्यतिरेक और नहीं है ब्रह्मकर्म मे है समाधि कहे चित्तवृत्ति जिस की सो अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होता है जैसे इन कर्मों की कर्म्म मे गिनती नहीं तैसे ही भगवत आराधन कर्म की भी कर्म मे गणना नहीं है ऐसे कर्म जो है सो अकर्म हीं है कोरि इन का फल भोगना कहा है और जो फल है तो ब्रह्म या भगवत प्राप्ति रूप ही है और दूसरा नहीं॥ २४॥ पूर्व्वोक्त प्रकार यज्ञरूप से सर्व्वत्र सम्पादित कहे प्रसिद्ध कर के कहा जो ब्रह्मदर्शन रूप ज्ञान सो सकल यज्ञों का हेतु कहे उसी के वास्ते सब यज्ञों की जाती है अतएव श्रेष्ठ है इसी से अब इस ज्ञान की प्रशंसा कर के अधिकारी के भेद से ज्ञान के उत्पत्ति की उपाय रूप सब यज्ञों को ८ श्लोक से कहते हैं कि कईतेरे कर्मयोगी लोग, ब्रह्मबुद्धि रहित हो इन्द्र वरुण आदि देवतों को यज्ञ करि के वडी श्रद्धा से पूजते हैं और कितने ज्ञान योगी ब्रह्मरूप अग्नि मे ब्रह्मयज्ञ रूप उपाय से यज्ञ आदि

जुह्वति ॥ २५ ॥ श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्येसंयमाग्निषुजुह्वति। शब्दादीन्विषया
नन्यइन्द्रियाग्निषुजुह्वति ॥ २६ ॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणिप्राणकर्माणिचापरे। आ
त्मसंयमयोगाग्नौजुह्वतिज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञायोगयज्ञास्तथा
परे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्चयतयःसंशितव्रताः ॥ २८ ॥ अपानेजुह्वतिप्राणंप्राणेऽ

भाषा अनुवाद

सकल कर्म रूप ब्रह्म मे ब्रह्मार्पण विधि से अर्पण कहे सब कर्म लीन करते है सोई ब्रह्मयज्ञ है ॥ २५ ॥ ऐसे ही कितने ब्रह्मचारी लोग इन्द्रियों का संयम जो विषयों से रोकना सोई अग्निरूप है तिस मे श्रोत्र घ्राण जिह्वा त्वक चक्षु इन ज्ञान इन्द्रियों को होम करते अर्थात् इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर के संयम से रहते है और कितने गृहस्थ जब इन्द्रिय रूप अग्नि मे हवि रूप जो विषय कहे रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द सो होम करते है विषय भोग समय मे भी अनासक्त हो के अग्निरूप इन्द्रियोंमे रूप रस आदि विषयरूप घृत होम करते है कहे दग्ध करते निरहङ्कार हो कर फल रहित होते है ॥ २६ ॥ और बहुतेक ध्यानी पुरुष श्रोत्रादि ज्ञान इन्द्रियों के श्रवण आदि कर्म तथा वाक् आदि कर्म इन्द्रियों के कार्य्य वचन आदि और प्राण अपान उदान व्यान समान नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जय यें शरीर की दश वायुओं के कर्म जो बहिर्गमनादि है सो सब आत्म संयम योग अग्नि मे होम करते है अर्थात् ध्यान के द्वारा चित्त की एकाग्रता रूप ज्ञान से दीपित योग अग्नि मे होमते कहे लीन करते हैं अर्थात् धेय कहे ध्यान के विषय को ध्यान के द्वारा प्रज्वलित ज्ञानदीप की प्रकाश से वही धेय कहे ध्यानयोग्य ब्रह्म को अच्छी तरह जान कर और उसी मे मन को संयम कहे युक्त करि के सकल कर्म को दूर कर देते है ॥ २७ ॥ और लोक मे कितने पुरुष द्रव्य दान हीं को परम यज्ञ जानि द्रव्य दानरूप यज्ञ करते और बहुतेक मनुष्य कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादश वार्षिक व्रत आदिक मे चित्त लगाय तपरूप यज्ञ करते है फेरि कितने जन योगशास्त्रोक्तनेतीधौतीभस्त्रा औ प्राणायाम आदि योग करके चित्तवृत्ति के बोधरूप योग यज्ञ मे तत्पर है और बहुतेरे वेद शास्त्र के अध्ययन मनन को स्वकर्म जानि तदर्थ ज्ञान हीं को सर्वस्व मानि स्वाध्याय

पानंतथापरे । प्राणापानगतीरुद्ध्वाप्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥ अपरेनियता
हाराःप्राणान्प्राणेषुजुह्वति । सर्वेऽप्येतेयज्ञविदोयज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप यज्ञ करते है परन्तु जो इन्द्रीजित औ व्रत मे तत्पर है तेई ये सब यज्ञों कर सकते हैं ॥ २८ ॥ और कितने हठ योगाभ्यासी मनुष्य अपान वायु मे प्राण वायु को पूरक प्राणायाम के द्वारा खैंचि कर होम करते हैं अर्थात् पूरक समै मे प्राण अपान एक कर देते है और कोई कुम्भक प्राणायामसे प्राण अपान वायु को ऊर्द्ध अधोगमन रोंक कर रेचक काल मे अपान वायु को प्राणवायु मे खैंचि ले कर होम कहे लीन कर देते है ऐसे ही पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राणायाम मे तत्पर रहते है और कोई कोई लोग आहार घटाय इन्द्री शिथिल कर के सोई सोई इन्द्रियवृत्तिका लय रूप होम करते हैं अथवा पूरक रेचक दोनो श्वासा बन्द कर हंस औ सोहं इस को अनुलोम विलोम कहे उलट पुलट रूप अजपा मन्त्रके द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से कथित जो तत्पद औ त्वं पद तिन के अर्थ के अनुसार ब्रह्म जीव की एकता अर्थात् सो ब्रह्म हम हैं और हम सो ब्रह्म हैं ऐसी भावना करते है और कोई प्राणायामहीं को यज्ञ कहते अर्थात् उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करि औ एक भाग पानीसे पूर्ण करि और वायुके संचारार्थ चतुर्थ भाग खाली राखि शास्त्रविधि के अनुसार परिमित अहारी जन कुम्भक के द्वारा प्राण अपान की गतिरोध करि प्राण दमनशील हो सब इन्द्रियों को प्राणवायु मे होमकरते है अर्थात् कुम्भक से सब प्राण एक हो जाते और इन्द्रीयगण लय को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥ एही पूर्वोक्त बारह प्रकार के यज्ञकारीयों को प्राप्य फल भगवान कहते है कि ऐसी यज्ञरूप क्रिया जिन की जानी है और इन यज्ञों से जिन के पाप क्षय हो गये है और यज्ञ समाप्त करके पीछे शास्त्रविहित अमृतरूप अन्न भोजन करते है फेर तत्त्वज्ञान के द्वारा नित्य सत्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो कहा कि ये सब यज्ञवित् यज्ञ से नष्ट कल्मष कहे निःपाप होय यज्ञशिष्ट अमृतभोगी सनातन ब्रह्म को जाते कहे प्राप्त होते है ॥ ३० ॥ अब यज्ञ न करने मे दोष कहते है कि देखो यज्ञ न करनेवालों को यह अल्प सुख जो मनुष्य लोक सोई नहीं

यज्ञशिष्टामृतभुजोयान्तिब्रह्मसनातनं । नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यःकुरुसत्तमः ॥
॥ ३१ ॥ एवंबहुविधायज्ञावितताब्रह्मणोमुखे । कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञा
त्वाविमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञःपरन्तप । सर्वंकर्माखि
लंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते ॥ ३३ ॥ तद्विद्धिप्रणिपातेनपरिप्रश्नेनसेवया । उपदे

भाषा अनुवाद

मिलता है तो परलोक सुख फेरि कहा प्राप्त होना हैं इस से यज्ञ को निश्चयसे करना चाहिये हे कुरुसत्तम ॥ यह कैमुतिक न्यायसे देखाया है ॥ ३१ ॥ ज्ञान यज्ञ की प्रशंसा करने के अर्थ अब सब यज्ञों की चर्चा करि न्यून अधिक तारतम्य देखावते हुये कहते हैं कि नाना प्रकार की यज्ञी वेदरूप मुख से प्रत्यक्ष विहित है पर तौ भी मन वचन शरीर के कर्म से उत्पन्न जो यज्ञ है सकल आत्मस्वरूप स्पर्श से रहित जानो अर्थात् उन से आत्मज्ञान नही होता क्यों कि आत्मा कर्मों का अगोचर कहे कर्मसे प्राप्य नहीं है इस से तुम ज्ञाननिष्ठ होय संसार से मुक्त होउगे यह जानो ॥ ३२ ॥ अब ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस लिये आत्म व्यापार रहित जो द्रव्यमय देवता के अर्थ यज्ञ है तिस से ज्ञान यज्ञ ही श्रेष्ठ जानो और यद्यपि ज्ञान यज्ञ मानसिक व्यापार के आधीन है तथापि आत्मा का स्वरूप जो ज्ञान सो केवल मन का परिणाम अर्थात् ब्रह्मरूप होना मात्र है और ज्ञान कुछ मानस व्यापार से प्रगट नहीं है और ज्ञान की श्रेष्ठता मे हेतु यह है कि फलके सहित सर्व कर्म तत्त्वज्ञान के अन्तर्भूत है क्योंकि लोगोंके किये हुये सत्कर्म ज्ञान के अनुगामी कहे साथ होते है यह वेद मे कहा है सोई इस श्लोक मे कहा कि श्रेष्ठ है द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ हे परन्तप और सब कर्म हे पार्थ अर्जुन ज्ञान मे परिसमाप्त कहे लीन होते है इसी से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥ जो कहो कि भला जिस ज्ञान की ऐसी प्रशंसा करते हो सो किस प्रकार से प्राप्त होय तो ज्ञान के साधन कहे उपाय कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों के निकट जाय नम्रता से प्रणाम कर प्रश्न करै कि किस कारण से हमको यह संसार भया और कैसे निवृत्त होगा और गुरू की सेवा शुश्रुषा करने से तुम को सो तत्त्वज्ञान मिलैगा और ज्ञानी जो शास्त्रज्ञ तथा तत्त्वदर्शी जो हैं वे तुम को उपदेश दे कर

पानंतथापरे। प्राणापानगतीरुद्ध्वाप्राणायामपरायणाः ॥ २६ ॥ अपरेनियता
हाराःप्राणान्प्राणेषुजुह्वति। सर्व्वेऽप्येतेयज्ञविदोयज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप यज्ञ करते है, परन्तु जो इन्द्रीजित औ व्रत मे तत्पर है तेई ये सब यज्ञों कर सकते हैं ॥ २८ ॥ और कितने हठ योगाभ्यासी मनुष्य अपान वायु मे प्राण वायु को पूरक प्राणायाम के द्वारा खैंचि कर होम करते हैं अर्थात् पूरक समै मे प्राण अपान एक कर देते है और कोई कुम्भक प्राणायामसे प्राण अपान वायु को ऊर्द्ध अधोगमन रोक कर रेचक काल मे अपान वायु को प्राणवायु मे खैंचि ले कर होम कहे लीन कर देते है ऐसे ही पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राणायाम से तत्पर रहते है और कोई कोई लोग आहार घटाय इन्द्री शिथिल कर के सोई सोई इन्द्रियवृत्तिका लय रूप होम करते है अथवा पूरक रेचक दोनो श्वासा शब्द कर हंस औ सोहं इस को अनुलोम विलोम कहे उलट पुलट रूप अजपा मन्त्रके द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से कथित जो तत्पद औ त्वं पद तिन के अर्थ के अनुसार ब्रह्म जीव की एकता अर्थात् सो ब्रह्म हम हैं और हम सो ब्रह्म हैं ऐसी भावना करते है और कोई प्राणायामहीं को यज्ञ कहते अर्थात् उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करि औ एक भाग पानीसे पूर्ण करि और वायुके संचारार्थ चतुर्थ भाग खाली राखि शास्त्रविधि के अनुसार परिमित अहारी वन कुम्भक के द्वारा प्राण अपान की गतिरोध करि प्राण दमनशील हो सब इन्द्रियों को प्राणवायु मे होमकरते है अर्थात् कुम्भक से सब प्राण एक हो जाते और इन्द्रीयगण लय को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ एही पूर्वोक्त बारह प्रकार के यज्ञकारीयों को प्राप्य फल भगवान कहते है कि ऐसी यज्ञरूप क्रिया जिन की जानी है और इन यज्ञों से जिन के पाप क्षय हो गये है और यज्ञ समाप्त करके पीछे शास्त्रविहित अमृतरूप अन्न भोजन करते है फेर तत्त्वज्ञान के द्वारा नित्य सत्य ब्रह्म को प्राप्त होते है सो कहा कि ये सब यज्ञवित् यज्ञ से नष्ट कल्मष कहे निःपाप होय यज्ञशिष्ट अमृतभोगी सनातन ब्रह्म को जाते कहे प्राप्त होते है ॥ ३० ॥ अब यज्ञ न करने मे दोष कहते हैं कि देखो यज्ञ न करनेवालों को यह अल्प सुख जो मनुष्य लोक सोई नहीं

यज्ञशिष्टामृतभुजोयान्तिब्रह्मसनातनं। नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यःकुरुसत्तमः॥
॥ ३१ ॥ एवंवहुविधायज्ञावितताब्रह्मणोमुखे। कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञा
त्वाविमोक्ष्यसे॥ ३२ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञःपरन्तप। सर्वंकर्माखि
लंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते॥ ३३ ॥ तद्विद्धिप्रणिपातेनपरिप्रश्नेनसेवया। उपदे

भाषा अनुवाद

मिलता है तो परलोक सुख फेरि कहां प्राप्त होना है इस से यज्ञ को निश्चयसे करना चाहिये हे कुरुसत्तम॥ यह कैमुतिक न्यायसे देखाया है॥ ३१॥ ज्ञान यज्ञ की प्रशंसा करने के अर्थ अब सब यज्ञों की चर्चा करि न्यून अधिक तारतम्य देखावते हुये कहते हैं कि नाना प्रकार की यज्ञीं वेदरूप मुख से प्रत्यक्ष विहित हैं पर तौ भी मन वचन शरीर के कर्म से उत्पन्न जो यज्ञ हैं सकल आत्मस्वरूप स्पर्श से रहित जानो अर्थात् उन से आत्मज्ञान नहीं होता क्यों कि आत्मा कर्मो का अगोचर कहे कर्मसे प्राप्य नहीं है इस से तुम ज्ञाननिष्ठ होय संसार से मुक्त होउगे यह जानो॥ ३२॥ अब ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस लिये आत्म व्यापार रहित जो द्रव्यमय देवता के अर्थ यज्ञ है तिस से ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ जानो और यद्यपि ज्ञान यज्ञ मानसिक व्यापार के आधीन है तथापि आत्मा का स्वरूप जो ज्ञान सो केवल मन का परिणाम अर्थात् ब्रह्मरूप होना मात्र है और ज्ञान कुछ मानस व्यापार से प्रगट नहीं है और ज्ञान की श्रेष्ठता मे हेतु यह है कि फलके सहित सर्व कर्म तत्त्वज्ञान के अन्तर्भूत हैं क्योंकि लोगोंके किये हुये सत्कर्म ज्ञान के अनुगामी कहे साथ होते है यह वेद मे कहा है सोई इस श्लोक से कहा कि श्रेष्ठ है द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ हे परन्तप और सब कर्म हे पार्थ अर्जुन ज्ञान मे परिसमाप्त कहे लीन होते है इसी से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है॥ ३३॥ जो कहो कि भला जिस ज्ञान की ऐसी प्रशंसा करते हो सो किस प्रकार से प्राप्त होय तो ज्ञान के साधन कहे उपाय कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों के निकट जाय नम्रता से प्रणाम कर प्रश्न करै कि किस कारण से हमको यह संसार भया और कैसे निवृत्त होगा और गुरु की सेवा शुश्रुषा करने से तुम को सो तत्त्वज्ञान मिलैगा और ज्ञानी जो शास्त्रज्ञ तथा तत्त्वदर्शी जो हैं वे तुम को उपदेश दे कर

व्यन्तितेज्ञानंज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥ यज्ज्ञात्वानपुनर्मोहमेवंयास्यसिपाण्डव। येनभूतान्यशेषेणद्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि ॥ ३५ ॥ अपिचेदसिपापेभ्यःसर्वेभ्यःपापकृत्तमः। सर्वंज्ञानप्लवेनैवद्वृजिनंसन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥ यथैधांसिसमिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेतथा ॥ ३७ ॥ नहिज्ञानेन

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञान सम्पन्न कर देयंगे सोई कहते हैं कि दण्डवत तथा प्रश्न औ सेवा करनेसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुम को ज्ञान उपदेश करैंगे और जैसे वन्ध औ मोक्ष तथा ज्ञान औ अज्ञान क्या वस्तु है सो कहैंगे॥३४॥ अब साढे ३ श्लोकसे तत्त्वज्ञानका फल कहते है कि तत्त्वज्ञान होने से फेरि और वन्धुवध निमित्त ऐसे मोह को न प्राप्त होउगे कारण यह कि ज्ञान सम्पति होनेसे अपने अज्ञानवशते प्रगट जो पिता पुत्र भाई वन्धु तिनको अपने आत्मासे भिन्न न देखोगे और साक्षात् परमात्मारूप हमसे और अपने आत्मा मे अभेद देखोगे सोई कहते कि जिसज्ञान को जानि के हे पाण्डव फेरि ऐसे मोह को न पावोगे और जिस मे सम्पूर्ण प्राणियो को अपने और मेरे मे देखोगे सो तत्त्वज्ञान महात्मों से मिलैगा ॥ ३५ ॥ और जो सव पापी मनुष्यो से भी तुम अधिक पापी होउ तौ भी पापरूप समुद्र को ज्ञान रूप नौकाके द्वारा अनायास उतरि जावगे तात्पर्य यह है कि जो तुमने कहा था कि पापमेवाश्रयेदस्मान् अर्थात् कुटुम्ब के मारने से हमैं वडाही पाप होगा और वन्धुवधरूप हृजिन कहे दुःख सागर के पार कैसे जायंगे सो यह अज्ञान से तुमारी भूल सहज उपाय आत्म ज्ञान से छूट जायगी ऐसे कहि कर श्रीभगवान ने ज्ञान का माहात्म कहा ॥ ३६ ॥ जो पूर्व श्लोक मे कहा कि ज्ञान नौका से पाप समुद्र को उतरि जाउगे सो ठीक है पर पाप तो वना रहा इस सन्देह पर दृष्टान्त दे कर कहते है कि हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि काठ समूह को भस्म कर देती है तैसे ही ज्ञानअग्नि भी प्रारब्ध कर्मको छोड और सम्पूर्ण सञ्चित आगामी कर्मो को नाश करती है इस मे कुछ सन्देह न करो ॥ ३७ ॥ तिस का कारण यह है कि संसारमे तप दान व्रत यज्ञ आदिके वीच ज्ञानके समान कोईभी चित्तशुद्ध नही करते है तो फेरि सव मनुष्य क्यो नहीं ज्ञान ही का अभ्यास करते

सदृशंपवित्रमिहविद्यते। तत्स्वयंयोगसंसिद्धःकालेनात्मनिविन्दति॥ ३८॥ श्रद्धा
वान्लभतेज्ञानंतत्परःसंयतेन्द्रियः। ज्ञानंलब्ध्वापरांशान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्चसंशयात्माविनश्यति। नायंलोकोऽस्तिनपरोनसुखंसंशयात्मनः॥४०

भाषा अनुवाद

इस पर डेढ़ श्लोक से कहते हैं कि बहुत काल कर्मयोग करने से शुद्धचित्त होय सहज में लोग आत्मा का तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं परन्तु निष्काम कर्मयोग रूप जो भक्ति तिसके विना तत्त्वज्ञान नहीं होता है सोई कहा कि न हि ज्ञानेन सदृशं ॥ ३८॥ और भी कहते हैं कि श्रद्धावान् कहे आचार्य्य तथा गुरू के उपदेश में विश्वास करि आस्तीक बुद्धि हो तत्पर कहे एक उसी उपदेशमें दत्तचित्त हो और इन्द्रियों को वश राखि कर वह तत्त्वज्ञान लाभ करैं हैं इसी से ज्ञान लाभ के पहिले श्रद्धापूर्वक चित्तशुद्धि के अर्थ निष्काम कर्म रूप भक्तियोग करना उचित है और ज्ञान होने पर ज्ञानी को फेरि अन्य कोई कर्म करना नहीं है सोई कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी ज्ञानलाभ के अनन्तर अचिरात् कहे अल्प काल में झट पट मोक्ष पावते हैं इस में सन्देह नहीं है॥ ३९॥ तत्त्वज्ञान के अधिकारी को कहि करि अब अनधिकारी जो अज्ञानी तिसका लक्षण कहते हैं कि एक तो शास्त्र औ गुरू तथा आचार्यका उपदेश कभी सुना नही और जो दैवात् सुनाभी तो समझा नहीं और जो कुछ किसी तरह समझाभी तो उस में श्रद्धा अर्थात् विश्वास न भई और जो किसी के कहने सुनने से विश्वास भी आई तो यह अर्थ कहे प्रयोजन हमारा सिद्ध होय कि न होय इस संशय में पड़ गये ऐसे लक्षणों से भरे पूरे जो अलक्षणी अज्ञानी लोग हैं उनका मतलब कभी नहीं होता अर्थात् अपने मनोरथ से भ्रष्ट होते हैं उनी को नष्ट प्राणी कहते हैं परन्तु उपर कहे जो अज्ञानी औ श्रद्धाहीन तथा संशयग्रस्त इन तीन पुरुषोंके मध्य में संशययुक्तचित्त मनुष्य अच्छी तरह अपने मनोरथसे भ्रष्ट होता है क्योंकि उसको हरकाम औ हर बातमें संदेह लगी रहती है क्या धन उपार्जन क्या विवाह क्या दान धर्म क्यों अपना सुख खाना पहिराना लेना देना आदि सब कामो में संशय के मारे क्षणभरभी सुख नहीं ह फेरि औरोंको देखि हम कुछ नहीं करते यह चिन्ता जुदी शिरपर चढ़ी रहती

योगसंन्यस्तकर्माणंज्ञानसंछिन्नसंशयं । आत्मवन्तंनकर्माणिनिवध्नन्तिधनञ्जय ॥
॥ ४१ ॥ तस्मादज्ञानसम्भूतंहृत्स्थंज्ञानासिनात्मन । छित्त्वैनंसंशयंयोगमा ति
ष्ठोत्तिष्ठभारत ॥ ४२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां ज्ञानयोगनामचतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

भाषा अनुवाद

है तौ फेरि संशयके कारण धर्म न होनेसे स्वर्गादिभी नही मिलता और संसारमे तो धन नाशकी सन्देह कर सासारिक सुखसे हाथ धोयही बैठे है तो उनको लोक परलोक के दोनो सुख चले गये केवल चिन्ता के चिता मे बैठे धीरे धीरे जरि जरायके माटीमे मिल गये मूर्खतासे वृथा जन्म चला गया कुछभी न बन पड़ा सोई कहा कि अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति इति इस से संशय छोडो ॥४०॥ दूसरे औ तीसरे अध्याय मे कहा जो कर्मनिष्ठा औ ज्ञाननिष्ठा सोई दो स्लोक से कहते है कि जिसने भगवत आराधनरूप सब कर्म अन्तर्यामी भगवान को अर्पित किया है ऐसा मनुष्य अपने कर्मफल से कभी बद्ध नही होता और हम कोई कर्म नही करते ऐसे बोध से जिस के देह गेह मे आत्मबुद्धिरूप संशय नष्ट हो गई है ऐसे पुरुषके लोक शिक्षार्थ भिक्षा पर्य्यटन आदि स्वभावसिद्ध कर्म कभी भी ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं होते हैं सोई कहा कि योग जो भगवदाराधन कर्म तिससे दिया है कर्मोको संन्यास जिसने और ज्ञानसे अच्छी तरह दूर किया है संदेहको जिसने ऐसे आत्मस्वरूप पुरुषको हे धनञ्जय अर्जुन कर्मबन्धन नहीं कर सकते हैं ॥४१॥ जब कि भगवदर्पणरूप निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोग ऐसा है तौ हे भारत अर्जुन आत्मविषयक अपने अज्ञानसे उत्पन्न औ अन्तःकरण मे टिके जो शोक मोह आदि सब संशय उन को देह आत्मा का विवेक कहे विचाररूप ज्ञानखड्ग से काटि कर बेखटक तुम उठो औ कर्मयोग का अनुष्ठान करो और उपस्थित जो युद्ध सो करो श्रीकृष्णने भारत इस सम्बोधन से यह जनाया कि युद्ध क्षत्री का स्वधर्म है और तुम श्रेष्ठ भरत वंशमे उत्पन्न हो। श्रीधरस्वामी-कहते हैं कि पुरुषों को अवस्था भेदसे कर्ममय औ ज्ञानमय ये दो प्रकार की निष्ठा जिसने कहा ऐसे संशय निवारण भगवान श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूं ॥ ४२ ॥ इति जगन्नाथसुक्लविरचितायां मनभावनीटीकायां चतुर्थोध्याय. ॥ ४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चम अध्यायः।

अर्जुनउवाच ॥ संन्यासंकर्म्मणांकृष्णपुनर्योगञ्चशंससि। तच्छ्रेयएतयोरेकं तन्मेब्रूहिसुनिश्चितं ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ संन्यासःकर्मयोगश्चनिश्श्रेयसकरावु

भाषा अनुवाद.

कर्मयोग औ संन्यासयोगमे अर्जुनको संशय निवारण करिके अब जितेन्द्रियोंकी सोच परता श्रीभगवान श्रीमद्भगवद्गीताके पंचये अध्यायमे कहैंगे अज्ञानसे उत्पन्न भई जो संशय तिस को ज्ञानखड्ग से छेदन करिके निष्काम कर्मयोग करो यह जो भगवान ने पुनर्वार कर्म करने को कहा तो पूर्वापर कहे आगू पीछू जो कर्मत्याग औ कर्म करने को भगवतकी आज्ञा तिस को विचारते हुये अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण २ अध्याय के १७ श्लोक मे जो आपने कहा कि यस्त्वात्म रतिरेव स्यात् और ४ अध्याय के ३३ श्लोकादि से कहा कि सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञानं परिसमाप्यते यह तत्वज्ञानी को सर्व कर्म का त्यागरूप सन्यास भी कहा और ४ अध्याय के ४२ श्लोक मे तस्मादज्ञानसम्भूतं इत्यादि ज्ञानरूप असि से संशय छेदन करिके उठो और युद्ध करो यह कहि फेरि कर्मयोग की आज्ञा देते हैं परन्तु ये दोनो परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात् कर्म का करना और छोड़ना यह एकपुरुष को एकही कालमे असम्भव है सो हे कृष्ण संन्यास अथवा कर्मयोग इन दोनो मे जो करने से हम कृतार्थ होयं सो एक प्रकार निश्चय निर्धार करिके कहो और कभी संन्यास कभू कर्मयोग कहि कहि हमै सन्देहमे वार वार न डारो ॥१॥ अर्जुन की इस प्रश्नका उत्तर श्रीभगवान कहते हैं कि हे अर्जुन हम वेदान्ती

भौ। तयोस्तुकर्म्मसंन्यासात्कर्म्मयोगोविशिष्यते ॥ २ ॥ ज्ञेयःसनित्य.संन्यासीयो
नद्वेष्टिनकांक्षति। निर्द्वन्द्वोहिमहावाहोसुखंबन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥ सांख्ययोगौ

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञानी के प्रति कर्मयोग करना नहीं कहते है क्यों कि तत्त्वज्ञानी को कर्म त्याग के उपदेश से विरोध पड़ैगा परन्तु देह आदि मे आत्मअभिमानी तुम को जो वन्धुवध निमित्तक शोक मोह से उत्पन्न संशय तिस को स्थूल शरीर औ आत्मा का विवेक रूप खड्ग से छेदन के अनन्तर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने की उपाय रूप जो निष्काम कर्मयोग सोई अनुष्ठान करने को कहा है देखो नि.काम कर्म करने से चित्तशुद्ध होके तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञान के परिपाकार्थ ज्ञान निष्टा का अङ्ग भूत कर्मके त्याग को मैंने कहा है परन्तु ज्ञानमार्ग मे आरूढ पुरुष को कर्मका त्याग और अनारूढ पुरुष को भगवदाराधन नि'काम कर्मयोग कहा सोई कहते है कि संन्यास औ कर्मयोग ये दोनो नि.श्रेयस मुक्ति के करने वाले है परन्तु दोनो के बीच संन्यास से कर्मयोग ही अधिक है जिस हेतु कर्म योग से ज्ञान प्राप्त होके तब संन्यास अर्थात् कर्मका त्याग विहित है और पहिले होनही ॥ २ ॥ जो संन्यास से कर्मयोग को विशेष कहा सोई अब कर्मयोग की प्रशंसा करते हुये कहते है कि जो कर्म करता हुआ भी न किसीसे वैर करता और न कुछ चाहता है तथा सुख दुख हानि लाभ द्वन्द्वभावसे रहित है सोई नित्य संन्यासी है और संसार वन्धन से छूट जाता है अथवा संन्यासी के ऐसे आचरण करता हुआ जो राग द्वेष रहित कर्म करता है सो नित्य संन्यासी कहे सिद्धय संन्यासी और संन्यासी तो संन्यासी ही है क्यो कि कर्म संन्यास श्रेष्ठ है इहां एक संन्यासी मन्थपर है ॥३॥ जिस हेतु संन्यास औ कर्म्मयोग दोनो प्रधान अङ्ग रूप अवस्था भेदसे पाये जाते है इस से इस मे कौन श्रेष्ठ ऐसा पछना अज्ञानी को तो उचित हो सकता है पर ज्ञानी को तो नही यही कहते है कि ज्ञान निष्ठा जो सांख्य औ उसी का अंगरूप संन्यास तथा संन्यास से लक्षित कर्मयोगभी संन्यास है इन दोनो का फल एक ही है तौ भी दोनो भिन्न हैं यह केवल अज्ञानी कहते है औ पण्डित ऐसा नहीं कहते है देखो इनमे से एक पक्ष का आश्रय लेने

पृथग्बालाःप्रवदन्तिनपण्डिताः। एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दतेफलं ॥ ४ ॥ यत्
सांख्यैःप्राप्यतेस्थानंतद्योगैरपिगम्यते। एकंसांख्यञ्चयोगञ्चयःपश्यतिसपश्यति
॥५॥ संन्यासस्तुमहाबाहोदुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्मनचिरेणाधिग

भाषा अनुवाद

वाला पुरुष दोनो के फल को प्राप्त होता है जैसे लोग निःकाम कर्म करते शुद्ध चित्त होय तत्त्वज्ञान प्राप्तिके द्वारा उस दोनो का फल जो कैवल्य सो लाभ करते हैं ऐसेही सब कर्म त्यागरूप संन्यासधारी लोग भी पूर्वकृत कर्मयोगकी परम्परा रूप जो कैवल्य सो पावते है तो अलवत्ता दोनो का फल पृथक् नहीं है। सोई कहा कि सांख्य औ योग को बालक कहे अज्ञान भिन्न कहते और पण्डित नहीं कहते है एकमे भी अच्छी तरह से स्थित होके फल दोनो का भी पावता है इससे दोनो एक हैं ॥ ४ ॥ सांख्य औ योग दोनोमे से एकके सम्यक् अनुष्ठान करनेसे दोनो का फल किस तरह पावता है इस शङ्का पर सांख्य औ योगका एक फलत्व प्रकाश करते हुये भगवान कहते है कि सांख्य कहे ज्ञाननिष्ठ संन्यासी जो मोक्ष पद पावते है सोई पद योग शब्द वाच्य कर्मयोगीभी ज्ञानके द्वारा प्राप्त होते है इससे एकही फलके हेतुरूप संन्यास औ योगको जो एकरूप देखते है तेई सम्यक् दर्शी हैं सोई कहा कि जो पद सांख्य लोग पावते सोई योग पुरुषोंको भी मिलता है और सांख्य योग को जो एक देखते सो देखते है बाकी सूरदास बने बैठे है या जो कोई विरले ऐसे देखते हैं सब नही ऐसे देखते हैं ॥ ५ ॥ जो ऐसा है कि योगी लोगों को भी शेषमे संन्यास ही से ज्ञाननिष्ठा हो तो औ ज्ञान के द्वारा मोक्षपद पावते तो फेर संन्यास से कर्मयोग को अधिक क्यों पीछे कहा उचित है कि प्रथमहीं से संन्यास करे इस संशय युक्त अर्जुन के प्रति भगवान कहते हैं कि प्रथम कर्मयोगके किये विना हे महाबाहो अर्जुन संन्यासका अभ्यास करना अति कठिन औ दुखका मूल है क्योंकि चित्तशुद्ध भये विना ज्ञान होना असम्भव है परन्तु कर्मके अनुठान करनेवाले मुनि लोग चित्तशुद्धि के द्वारा संन्यासी होय अर्थात् कर्म छोड कर अचिरात कहे शीघ्रही ब्रह्मपद को प्राप्त होते है याने ब्रह्म रूप हो जाते है इससे चित्तशुद्धिके पहले निष्काम कर्म करना हीं संन्याससे श्रेष्ठ

च्छति॥ ६ ॥ योगयुक्तोविशुद्धात्माविजितात्माजितेन्द्रियः । सर्व्वभूतात्मभूतात्माकुर्व्वन्न
पिनलिप्यते ॥ ७ ॥ नैवकिञ्चित्करोमीतियुक्तोमन्येततत्त्ववित् । पश्यन्शृण्वन्स्पृ
शन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

भाषा अनुवाद

होता है ॥ ६ ॥ जो ऐसा कहो कि कर्मके अनुष्ठान से चित्तशुद्धि प्रभृति पर म्परा प्रणाली क्रमसे ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर इस ज्ञानीका पूर्वकृत कर्म प्रति बन्धक क्यों न होय इस आशङ्का पर कहते है कि जो पुरुष योगयुक्त अर्थात् निष्काम कर्मयोग रूप भक्ति अनुष्ठान करता है और जिसने चित्त तथा इन्द्रिय गण अपने वशीभूत कर राखा है और जो अपने आत्मा को शरीर धारी दूसरे प्राणियों के आत्मा से भिन्न बुद्धि न करके सर्वभूत मे टिका जो चेतनरूप आत्मा तिसको अद्वैत कहे एकरूप विचार कर देखते है इसीसे वेलोग शुद्धचित्त भिक्षा के अर्थ अथवा स्वभाव आधीन शौच भिक्षा आदि जो सब कर्मों को करते हुये भी उन कर्मों मे लिप्त नही होते न कर्म उनको लगते है ॥ ७ ॥ और जो ऐसी शङ्का करो कि कर्म अनुष्ठान करके भी उसमे लिप्त कहे आशक्त न होना यह अत्यन्त असम्भव है लिप्त होहीगा इस पर दो श्लोक से कहते हैं कि कर्तृत्व अभि मान रहित होना असम्भव नहीं है क्योंकि निष्काम कर्म्मयोगरूप भक्ति अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य क्रम से तत्त्वज्ञानी होयके दर्शन आदि इन्द्रिय व्यापार करते भी इन्द्रिय सब अपना अपना काम करती है और हम कुछ भी नही करते ऐसी बुद्धि उनकी निश्चय बनी रहती है यथा दर्शन श्रवण स्पर्श घ्राण भोजन ये ज्ञान इन्द्रियोके व्यापार और गमन वचन विसृजन कहे विष्ठा मूत्रत्याग जो कर्म इन्द्रीयों के काम और ग्रहण जो कर का व्यापार औ स्वपन् बुद्धिव्यापार निद्रा होना श्वसन् प्राणवायु व्यापार और उन्मेष निमेष कहे पलक लगना खुलना जो कूर्म वायु से होता है यह सब इन्द्रिय आदिका कर्म है और हम द्रष्टा साक्षी रूप है यह कुछ कर्म हम नहीं करते ऐसे हो ज्ञानी पुरुष इन कर्मोंमे अभिमान शून्य लिप्त नहीं होते है सोई कहा दो श्लोक से कि इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तंते इति धारयन् यहां तक ॥८॥ आठ नव दोनो श्लोक का अर्थ एकही साथ है ॥९॥ और जो मनुष्य

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषुवर्त्तन्तइतिधारयन् ॥ ९ ॥ ब्रह्मण्याधायकर्म्माणिसङ्गंत्यक्त्वाकरोतियः । लिप्यतेनसपापेनपद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥ कायेनमनसाबुद्ध्याकेवलैरिन्द्रियैरपि । योगिनःकर्मकुर्वन्तिसङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥ युक्तःकर्मफलंत्यक्त्वाशान्तिमाप्नोतिनैष्ठिकीं । अयुक्तःकामकारेणफलेसक्तोनिवध्यते ॥ १२ ॥ सर्व्व

भाषा अनुवाद

हम कर्म करते है ऐसा अभिमान रखते हैं तेई कर्ममे लिप्त होते औ उन्हीं को कर्मबन्ध होता है फेरि चित्तकी अशुद्धता से उनको संन्यास भी दुर्घट है इस से उनको सब तरह शङ्कट है जो ऐसी शङ्का करो तो यह उत्तर सुनो कि अन्तर्यामी ईश्वर की प्रेरणा से हम सब कर्म्म करते है ऐसे विचार करि सकल कर्म ईश्वर मे समर्पण करके औ कर्म्म कालमे आशक्ति रहित कर्म्म करते है तो उनको कर्म प्रतिबन्धक नहीं होते और वे कर्म से लिप्त नहीं है जैसे पद्मपत्र जलमे निरन्तर रहते भी जलसे अलग है सोई कहा कि ब्रह्ममे कर्म अर्पण करि सङ्ग कहे आशक्ति छोडि जो कर्म करै है सो पाप से नहीं लिप्त होता जैसे कमलका पत्ता जलमे रहिके भी जलसे भिन्न है ॥१०॥ निष्काम कर्म्मबन्धक नहीं है इस कहनेके बाद अब उत्तम मनुष्यों को कर्म के द्वारा मुक्ति दिखावते हैं कि शरीरसे स्नानादि मनसे ध्यानादि औ बुद्धिसे तत्त्व निश्चयादि तथा कर्म मे आशक्ति रहित औ फलाभिलाप शून्य होकर इन्द्रियो के द्वारा श्रवण कीर्त्तन चिन्तन आदि चित्तशुद्धिके अर्थ कर्म्मानुष्ठाई योगीजन कर्म्म करते है सोई कहा कि काय मन बुद्धिसे आत्मशुद्धिके हेतु सङ्ग छोडि योगीजन कर्म करते हैं ॥११॥ जो ऐसी शङ्का करो कि वही एक कर्मसे कोई तो मुक्त औ किसीको बन्ध यह कैसी व्यवस्था है तो इसका निवारण करते है कि योगी कर्म्मकारी पुरुष ईश्वरमे एक निष्ठ हो कर्म्मफल को त्यागि कर्म अनुष्ठान करिके अत्यन्त शान्ति स्वरूप जो मुक्ति तिसको प्राप्त होते हैं परन्तु अयुक्त कहे कामना विशिष्ट कर्म बहिर्मुख लोग काम्यकर्म से अवश्य ही बद्ध होते है युक्त कहे ईश्वरार्थ कर्म करने वाले ॥१२॥ इन सब बातों से अशुद्ध चित्त मनुष्य को संन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म करना ही श्रेय है यह विस्तार पूर्व्वक कहि कर अब शुद्धचित्त पुरुष को संन्यास ही श्रेष्ठ है ॥

धर्माणिमनसासंन्यस्यास्तेसुखंवशी। नवद्वारेपुरेदेहीनैवकुर्वन्नकारयन् ॥ १३ ॥
नकर्तृत्वं न कर्माणिलोकस्यसृजतिप्रभुः। नकर्मफलसंयोगंस्वभावस्तुप्रवर्त्तते ॥ १४ ॥
नादत्तेकस्यचित्पापंनचैवसुकृतंविभुः। अज्ञानेनावृतंज्ञानंतेनमुह्यन्तिजन्तवः॥ १५ ॥

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जितचित्त विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा विक्षेप कारक सब कर्म छाड़ि कर जैसे सुखमे रहते तैसे ज्ञाननिष्ठ युक्त होके भी सुखमे रहते हैं जो कहो कि कहां रहते तो कहते हैं कि नवद्वार पुर जो अहङ्कार शून्य शरीर तिसमे आत्म स्वरूप से स्थित रहते हैं और अहङ्कारके अभावसे आप शारीरक कर्म नहीं करते और ममताके अभाव से दूसरे से भी वे कोई काम नहीं करावते हैं यह शुद्ध औ अशुद्धचित्त मनुष्यो का भेद भगवानने कहा ॥ १३ ॥ ईश्वर जिस को इस लोकसे श्रेष्ठ लोक को लेजाने की इच्छा करते हैं उससे सत्कर्म करावते और जिसे अधो लोक लेजाने की इच्छा करते उससे कुकर्म करवावते हैं यह श्रुतिमे कहा है तो परमेश्वर की प्रेरणासे पराधीन जो मनुष्य सो कैसे वे कर्मत्याग करने शकैं एक तो यह दूसरे जो परमेश्वरहीकी प्रेरणासे शुभ अशुभ कर्ममे लोग प्रवृत्त होते हैं तो ईश्वरभी विषम दृष्टि औ निर्दय हैं फेरि कर्मोंका करवावनेवाला भी वही है तो उसकोभी पुन्य पाप सम्बन्ध होय न क्यों जो यह शङ्का करो तो इस का सिद्धान्त लोकसे कहते हैं कि प्रभु जो ईश्वर सो मनुष्योंको कर्तृत्व अथवा कर्म सृजन नहीं किया किन्तु मनुष्यों को पूर्व कर्म संस्कार रूप जो अज्ञान सोई कर्तृ त्वादिमे प्रवृत्त करै है इसीसे अपनी अनादि अविद्या से कामनाके वश होय प्रवृत्ति युक्त पुरुष को ईश्वर भी कर्ममे नियुक्त करते हैं और ईश्वर कुछ आपसे उसको प्रवृत्ति नहीं देते हैं सोई कहा कि कर्तृत्व औ कर्म तथा फलयोग प्रभुने नहीं किया लोग सब स्वभाव अर्थात् माया से प्रवृत्त हैं ॥ १४ ॥ जिस हेतु भगवान न कुछ करते और न किसी से कुछ करवावते हैं वे तो विभु कहे व्यापक तथा पूर्ण काम हैं इससे भक्त अभक्त किसीके पुन्य या पापके भागी नहीं है परन्तु परमेश्वर की अचिन्त्य जो माया सोई पूर्व कर्म के अनुसार ऊंच नीच कर्म मे लोगों को प्रवृत्ति देती और अज्ञान से ज्ञान आवृत्त कहे घेरा है तिससे सब मोहित होते

ज्ञानेनतुतदज्ञानंयेषांनाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानंप्रकाशयतितत्परं ॥ १६ ॥ तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥ विद्याविनयसम्पन्नेब्राह्मणेगविहस्तिनि। शुनिचैवश्वपाकेचपण्डिताःसमदर्शिनः ॥ १८ ॥ इहैवतैर्जितःसर्गोयेषांसाम्येस्थितंमनः।

भाषा अनुवाद

है जो कहो कि पूर्ण काम को फेरि भक्तों पर अनुग्रह औ अभक्तों का निग्रह क्यों कर घटै है तो कहते हैं कि परमेश्वर का निग्रह रूप दण्ड अनुग्रह है अर्थात् दण्ड होने से पापीका पाप दूर होजायगा ऐसे दण्डरूप अनुग्रह का न जानना जो अज्ञान सोइ परमेश्वर विषयक ज्ञान को आवृत करता है तो फेरि जीव मोहित होय अपने अज्ञान से परमेश्वर मे विषम दृष्टिका आरोप करते है ॥१५॥ और ज्ञान से जिन का अज्ञान नाश हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों को पर जो भगवत् स्वरूप सो प्रकाशमान है जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धाकार दूर हो वस्तु सब प्रकाशित होती हैं। लोग केवल अपने मोह से ईश्वर मे मोह कल्पना करते है ॥ १६ ॥ जैसे जो परमेश्वर तिनके उपासकों को प्राप्त जो फल होता है सो कहते है कि भगवत की भक्ति से अवश्य ही संसार सागर को उतर जायंगे ऐसी जिन के निश्चयरूप बुद्धि है और तैसे ही भगवद्भक्ति मे सम्पन्न औ तत्पर है और परमेश्वर ही जिन के परम अवलम्ब है सोई जन ईश्वर के प्रसाद से निःपाप होय मुक्तिपद पाय आवागमन से रहित होते है। सोइ कहा कि ईश्वर मे बुद्धि औ ईश्वर मे आत्मा औ ईश्वर मे निष्ठा तथा ईश्वर मे परायण पुरुष ज्ञान मे निर्द्धूत कल्मष अपुनरागमन पद मोक्ष को प्राप्त होते है ॥ १७ ॥ तो वे तत्वज्ञानी जो मुक्तिलाभ करते कैसे होते है सोइ कहते है कि विषम वस्तुमे सम ज्ञान अर्थात् सकल वस्तुमे ब्रह्मरूप देखते हैं जैसे कि विद्या औ विनय से युक्त ब्राह्मण औ गऊ हाथी कुत्ता तथा चाण्डाल इन सबमे पण्डित कहे ज्ञानी समदर्शी होते है अर्थात् सबमे आत्मा रूप ईश्वर को एकरूप देखते हैं ॥ १८ ॥ यह सुनि जों सन्देह होय कि विषम से सम दृष्टि मनुष्य पण्डित कैसे औ गौतम ने कहा है कि विषम मे सम पूजन औ सम मे विषम पूजन करने वाले लोक पर लोक

निर्दोषंहिसमंब्रह्मतस्माद्ब्रह्मणितेस्थिताः ॥ १९ ॥ नप्रहृष्येत्प्रियंप्राप्यनोद्विजेत् प्राप्यचाप्रियं। स्थिरबुद्धिरसंमूढोब्रह्मविद्ब्रह्मणिस्थितः॥२०॥ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्माविन्द त्यात्मनियत्सुखं। सब्रह्मयोगयुक्तात्मासुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥ येहिसंस्पर्शजा भोगादुःखयोनयएवते। आद्यन्तवन्तःकौन्तेयनतेषुरमतेबुधः ॥ २२ ॥ शक्नोतीहैव

भाषा अनुवाद

से भ्रष्ट होते हैं इस सङ्का को निवारण करते ऊये कहते हैं कि जिन का मन समभाव मे स्थित है उनोने इहांई स्वर्ग जय करलिया है क्यों कि सर्वत्र समान रूप निर्दोष ब्रह्म परिपूर्ण होरहा है ऐसा जो जानते ते ब्रह्म मे स्थित कहे ब्रह्म रूप निर्दोष और गौतम की वात ज्ञान अवस्था के पहिले की है ॥ १९ ॥ अब ब्रह्मभाव प्राप्त पुरुष का लक्षण कहते है कि ब्रह्मज्ञानी होके जो ब्रह्म मे स्थित है वे कोई प्रिय वस्तु पाय के हर्षित नहीं होते है और अप्रिय प्राप्त होने से भी विषाद नही करते है क्यों कि वे लोग स्थिर बुद्धि औ मोह रहित है ॥ २० ॥ मोह निवृत्त मात्र होने से बुद्धि स्थिर होती इस का हेतु कहते हैं कि बाह्य इन्द्रियों के विषय मे अनाशक्त चित्त पुरुष अपने अन्तःकरण मे विक्षेप रहित शान्तियुक्त जो सात्त्विक सुख सो अनुभव करते और वही पुरुष शान्तिसुख प्राप्त हो के ब्रह्मयोग युक्त आत्मा कहे समाधिके द्वारा परमात्माके साथ एकता की प्राप्ति रूप जो अक्षय सुख सो भी लाभ करते है ॥ २१ ॥ प्रिय जो विषयभोग तिन के निवृत्त होने से फेरि मुक्ति पुरुषार्थ अर्थात् परम प्रिय कैसे है इस संशय पर कहते है कि जो स्पर्श आदि विषय और उन विषयों से प्रगट जो सुख सो भोग समय मे स्पर्द्धा कहे और का अधिक सुख देखि इच्छा की दृद्धि औ आयुर्दा की भर हैं और भोग पीछे कुछ नहीं है खाली चिन्ता मात्र करते है इन सब हेतुवों से केवल दुख के कारण है और उन का आदि अन्त भी है इस से हे कौन्तेय विवेकी लोक उस विषयसुख भोग मे नही रमित होते हैं॥ २२॥ इस से मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है और काम क्रोध से उत्पन्न जो क्षोभ सोई मुक्ति का प्रति पक्ष है अतएव उसके वेगको जो सहि सकै सो मुक्तिभागी होयगा यही कहते हैं कि शरीर रहते अथवा शरीर सामर्थ्य रहते ऊये जो काम क्रोध के वेग को

यःसोढुंप्राक्‌शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भववेगंसयुक्तःससुखीनरः॥ २३ ॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेवयः॥ सयोगीब्रह्मनिर्वाणंब्रह्मभूतोऽधिग
च्छति॥ २४॥ लभन्तेब्रह्मनिर्वाणमृषयःक्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधायतात्मानःसर्व
भूतहितेरताः॥ २५॥ कामक्रोधवियुक्तानांयतीनांयतचेतसां॥ अभितोब्रह्मनि
र्वाणंवर्त्ततेविदितात्मनां॥ २६॥ स्पर्शान्‌कृत्वाबहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरेभ्रुवो।

भाषा अनुवाद

सहि लेने सकै सोई नर युक्त कहे आत्मरूप और सुखी है॥ २३॥ और केवल काम क्रोध का वेग जीतने ही से मुक्त नहीं होय है और भी कहते है कि जो अपने अन्तरात्मा मे सुखी औ विषयभोग से सुखी नहीं है और जो पुरुष आत्मा राम हो के आत्माही मे विहार करता औ बाहरके व्यापारसे विरत तथा अन्तर प्रकाश है अथवा आत्माही मे दृष्टि औ नृत्य गीत आदि विषयों मे दृष्टि नहीं रखता है सोई योगी इह कहे जीवते ही ब्रह्मरूप ब्रह्म मे लीन होता है॥ २४॥ मुक्ति का हेतु जो ज्ञान तिस की साधन उपाय प्रकारान्तर कहे दूसरी तरह से कहते हैं कि ऋषि कहे सम्यक्‌दर्शी संन्यासी लोग जो यज्ञ आदि नित्य नैमित्तिक कर्म करि क्षीण कल्मष कहे निष्पाप होके श्रवण आदि से ज्ञान के द्वारा छिन्न द्वैध कहे संशय रहित हो गये है और जिन का चित्त औ इन्द्रियगण वशीभूत है औ प्राणियों के हितकारी दयालुस्वभाव अर्थात्‌ हिंसा रहित है वेई ब्रह्ममे लयरूप मोक्ष पावते है॥ २५॥ और काम क्रोध से वियुक्त ज्ञानी जन संन्यासी यतचित्त लोग विदित है आत्मा जिनको ते जीवित औ मृत दोनो अवस्थामे मुक्त है ऐसा नही कि देहान्त मे वे मुक्ति पावेगे किन्तु वे जीवते भी ब्रह्म के साथ एक रूप होय जीवन्मुक्त ऐसे प्रसिद्ध होते हैं॥ २६॥ इसी अध्याय के २४ श्लोक से कहा कि योगी मोक्ष पावै हैं सोई फेरि संक्षेप से कहते हैं कि शब्द स्पर्श आदि बहिर्विषयो को बाहर करिके और चक्षु कहे दृष्टिको भौंहके मध्य मे राखि प्राण अपान बायुको सम करि के कुम्भक प्राणायाम करै भ्रूमध्य मे दृष्टि इस लिये कहा कि नेत्र बन्द करने से निद्रावश हो मन लय कहे लीन हो जाता और खुले रहने से मन विषयों पर धावता है अधखुले रखने से भ्रू के बीच निकटही दृष्टि रहती

प्राणापानौसमौकृत्वानासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥ यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष परायणः । विगतेच्छाभयक्रोधोय.सदामुक्तएवसः ॥ २८ ॥ भोक्तारंयज्ञतपसांस र्वलोकमहेश्वरं । सुहृदंसर्वभूतानांज्ञात्वामांशान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥ इति श्रीभग वद्गीता सूपनिषत्सु संन्यासयोगनाम पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

भाषा अनुवाद

है औ दोनो वायु सम करि नासिका रन्ध्र से सञ्चार करती हैं जिस मे प्राणवायु बाहर औ अपान भीतर सञ्चार न करैं इसवास्ते कुम्भक प्राणायाम योग करै ॥ २७ ॥ और इसी उपाय से जिस की इन्द्रीय औ मन बुद्धि आदि वशीभूत हैं औ मुक्ति प्राप्ति के योग्य है और जिसने इच्छा भय क्रोध को दूर किया है ऐसे गुणों से सदा युक्त जो मुनि सो जीवनकाल मे भी मुक्त अर्थात् वह कर्मरहित जीन्मुक्त है ॥ २८ ॥ जो कहो कि इन्द्रीय मात्र वश करने से कैसे मुक्त होय तिस पर कहते कि हां मुक्ति ज्ञान हीं के द्वारा होती है देखो हमारे भक्तों से समर्पित यज्ञ औ तप के अथा चित्तरूप भोक्ता औ प्रतिपालक सर्व्व लोक मे श्रेष्ठ ईश्वर सब से निरपेक्ष अन्तर्यामी रूप हम को जानि कै योगी लोग मेरी अनुग्रह से शान्ति कहे मोक्ष पावते हैं ॥ २९ ॥ श्रीधर स्वामी कहते कि जो अर्जुन की कर्म्मयोग औ ज्ञानयोग को पृथक् शङ्का निवारि कै जिसने क्रम से दोनो को एक कहा है सोई जगत गुरु श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं ॥ इति जगन्नाथ सुक्ल विरचितायामनभावनीटीकायां पञ्चमोध्याय ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

षष्ठ अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। अनाश्रितःकर्मफलंकार्य्यंकर्मकरोतियः। सर्संन्यासीचयोगीच

भाषा अनुवाद

श्रीधरस्वामी छठयें अध्यायके आरम्भमे वर्णन करते है कि मनुष्यों को चित्त शुद्ध होने से भी ध्यानके विना केवल संन्यास मात्रसे मुक्ति नहीं मिलती है इसी हेतुसे श्रीभगवान छठयें अध्यायमे ध्यानयोगको विस्तार करि कहते हैं कि पञ्चम अध्यायके अन्तभागमे संक्षेप से कहा गया जो ध्यानयोग सोइ विस्तार करने को छठयें अध्यायका आरम्भ अर्थात् सर्व्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी इस ५ अध्यायके १३ श्लोक से सर्व कर्म्म त्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठा की प्रशंसा करने से और कर्म्म अनुष्ठान क्लेशकारी है इससे हठात् कर्म त्याग की अवस्था के विना भी कर्म का त्याग मनुष्यों के मनमे होय उठै है सो तिसके निवारन के अर्थ कर्म्म छोडने से कर्म करना श्रेष्ठ है यह कहि कर्म योगकी वडाई करते हुये भगवान कहते है कि॥ अनाश्रित कहे कर्म्म फलकी आकाङ्क्षा रहित होय कर सब कर्म अवश्य ही कर्त्तव्य है इस विचार से जो विहित कर्म का अनुष्ठान करै सोइ संन्यासी औ सोइ योगी है नहीं तो निरग्नि कहे अग्निसाध्य यज्ञादि कर्म्म त्यागी औ अक्रिय अर्थात् वेअग्नि के कर्म कुंआं ताल वावडी खनन तथा दानादि कर्म त्यागी होके लोक अपने को योगी समझैंगे किन्तु ऐसा नहीं है तात्पर्य यह कि फल ही का त्याग उचित कर्म्म का त्याग नहीं अर्थात् उपर लिखे सब कर्म विष्णुप्रीत्यर्थ करना ही चाहिये सोइ कहा अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करो

ननिरग्निर्नचाक्रियः ॥ १ ॥ यंसन्यासमितिप्राहुर्योगंतंविद्धिपाण्डव। नह्यसंन्य
स्तसंकल्पोयोगीभवतिकश्चन ॥ २ ॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगंकर्मकारणमुच्यते। योगा
रूढस्यतस्यैवशमःकारणमुच्यते ॥ ३ ॥ यदाहिनेन्द्रियार्थेषुनकर्मस्वनुषज्जते। सर्व
सङ्कल्पसंन्यासीयोगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥ उद्धरेदात्मनात्मानंनात्मानमवसादयेत्।

भाषा अनुवाद

तियः ॥ १ ॥ यह सुनि अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण किस कारण से वे मनुष्य योगी औ संन्यासी नही है इस पर कर्म योगको संन्यास प्रतिपादन करते हुये कहते है कि हे पाण्डव अर्जुन संन्यास मात्र ही को जो सब स्मृतियोंने श्रेष्ठ कहा है सोई फल संन्यास रूप कर्म को भी जानो जो कहो कि कैसे जाने तो कहते है कि इति शब्द से कहे जो हेतु सो योग मे भी है सोई डेढ श्लोक से कहते है कि कर्म निष्ठ या ज्ञान निष्ठ जो होय पर फल की इच्छा त्याग विना योगी नही इससे फल कामना मे जिसका चित्त विक्षिप्त नहीं सोई योगी औ संन्यासी है सोई कहा नह्यसन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥ तौ फेरि जावत् जीवन कहे जिन्दगीभर कर्मयोग ही करना चाहिये जो ऐसी शङ्का कर तो कर्मयोग की अवधि कहते है कि ज्ञानयोग मे आरूढ होने की इच्छा करने वाले पुरुष को उस राहके चढने मे कर्म ही कारण रूप कहा है क्यों कि निष्काम कर्म चित्तशुद्धि करता है और ज्ञानयोग आरूढ कहे ज्ञानी को शम कहे विक्षेपकारी कर्म सकल का त्यागही उचित जिसलिये त्याग ज्ञान परिपाक का कारण रूप कहा है ॥ ३ ॥ जो पूंछो कि वह ज्ञानयोग आरूढ पुरुष जिसको विक्षेपकारी कर्म का त्याग कहा गया कैसा होता है तो कहते हैं कि जब इन्द्रियो के भोग जो विषय तिनमे और भोग के साधन भूत कर्मो मे आशक्त न होय और कर्म संकल्प को छोडि सकै तब उस को जोगारूढ कहते है ॥ ४ ॥ देखो विषयों मे इच्छा निवृत्ति होने से मोक्ष औ विषयो मे आशक्ति से बन्ध होता है यह विचारि रागद्वेषादि स्वभाव से रहित होना उचित सोई कहते है कि विवेक युक्त आपही अपने आत्माको बुद्धिके द्वारा संसार से उद्धार करैगा और अधोगति को न ले जायगा जिस हेतु कामनासे निवृत्त जो आत्मा कहे मन सोई

आत्मैवह्यात्मनोबन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः ॥ ५ ॥ वंधुरात्मात्मनस्तस्ययेनैवात्मात्मना जितः। अनात्मनस्तुशत्रुत्वेवर्त्तेतात्मैवशत्रुवत् ॥ ६ ॥ जितात्मनःप्रशान्तस्यपरमा त्मासमाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषुतथामानावमानयोः ॥ ७ ॥ ज्ञानविज्ञानतृ प्तात्माकूटस्थोविजितेन्द्रियः। युक्तइत्युच्यतेयोगीसमलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥ सुहृ

भाषा अनुवाद

अपना वन्धुरूप उपकारी है और कामनामे आसक्त जो मन सो शत्रुरूप अपकारी है तो अपना शत्रु मित्र आपही है ॥ ५ ॥ अब आत्मा ही तो किसी मनुष्यका वन्धु औ किसीका रिपु है इस अपेक्षा पर कहते हैं जिसने अपने आत्माको जीता अर्थात् विज्ञानमय आत्मा कर्त्तृक कार्य्य कारण मिलित रूप जो आत्मा स्थूल सूक्ष्म शरीरादि वशीभूत होती है सोई विज्ञानमय जीव अपना वन्धु है और अनात्मा कहे शरीरादि अवशीकृत जो है सोई आप अपना शत्रु तुल्य है ॥ ६ ॥ जितात्मा पुरुष को जो अपने आत्मामे वन्धुता है सो खुलासा करिके करते हैं कि जिसने आत्मा जो शरीर आदि तिस को जीता अर्थात् अपने आधीन किया है केवल वह प्रीति विरोध आदिसे रहित मनुष्य का मन शीत उष्ण सुख दुःख आदिमे समाहित कहे सावधान रहता है अर्थात् वही आत्मानिष्ठ है अथवा उसी का हृदय परमात्मा मे समाहित अर्थात् विक्षेप रहित निश्चल होता किसी का और समाहित नहीं हो सकता है ॥७॥ योग आरूढ पुरुष के लक्षण औ श्रेष्ठता कहते हैं कि ज्ञान कहे सास्त्रसे अथवा गुरूके उपदेश से यो होय और विज्ञान जो अनुभव सिद्ध अर्थात् हम सोई ब्रह्म हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन दोनो से जिसका आत्मा कहें चित्त सन्तुष्ट है और जिस ने इन्द्रियगण को जीता है तथा ढेला पत्थर सोना ये जिसको समान अर्थात् लेने छोडने की बुद्धि जिसे नहीं ऐसा जो निरपेक्ष निर्विकार कूटस्थ कहे अचल के तुल्य निश्चल पुरुष सोई युक्त योगी कहे योगारूढ है ॥ ८ ॥ और शत्रु मित्र आदि मे जो समदर्शी मनुष्य सो योगी से भी अधिक है यह कहते हैं कि सुहृद कहे स्वभाव से हित कारी औ मित्र जो स्नेह वशते उपकारी औ अरि कहे घातक जो शत्रु औ उदासीन अर्थात् उप कार अपकार दोनो से अलग निरपेक्ष जो औ मध्यस्थ कहे पक्षपात विना दोनो

न्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु। साधुष्वपिचपापेषुसमबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥ योगीयुञ्जीतसततमात्मानंरहसिस्थितः। एकाकीयतचितात्मानिराशीरपरिग्रहः॥१०॥ शुचौदेशेप्रतिष्ठाप्यस्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरं॥ ११॥ तत्रैकाग्रंमनःकृत्वायतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासनेयुञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥ समंकायशिरोग्रीवंधारयन्नचलंस्थिरः। संप्रेक्ष्यनासिकाग्रंस्वं

भाषा अनुवाद

और हितकारी औ द्वेष अर्थात् निःप्रयोजन शत्रु जो अकारण क्रोधी औ बन्धु जिनसे कुछ सम्बन्ध है औ साधु कहे सुशील सुन्दर आचरण जिनका है तथा पाप जो दुराचारी इन सब के विषे जिस की बुद्धि समान कहे प्रीति विरोध रहित है सो विशिष्ट कहे योगी से अधिक है॥ ९॥ योगी के लक्षण कहिकार अब उसका अङ्गरूप जो योग सो इस श्लोक से ले कर इसी अध्याय के स योगी परमोमतः इस ३२ श्लोक तक कहते हैं कि योग आरूढ पुरुष सङ्ग रहित होय जिस के अन्तःकरण औ शरीर वशीभूत हैं सो निराकांक्ष सर्व्व परिग्रह रहित एकान्तक मे अकेला सावधान बैठि कर अपने आत्मा कहे मन को निरन्तर भगवत के मनन मे युक्त करै॥ १०॥ उसी योगका आसन औ नियम आदि दिखावते हुये दो श्लोक से कहते हैं कि पवित्र स्थानमे अपने आसन पर बैठने के अनन्तर योग अभ्यास करै आसन कैसा चाहिये कि जो अचल औ न बहुत ऊंचा न अति नीचा होय और चैल कहे वस्त्र अजिन व्याघ्रचर्म अर्थात् नीचे कुश तब चर्म उपर वस्त्र ऐसा आसन करै॥ ११॥ और जिस का चित्त औ इन्द्रिय निष्क्रिय कहे व्यापार रहित है सो मन की शान्ति कहे शुद्धि के अर्थ उक्त आसन पर बैठने के बाद मन को एकाग्र विक्षेप रहित कर के योग अभ्यास करै॥ १२॥ अब चित्त की एकाग्रता के उपयोगी जो देह धारणादि सो दो श्लोक से कहते हैं कि काय कहे शरीर का मध्यभाग औ शिर ग्रीवा अर्थात् मूल आधार से ले कर मस्तक पर्यन्त शरीर अति यत्न से सीधी राखि के औ निश्चल कर धारणा के बाद अपनी नासिका के अग्रभाग मे अर्द्ध उन्मीलन पूर्व्वक दोनो दृष्टि लगाय समाहित सावधान होय और दिशों मे दृष्टि न देय॥ १३॥ जिस

दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥ प्रशान्तात्माविगतभीर्ब्रह्मचारिव्रतेस्थित.। मनःसंय
म्यमच्चित्तोयुक्तआसीतमत्परः ॥ १४ ॥ युञ्जन्नेवंसदात्मानंयोगीनियतमानस.।
शान्तिंनिर्वाणपरमांमत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥ नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्तिनचैकान्तम
नश्नतः। नचातिस्वप्नशीलस्यजाग्रतोनैवचार्जुन ॥ १६ ॥ युक्ताहारविहारस्ययुक्तचेष्ट
स्यकर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्ययोगोभवतिदु.खहा ॥ १७ ॥ यदाविनियतंचित्तमात्म

भाषा अनुवाद

का चित्त प्रशान्त और जो निर्भय औ ब्रह्मचर्य्य व्रत मे स्थित हो के अपने मन को सब तरफ से खींच मेरे मे लगाया है और जिसको मही परम पुरुषार्थरूप कहे इष्ट देव हौं ऐसा मत्परायण पुरुष उक्त मत योग मे समाहित रहता है ॥ १४ ॥ अब योगाभ्यास करने का फल कहते है कि पूर्व्वोक्त प्रकार से सदा आत्मा मे मन को युक्त करते करते नियत कहे निरुद्ध है मानस अर्थात् चित्त जिस का सोई शान्ति कहे संसार निवृत्ति को प्राप्त होता है वह शान्ति कि स्वरूप है सो कहते है कि जिस से परम निर्व्वाण प्राप्त होय है सोईशान्ति औ मत्संस्था कहे मेरे रूपमे अवस्थिति सो भी उसके मिलै है ॥ १५ ॥ योगा भ्यासी को आहार शयन आदि का नियम कहते है कि हे अर्जुन अत्यन्त अधिक आहारी और अत्यन्त निराहारी इन दोनो को भी योग जो समाधि सो नही हो सकती है और अतिनिद्रा करनेवाला तथा निद्रात्यागी इन को भी समाधि नही होती है ॥ १६ ॥ तो फेरि कैसे पुरुष को समाधि हो सकती है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि नियमरूप आहार औ विहार है जिसका तथा कर्मो मे परिमित चेष्टा कहे व्यापार है जिसका और यथा उचित है सोवना जागना जिस का उसी को योग कहे समाधि होती है और दुख दूर करती है ॥ १७ ॥ कौन समय मे योगसम्पन्न अर्थात् समाधिसिद्ध होगा सो कहते है कि जब पुरुष का चित्त एकाग्र कहे अच्छी तरह सब ओर से रुककर अर्थात् बाह्य कहे बाहर के सकल विषयों को छोड़ि कर केवल आत्मा मे निश्चल रूप से लगै अर्थात् अपने आत्मा मे स्थिति करै और सब मनोरथ की इच्छा न रहे अर्थात् देखी सुनी जो सासारिक विषय तिन की कामना मे स्पृहा कहे तृष्णा न उठै तब वह योगसिद्ध

न्येवावतिष्ठते। निस्पृहः सर्वकामेभ्योयुक्तइत्युच्यतेतदा ॥१८॥ यथादीपोनिवातस्थो
नेङ्गतेसोपमास्मृता। योगिनोयतचित्तस्ययुञ्जतोयोगमात्मनः ॥ १९ ॥ यत्रोपरमते
चित्तंनिरुद्धंयोगसेवया। यत्रचैवात्मनात्मानंपश्यन्नात्मनितुष्यति ॥ २० ॥ सुखमात्यन्ति

भाषा अनुवाद

कहे युक्त समाहित कहा जाता है सोई कहा कि यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाव तिष्ठते इति ॥ १८ ॥ आत्माकाराकारितरूप अवस्थित चित्त कहे आत्मरूप ता को प्राप्त जो चित्त तिस का दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे निर्वात स्थान मे दीपशिखा हलचल नही होती सोई उपमा कहे दृष्टान्त जानो यह किस का दृष्टान्त है जो पूछौ तो कहते हैं कि आत्मविषयक योगाभ्यासी योगी पुरुष जिस का चित्त वशी भूत है उसी का चित्त निर्वात स्थान स्थित दीपशिखा के समान आत्मा मे स्थिर है यहां चित्त शब्द का अर्थ अन्तःकरण है सो अन्तःकरण वृत्ति भेद से चारि प्रकार का है सङ्कल्पात्मक कहे सङ्कल्परूप अन्तःकरण की वृत्ति कहे स्वभाव को मन कहते है और निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते और अनु सन्धान कहे किसी वस्तु के जानने के लिये तद्वस्तुरूप हो रहना अनुसन्धानात्मक अन्तःकरण वृत्ति को चित्त कहते हैं और अभिमान युक्त अन्तःकरण अहङ्कार कहा जाता है ॥१९॥ यत्संन्यासमिति प्राहुर्योगं तद्विद्धि पाण्डव इसी अध्यायके इस दूसरे श्लोकसे योगही को कर्म कहा है और नात्यश्नतस्तुयोगोस्ति इस सोलहें श्लोक से योगशब्द से समाधि कहा तो इसमे मुख्य योग किस को कहै इस अपेक्षा मे फल औ स्वरूप तथा लक्षण क्रम से समाधि ही मुख्य है यह साढे तीनि श्लोका से कहते हैं कि जिस अवस्था मे योगाभ्यास से निरुद्ध कहे एकाग्रचित्त होता है और जिस अवस्था मे आप आप अपने स्वरूप को देखते हुये सन्तुष्ट होता है ऐसी जो समाधि कहे चित्तवृत्ति की एकाग्रता सोई योग है वही पातञ्जलसूत्र मे कहा कि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २० ॥ आत्मसन्तोष का हेतु कहते हैं कि जिस अवस्था विशेष मे योगीजन कोई निरतिशय कहे अत्यन्त नित्य सुख रूप का अनुभव करते है जो कहो कि उस अवस्था मे तो विषय सम्बन्ध का अभाव है तो सुख का सम्भव कैसे होय तिस पर कहते हैं कि विषय इन्द्रिय

कंयत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियं । वेत्तियत्रनचैवायंस्थितश्चलतितत्त्वतः ॥ २१ ॥ यंलब्ध्वा चापरंलाभंमन्यतेनाधिकंततः । यस्मिन्स्थितोनदुःखेनगुरुणापिविचाल्यते ॥ २२ ॥ तंविद्याद्दुःखसंयोगवियोगंयोगसंज्ञितं । सनिश्चयेनयोक्तव्योयोगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वासर्वानशेषतः । मनसैवेन्द्रियग्रामंविनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥ शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्याधृतिगृहीतया । आत्मसंस्थंमनःकृत्वा नकिञ्चिदपिचिन्तयेत् ॥ २५ ॥ यतोयतोनिश्चलतिमनश्चञ्चलमस्थिरं । ततस्ततो

भाषा अनुवाद

सम्बन्ध से रहित जो केवल आत्माकाररूप बुद्धि से ग्रहण के योग्य है इसी से उस मे स्थित होय योगी आत्मरूप से विचलित नहीं होते है ॥ २१ ॥ उसी का अचलत्व प्रतिपादन करते है कि आत्मआनन्द सुख जो आत्मस्वरूप लाभ लब्धित कहे प्राप्त करि और लाभ फेरि उस से अधिक नहीं गनते और जिस मे स्थित होय बडे बडे शीत उष्ण आदि दुख से भी दुखी नहीं होते अर्थात् बडे दुख भी उस का कुछ नहीं कर सकते है ॥ २२ ॥ ऐसी दुखसंयोग के अभाव अवस्था विशेष को योग संज्ञा जानो दुखशब्द से विषयसुख जो है उन को ग्रहण करते है अर्थात् जिस अवस्था मे दुख का लेशमात्र भी नहीं है सोई अवस्था योग है इस से स्थिरचित्त होय कर निश्चय से योग अभ्यास करना अवश्य ही कर्त्तव्य है निर्वेद शब्द का अर्थ तो यत्न करने मे शैथिल्य है सोई कहा कि अनिर्विन्नचित्त होय अर्थात् शैथिल्य छोडि यत्न पूर्व्वक अभ्यास करै ॥ २३ ॥ सङ्कल्प से प्रभव कहे प्रगट जो योग के प्रतिकूल कहे विरोधी बाधकरूप सकल कामना उन को वासना समेत त्याग करि के विषयों के दोष देखता हुआ पुरुष मनके द्वारा सर्व्वत्र धावमान इन्द्रियों को सब ओर से दमन करि के योगाभ्यास करै अथवा सर्व्वत्र धावती हुई इन्द्रियों को मन हीं से रोंक कर योग करै ॥ २४ ॥ और जो मन पूर्व्व जन्म कृत कर्म के संस्कार से चलविचल होय तौ भी धारणा जो धैर्य रूप बुद्धि शक्ति तिस से स्थिर करै यह कहते हैं कि धारणा से वशीभूत जो बुद्धि तिस से मन को आत्मा मे अच्छी तरह स्थापन करि के उपरम करै अर्थात् फेरि न कुछ चिन्तन करै परन्तु यह भी सनैःशनैः कहे धीरे धीरे धैर्यवती बुद्धि के द्वारा क्रम से

नियम्यैतदात्मन्येववशंनयेत् ॥ २६ ॥ प्रशान्तमनसंह्येनंयोगिनंसुखमुत्तमं। उपै
तिशान्तरजसंब्रह्मभूतमकल्मषं ॥ २७ ॥ युञ्जन्नेवंसदात्मानंयोगीविगतकल्मषः।
सुखेनब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तंसुखमश्नुते ॥२८॥ सर्व्वभूतस्थमात्मानंसर्व्वभूतानिचात्मनि।
ईक्षतेयोगयुक्तात्मासर्व्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥ योमांपश्यतिसर्व्वत्रसर्व्वञ्चमयिपश्य
ति। तस्याहंनप्रणश्यामिसचमेनप्रणश्यति ॥ ३० ॥ सर्व्वभूतस्थितंयोमांभजत्येक

भाषा अनुवाद

मन को आत्मामे थिर करै और सहसा कहे जलदी न करै॥२५॥ फिरि भी जो रजोगुण वशते मन विचलित होय तो फेरि फेरि उस को अपने वश करना यह कहते हैं कि स्वभावही से चञ्चल मन धारणावो इच्छा करतेभी जो चञ्चल होय तो जिस जिस विषय मे गमन करै उसी उसी विषय से खैंचि करि आत्मा ही मे थिर करै ॥ २६ ॥ इस प्रकार मन औ इन्द्री के वशकारी पुरुष को रजोगुण की क्षय होने से परे योग सुख प्राप्त होता है सोई कहते हैं कि पूर्व्वोक्त रीति से जिसका रजोगुण नाश भया औ अच्छीतरह मन भी शान्त भया है सोई पाप रहित प्रक्षीण मोह तथा ब्रह्मभाव को प्राप्त योगी उत्तम समाधि सुख को अना याश पावता है ॥ २७ ॥ अब योगीजन की कृतार्थता कहते हैं कि इसी प्रकार सर्व्वदा मन वशीभूत कारी पुरुष जिसका सम्पूर्ण पाप दूर भया है सोई योगी अनायास ब्रह्मसंस्पर्श अर्थात् अविद्या निवृत्तिकारी जो प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञान सर्व्वोत्तम सुख सो पावते अर्थात् जीवन्मुक्त होते हैं ॥ २८ ॥ ब्रह्म साक्षात्कार रूप अप रोक्ष ज्ञान कैसा होता सो देखावते हैं कि योग युक्तात्मा पुरुष ब्रह्म से ले स्थावर पर्यन्त मे समदर्शी सर्व्वभूत कहे प्राणी मात्र मे अपने को देखता और यावत् जीवों को भी अपने मे देखता है अर्थात् अविद्याकृत देहादि भेद दूर होय ब्रह्ममय ज्ञानवान सर्व्वत्र समदर्शी होता है ॥२९॥ अब पूर्व्वोक्त ज्ञानी को जो फल होता हैं कि साक्षात् परमेश्वर जो मै तिस को यावद्वस्तु मात्र सब मे और सकल यो कुछ हैं सो मेरे मे यो देखता है तो उस को हम अदृश्य नहीं और हम को वह भी अदृश्य नही अर्थात् हम प्रत्यक्ष होय कृपादृष्टि से उस पर अनुग्रह करते है ॥३०॥ एवम्भूत पुरुष विधि कहे कर्म के आधीन नहीं है कि सर्व्व भूत मे वर्त्तमान

ष्वमास्थितः। सर्व्वथावर्त्तमानोऽपिसयोगीमयिवर्त्तते ॥ ३१ ॥ आत्मौपम्येनसर्व्वत्रस
मंपश्यतियोऽर्जुन। सुखंवायदिवादुःखंसयोगीपरमोमतः ॥ ३२ ॥ अर्जुनउवाच।
योऽयंयोगस्त्वयाप्रोक्तःसाम्येनमधुसूदन। एतस्याहंनपश्यामिचञ्चलत्वात्स्थितिं
स्थिरां॥ ३३ ॥ चञ्चलंहिमनःकृष्णप्रमाथिवलवद्दृढं। तस्याहंनिग्रहंमन्येवायोरिव
सुदुष्करं॥ ३४ ॥ श्रीभगवानुवाच। असंशयंमहावाहोमनोदुर्निग्रहंचलं। अभ्या

भाषा अनुवाद

जो मैं तिस को एक वुद्धि कहे एक मोहिं छोड और वुद्धि नहीं है जिस के सो मेरे ही को आश्रय करि भजता है सो योगी तत्त्वज्ञानी सकल कर्म परित्याग करि के सर्व्वथा वर्त्तमान कहे जीवित दशा मे भी मेरे मे प्राप्त है अर्थात् सायुज्य गति को प्राप्त है॥ ३१ ॥ और ऐसे योगीजनों के वीच मे जीवो पर अनुग्रह करनेवाला श्रेष्ठ है सो कहते है कि हे अर्जुन जो अपनी उपमा कहे और सब मे भी अपने समान सुख या दुख तथा प्रिय अप्रिय देखता है और सब को सुखकी इच्छा करता दुख नही देख सकता है सोई योगी श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥ ऐसे योग के लक्षण भगवान से सुनि करि असम्भव जानि अर्जुन कहते है कि मनकी लय औ विक्षेप शक्ति दूर करि केवल आत्मासे जो अवस्थान कहे सम भाव से मन का थिर हो रहना रूप योग आप ने कहा सो हे मधुसूदन मन की चञ्चलतई के हेतु हमको इस योग की दीर्घ काल अवस्थिति कहे थिर रहना देख पडता नहीं है ॥ ३३ ॥ और वही चञ्चलता को विस्तार करि कहते है कि हे कृष्ण यह मन स्वभाव ही से चञ्चल औ प्रमाथी अर्थात् देह इन्द्रियों को विक्षिप्तकारी और वलवान कहे विचार से इसका जीतना असाध्य है तथा दृढ कहे विषयवासना से वद्ध इस मन को विषयों से भिन्न करना अति दुष्कर कठिन है इस से जैसे आकाश मे वायु को निश्चल करना कठिन तैसे इस मन का भी निग्रह कहे थिर करना हम को अति असाध्य वोध होता है ॥ ३४ ॥ अर्जुन की कही मन की अञ्चलता अङ्गीकार करि भगवान उस के निग्रह करने की उपाय कहते है कि हे महावाहो हा मन की चञ्चलता रोकना कठिन यह जो तुम कहते हो सो नि:सन्देह ठीक है पर तौ भी ह कौन्तेय अभ्यास के द्वारा

सेनतुकौन्तेयवैराग्येणचगृह्यते ॥ ३५ ॥ असंयतात्मनायोगोदुष्प्राप्यइतिमेमतिः।
वश्यात्मनातुयतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥ अर्जुनउवाच। अयतिःश्रद्धयोपे
तोयोगाच्चलितमानसः। अप्राप्ययोगसंसिद्धिंकांगतिंकृष्णगच्छति ॥ ३७ ॥ कच्चि
न्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिवनश्यति। अप्रतिष्ठोमहाबाहोविमूढोब्रह्मणःपथि ॥ ३८ ॥

भाषा अनुवाद

मन परमात्माकार वृत्ति मे विषयों की वैराग्य वशते निग्रहीत हो सकै है अभ्यास से लय और वैराग्य से विक्षेप ये दोनो दूर होय यह मन निवृत्त होय परमात्माकारता पाय कर थिर होता है क्यो कि योगशास्त्र मे कहा है कि वृत्तिशून्य मन की ब्रह्माकाराकारित रूप स्थिति होती है उसी को निर्विकल्पकसमाधि करते है ॥ ३५ ॥ और संयतआत्मा को योगप्राप्ति सुलभ है यह कहते हैं कि उक्त रीति से अभ्यास औ वैराग्य के द्वारा जिस का चित्त वश नहीं है उस को यह योग दु प्राप है और जिस का चित्त वशीभूत है और जो पूर्व कथित उपाय से यत्न करता है वह मेरे मत से योग प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥ अभ्यास वैराग्य के अभाव से या और कोई प्रकार उपाय से जिसको तत्त्वज्ञान न भया ऐसा मनुष्य कौन फल पाय सकता है औ किस गती को जाता है यह प्रश्न अर्जुन करते हैं कि हे कृष्ण जो प्रथम कपट रहित श्रद्धा युक्त होय योग मे प्रवृत्त भया परन्तु तिस पीछे यत्न न किया अर्थात् अभ्यास मे शिथिल कहे ढीला रहा और जिसका मन बिषय से मग्न रहा कहे विषय से विराग न भया ऐसा मनुष्य योग संसिद्धि जो ज्ञानरूप फल तिसको न प्राप्त होके किस रूप गति को पाय सकता है अर्थात् कौन गति को जाता है ॥ ३७ ॥ पूर्वोक्त प्रश्न की अभिप्राय विस्तार से अर्जुन कहते है कि नतो निष्काम कर्म करि ईश्वर को समर्पण किया और न काम्य कर्म हीं का अनुष्ठान किया तो स्वर्गादि फल से भी रहित हो रहा और योग की असम्पन्नता कहे अपूर्णता से मोक्ष भी न मिली तो फेरि हे महाबाहो वह अप्रतिष्ठित कहे प्रतिष्ठा रहित मनुष्य दोनो ओर से भ्रष्ट होय छिन्न मेघ के समान क्या नष्ट तो नहीं होता है जैसे मेघदल से भिन्न भया मेघ और मेघ को न प्राप्त होय के अन्तरीक्ष ही मे विलाय जाय है ॥ ३८ ॥ जिस से आप

एतन्मेसंशयंकृष्णछेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यःसंशयस्यास्यछेत्तानह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥
श्रीभगवानुवाच। पार्थनैवेहनामुत्रविनाशस्तस्यविद्यते। नहिकल्याणकृत्कश्चि
द्दुर्गतिंतातगच्छति ॥ ४० ॥ प्राप्यपुण्यकृतांलोकानुषित्वाशाश्वतीःसमाः। शुचीनां
श्रीमतांगेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥ अथवायोगिनामेवकुलेभवतिधीमतां। एत
द्धिदुर्लभतरंलोकेजन्मयदीदृशं ॥ ४२ ॥ तत्रतंबुद्धिसंयोगंलभतेपौर्वदेहिकं। यत

भाषा अनुवाद

सर्वज्ञ हो इस से आप को छोड़ और कोई इस हमारी संशय का दूर करने वाला नहीं है अर्जुन यही कहते है कि हे कृष्ण मेरी इस सन्देह को आप ही छेदन करने के योग्य हो और आपके विना दूसरा इससन्देह का निवृत्ति कर्त्ता नही है सो इस सन्देहको कृपा कर मेरे मनसे दूर करो ॥३९॥ अर्जुन की इस प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान साढ़े चारि श्लोक से कहते है कि हे पार्थ उस अधूरे योगाभ्यासी को योगभ्रष्ट होने से यह लोक नाश कहे इस लोक मे पातक और परलोक मे नरक प्राप्ति ये दोनो भी नही होय है जिस हेतु किसी कल्याण कृत कहे शुभ आचरण करनेवाला पुरुष तात कहे हे भाई अर्जुन दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है तात शब्द से लोक रीति देखावते भये भगवान ने स्नेह पूर्वक अर्जुन को सम्बोधन करि के कहा है ॥ ४० ॥ तो फेरि वे योगभ्रष्ट लोग किस गति को जाते हैं इस अपेक्षा पर कहते है जिस स्वर्ग आदि लोक को अश्वमेध आदिक यज्ञ करि के मनुष्य जाते है पुन्यकर्मकारी योगभ्रष्ट पुरुष भी उसी उत्तम लोक मे जाय कर बहुत वरस तक वहां वसि सुख भोग करि के फेरि सत् कर्मकारी धनी लोगों के घर मे आय जन्मग्रहण करते है ॥ ४१ ॥ थोडे दिन योगाभ्यास करि के योग से भ्रष्ट भये हुये पुरुष की गति कहि चुके अब बहुत काल अभ्यास कर के भ्रष्ट हुये योगी की गति कहते हैं कि अथवा सत्पात्र धनियोंके घर जन्मलेने से और जो दरिद्र बुद्धिमान योगाभ्यासियों के कुल मे जन्मग्रहण है सो उत्तम है ऐसा जन्म लोक मे अति दुर्लभ है सो चिरकाल योगाभ्यासी योगभ्रष्ट होय ऐसे ही घर मे उत्पन्न होते हैं ॥ ४२ ॥ सोई जन्मग्रहण के वादि क्या होता है यह डेढ श्लोक से कहते है कि हे कुरु

तेचततोभूयःसंसिद्धौकुरुनन्दन ॥ ४३ ॥ पूर्व्वाभ्यासेनतेनैवह्रियतेह्यवशोऽपिसः ।
जिज्ञासुरपियोगस्यशब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥ प्रयत्नाद्यतमानस्तुयोगीसंशुद्धकि
ल्बिषः । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयातिपरांगतिं ॥ ४५ ॥ तपस्विभ्योऽधिकोयोगी
ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः । कर्म्मिभ्यश्चाधिकोयोगीतस्माद्योगीभवार्जुन ॥ ४६ ॥

भाषा अनुवाद

नन्दन तेई दोनो प्रकार के योग भ्रष्ट लोग जन्म धारण करिके भी पूर्व देह के
अभ्यास से ब्रह्म विषयक बुद्धि संयोग युक्त होते है और फेरि भी मोक्ष की सिद्धि
के लिये अधिक यत्न करते है ॥ ४३ ॥ वह पूर्व देह का बुद्धि संस्कार कैसा है
और उस का कारण यह है कि सोई पूर्व देह की अभ्यास से अवश अर्थात् जो
कोई कारण या विघ्न वलते इच्छा न भी होय तौ भी मोक्ष सिद्धि के अर्थ पूर्व
संस्कार के जोर से अवश की नाईं यत्न करते है अर्थात् विषयो से विमुख हो
ब्रह्मनिरत होते है। और इस तरह पूर्व अभ्यास के कारण से मुक्ति के अर्थ
यत्नकारी मनुष्य जिस क्रम से मुक्त होते है सो कैमुतिक न्याय से डेढ श्लोक के
द्वारा कहते है कि जिज्ञासु कहे योग स्वरूप जानने की इच्छा करने वाला कुछ
केवल योग ही को नहीं प्राप्त होता किन्तु योगप्रसिद्ध मनुष्य पाप वशते योगभ्रष्ट
होय भी शब्द ब्रह्म जो वेद तिस को अति वर्त्तन करता अर्थात् वेदोक्त फल की
अपेक्षा अधिक फल को प्राप्त होय के फेरि मुक्त होता है। इतना ही नहीं इससे
भी अधिक इस को कैमुतिकन्याय कहते है ॥ ४४ ॥ जिस हेतु मन्द यत्नकारी
योगी श्रेष्ठगति प्राप्त होते है तो उत्तरोत्तर योग मे अधिक यत्न करते वै योग से
निःपाप होय अनेक जन्म संचित योग से संसिद्ध अर्थात् सम्यक ज्ञानी होय श्रेष्ठ
गति पावेंगे इस मे और कुछ कहना या सन्देह वा की है। सोई कहा कि अच्छी
तरह से यत्न करता योगी तौ संशुद्ध किल्बिष निःपाप अनेक जन्म से सम्यक सिद्ध
होय फेरि परमगति को याता है ॥ ४५ ॥ जिस कारण ऐसा है कि कृच्छ्रचान्द्रा
यण आदि तपमे निरत औ शास्त्रसे जो ज्ञानी इनसे भी योगी अधिक है तथा यज्ञ
कुंवां ताल वागदान कर्मकारी जो कर्मी पुरुषतिससे भी अधिक है हमारे मत
मे योगी इससे हे अर्जुन योगी होउ ॥ ४६ ॥ योगियों के मध्य अर्थात् यम नियम

योगीनामपिसर्वेषांमद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजतेयोमांसमेयुक्ततमोमतः ॥ ४७ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भाषा अनुवाद

परायण लोगों के बीच मे मेरा भक्त हो श्रेष्ठ है यह कहते हैं कि मै जो परमेश्वर सो मद्गत अर्थात् मेरे मे मन लगाय श्रद्धा से जो हम को भजे है मेरे मत मे सोई श्रेष्ठ इस से अर्जुन तुम मेरे भक्त होउ। श्रीधर स्वामी प्रभु को प्रणाम करते हैं कि परमानन्द भक्त सेवित लक्ष्मीपति की मै वन्दना करता हूं जिसने भक्तियोग शिरोमणि रूप आत्मयोग उपदेश किया है ॥४७॥ इति जगन्नाथ सुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तम अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। मय्यासक्तमनाःपार्थयोगंयुञ्जन्मदाश्रयः। असंशयंसमग्रं
मांयथाज्ञास्यसितच्छृणु ॥ १ ॥ ज्ञानंतेऽहंसविज्ञानमिदंवक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञा
त्वानेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥ मनुष्याणांसहस्रेषुकश्चिद्यततिसिद्धये।

भाषा अनुवाद

अब इस अध्याय मे भजनीय ईश्वर का स्वरूप कहते हैं कि जो पूर्व अध्याय के अन्त मे कहा कि मदात्मक होय जो मेरी भजन करै है सो उत्तम है इस पर जो कहो कि सो भगवान कैसे हैं जिन की भक्ति करना चाहिये इस अभिप्राय पर अपने स्वरूप का निरूपण करने के अर्थ श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन मेरेमे जिसका मन लगा है और मेहीं हौं अवलम्ब जिसके ऐसा अनन्य शरणागत भक्त होय योगाभ्यास करनेके अनन्तर संशयरहित समग्र कहे विभूति बल ऐश्वर्य सहित मेरे रूपको जैसे जानि सकैगा सोई मेरे वचन तुम मन दे श्रवण करो ॥ १ ॥ अब भगवान जी आप कहते हैं उसी की प्रशंसा करते हैं कि विज्ञान जो अनुभव और ज्ञान जो शास्त्रसे मेरे विषयमे होता है ये दोनो मे तुमारे प्रति कहूंगा जो जानि कै मुक्तिमार्ग मे आरूढ़ पुरुष को और फेरि कुछ जानना बाकी नहीं रहता है इसी से वे कृतार्थ होते हैं ॥ २ ॥ हमारी भक्ति विना हमें जानने सकै यह अति दुर्लभ है सोई कहते हैं कि असंख्य जीवों के मध्य मे मनुष्य छोडि और किसी की मोक्ष के विषय मे प्रवृत्ति नहीं होती है और हजार मनुष्य के बीच कोई एक पुन्य के प्रभाव से आत्मज्ञान के हेतु यत्न करता है ऐसे ही यत्न

यततामपिसिद्धानांकश्चिन्मांवेत्तितत्त्वतः ॥ ३ ॥ भूमिरापोऽनलोवायुःखंमनोबुद्धिरेवच। अहङ्कारइतीयंमेभिन्नाप्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥ अपरेयमितस्त्वन्यांप्रकृतिंविद्धिमेऽपरां। जीवभूतांमहाबाहोययेदंधार्य्यतेजगत् ॥ ५ ॥ एतद्योनीनिभूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहंकृत्स्नस्यजगतःप्रभवःप्रलयस्तथा ॥ ६ ॥ मत्तःपरतरंनान्य

भाषा अनुवाद

कारी हजार के मध्य कोई एक अति उत्तम पुन्य बरते अपने को जानि सकै है और ऐसे आत्मज्ञानी हजार के बीच मे कोई एक मेरी कृपा से परमात्मा स्वरूप मुझे यथार्थ रूप से जानै है सोई अति कठिन ज्ञान हम तुम से कहैगे ॥ ३ ॥ इन बातोंसे श्रोता अर्जुनको उत्साहयुक्त करके अब प्रकृति जो माया तिस के द्वारा सृष्टि आदि का कर्तृत्व जो अङ्गीकार किया है ईश्वरत्व उस का निरूपण उत्तम अधम भेद क्रम से दो श्लोकके द्वारा कर्त्ते है कि भूमि आदि शब्दसे पञ्चभूत और मन शब्द से मन का कारण रूप अहङ्कार तथा बुद्धि का कारण महत् तत्त्व औ अहङ्कारकी कारणभूत जो अविद्या कहे अज्ञान इस प्रकार से मेरी प्रकृति माया आठ प्रकारकी है अथवा पंचभूतसे रूपादि पंच मात्रा और अहङ्कार से कार्यरूप इन्द्रीय औ मन बुद्धि ये आठ प्रकार जानो यद्यपि इहां चौबिस भेदों को इन आठ के अन्तर्भूत करिकै मायाके आठ ही प्रकार कहाहै तौ भी जो तेरहवां क्षेत्राध्याय तहां प्रकृति के चौबिस ही तत्त्वरूप विभाग कहैगे ॥ ४ ॥ अपर कहे आठ प्रकार निकृष्ट प्रकृति कहि कै अब पर कहे उत्कृष्ट प्रकृति को कहते है कि हे महाबाहो यह पूर्व कही जो अष्ट प्रकार की प्रकृति सो अपर कहे निकृष्ट है क्योंकि वह जड़ औ उत्तम प्रकृति के अधीन है किन्तु और पर कहे उत्कृष्ट मेरि प्रकृति व्यवहारिक जीवस्वरूप इस प्रकृति से भिन्न जानो जो इस जगत् को धारण करती है अर्थात् इस के उत्कृष्टता मे कारण यह है कि क्षेत्रज्ञरूप वही चैतन्यशक्ति कर्तृक स्वकर्मके द्वारा यह संसार स्थित है ॥ ५ ॥ प्रकृति के पर औ अपर ये दो भेद देखाय कै अब प्रकृति के द्वारा सृष्टि आदि के आप ही कारण है सो कारणत्व कहते है कि हे धनञ्जय क्षेत्र कहे शरीर औ क्षेत्रज्ञ कहे जीव यह जो दो प्रकार की प्रकृति है योनि कहे कारण जिन का

तृकिञ्चिदस्तिधनञ्जय। मयिसर्वमिदंप्रोतंसूत्रेमणिगणाइव॥ ७॥ रसोऽहमप्सु
कौन्तेयप्रभाऽस्मिशशिसूर्य्ययोः। प्रणवःसर्ववेदेषुशब्दःखेपौरुषंनृषु॥ ८॥ पुण्यो
गन्धःपृथिव्याञ्चतेजश्चास्मिविभावसौ। जीवनंसर्वभूतेषुतपश्चास्मितपस्विषु॥ ९॥
वीजंमांसर्वभूतानांविद्धिपार्थसनातनं। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मितेजस्तेजस्विनामहं॥१०॥

भाषा अनुवाद

ऐसे स्थावर जङ्गम यावत भूत इसी कारण से उत्पन्न हैं यह जानो और विशेष यही है कि जड़रूप निकृष्ट प्रकृति देहरूप अनेक रूप पावती है और मेरा अंश जो चैतन्य सो भोक्तारूप शरीर मे प्रवेश कर के अपने कर्मों के अनुसार अनेक देह धारण करता रहता है और यह प्रकृति हमी से उत्पन्न है इस कारण से सम्पूर्ण जगत के प्रभव कहे उत्पन्न करनेवाले औ प्रलय कहे संहारकर्ता भी हम हीं है॥६॥ सो हे धनञ्जय इसीसे हमसे भिन्न और कोई भी जगत की सृष्टि औ संसार का श्रेष्ठ स्वतन्त्र कारण नहीं है और स्थिति के भी हेतु हम हैं यह कहते हैं कि मेरे ही मे समस्त जगत ग्रथित है जैसे सूत मे मणिगण रहते औ कपड़े मे सूत ओत प्रोत रहते हैं॥ ७॥ इस श्लोक से ले कर पांच श्लोक तक जगत की स्थिति का कारण विस्तार करि कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, जल मे रस रूप औ चन्द्र सूर्य्य मे प्रकाशरूप और वेद मे मूलभूत प्रणव ओंकाररूप मै हीं हूं तथा आकाशमे शब्दरूप औ पुरुषोंमे पौरुष कहे उद्यमरूप भी मै हीं हूं यह जानो॥ ८॥ और पवित्र गन्धरूप माता पृथिवी मे, और तेजरूप अग्नि मे तथा जीवनरूप सर्व भूत कहे प्राणियोंमे औ तपस्वियोंमे तपरूप मैहीं हूं अर्थात् मेरी ही विभूति है॥ ९॥ और हे पार्थ स्थावर जङ्गम जो कुछ भूतमात्र है उस का सनातन कहे उत्तरोत्तर समस्त कार्य्य मे अनुगत कहे प्राप्त अनाशी वीजरूप हमे जानो अर्थात् समान जातीय कार्य उत्पादन सामर्थ्य रूप जो कारण सो भी मेरी ही विभूति जानो परन्तु सामान्य वीज जैसे अंकुर होने पर नष्ट होते हैं तैसे मेरा विभूतिरूप वीज नाश नहीं होता इसी से सनातन है और बुद्धिमानो की बुद्धि कहे विवेकशक्ति मैहीं हौं और तेजस्वियोंमे तेज कहे प्रगल्भता प्रतापरूप भी मईं हूं यह जानो॥१०॥ और काम राग विवर्जित अर्थात् काम कहे अप्राप्त

वलंवलवतांचाहंकामरागविवर्जितं। धर्माविरुद्धोभूतेषुकामोऽस्मिभरतर्षभ ॥११॥ येचैवसात्त्विकाभावाराजसास्तामसाश्चये। मत्तएवेतितान्विद्धिनत्वहंतेषुतेमयि ॥ १२॥ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिःसर्वमिदंजगत्। मोहितंनाभिजानातिमामेभ्यःपरमव्ययं ॥ १३॥ दैवीह्येषागुणमयीममामायादुरत्यया। मामेवयेप्रपद्यन्तेमाया

भाषा अनुवाद

विषय मे अभिलाष स्वरूप जो रजोगुण का कार्य्य इच्छा और राग कहे अभिलषित अर्थ पायके उस से भी अधिक के अर्थ जो चित्त का अनुराग कहे तमोगुण का कार्य तृष्णारूप इच्छा है इन दोनो को छोडि और यावत वलवानों का बल भी मैहीं अर्थात् सात्विक स्वधर्मानुष्ठान की सामर्थ मैं हूं और हे भरतर्षभ भरत वंश मे श्रेष्ठ अर्जुन धर्म अविरुद्ध अर्थात् स्वभार्य्या मे पुत्रभाव उत्पन्न के अर्थ उपयोगी जो काम भोग सो भी मैहीं हूं धर्म अविरुद्ध कहने से वध आदि काम का निषेध आया ॥ ११ ॥ और जो सात्त्विक भाव अर्थात् शम दम आदि और राजस भाव कहे हर्ष गर्व आदि औ तामस भाव जो शोक मोहादि ये सब प्राणी मात्र को स्वकर्म वशते जन्मे है सो मेरे से उत्पन्न जानो जिस हेतु वै मेरी माया के तीन गुणों के कार्य है किन्तु तौ भी उनमे हम वर्त्तते नहीं अर्थात् जीव के समान गुणों के अधीन होते नहीं वलु ये गुण मेरे अधीन होय मेरे मे रहते हैं सोई कहा कि वे मेरे मे है और मै उनमे नहीं यह जौ जैसे संसारी मेरे अधीन है यह जानो ॥ १२ ॥ जो कहो कि ऐसे परमेश्वर को किस कारण से लोग नहीं जानते है इस पर कहते है कि पूर्वोक्त यही तीनि प्रकार काम लोभ आदि गुण विकार स्वभाव वशते अविवेकता को प्राप्त प्राणी मोहित होय हम को नहीं जानते हैं और आप कैसे है इस अपेक्षा से कहते है कि हम ये तीन भाव से पर कहे संसर्ग रहित और इन सब भावो के नियन्ता इसीसे अव्यय कहे निर्विकार मै हूं ॥ १३ ॥ जो कहो कि तुम को फेरि कौन जानने शके इस पर कहते हैं कि दैवी कहे अद्भुत औ सत्व आदिगुणविकारात्मक मेरी शक्ति जो दुस्तर माया है इस को जो अव्यभिचारिणी भक्तिसे हमै भजै सोई हमारी माया के पार होके हम को जानि शके है ॥ १४ ॥ तो फेरि सब मनुष्य तुमको

मेतांतरन्तिते ॥ १४ ॥ नमांदुष्कृतिनोमूढाःप्रपद्यन्तेनराधमाः। माययापहृतज्ञा
नाआसुरंभावमाश्रिताः ॥ १५ ॥ चतुर्विधाभजन्तेमांजनाःसुकृतिनोऽर्जुन। आ
र्तोजिज्ञासुरर्थार्थीज्ञानीचभरतर्षभ ॥ १६ ॥ तेषांज्ञानीनित्ययुक्तएकभक्तिर्विशि
ष्यते। प्रियोहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहंसचममप्रियः ॥ १७ ॥ उदाराःसर्वएवैतेज्ञा

भाषा अनुवाद

काहे नहीं भजते हैं जो यह कहो तो उत्तर सुनो कि मनुष्यों के मध्य मे जो अधम है तेई मेरो भजन नहीं करते हैं कारण यह कि वे लोग पापपरायण औ मायासे अपहृतज्ञान अर्थात् शास्त्र या आचार्य के द्वारा ज्ञान होनेसे भी वे उनको निरस्त कहे निरादर करता हूं और सोरहें अध्याय मे चौथे स्लोक से कहैंगे जो आसुर भाव उस को प्राप्त होय मेरी भक्ति नहीं करते हैं ॥ १५ ॥ सत्कर्मकारी मनुष्य ही मेरी भजन करते है और वे भी पुण्यके न्यून अधि वशते चारि प्रकार के हैं सोई कहते है कि हे अर्जुन जो पूर्व जन्म अवधि पुन्यवान है तेई हम को भजते है चारि प्रकार के भक्त ये है प्रथम आतुर कहे रोगग्रस्त दूसरा जिज्ञासु कहे आत्मज्ञान की इच्छा है जि से तीसरा अर्थार्थी अर्थात् लोक या परलोक का भोग साधन का अर्थाकांक्षी चौथा ज्ञानी है पर ये चारो पूर्व पुण्य के प्रभाव होने से भजते है नहीं तो और और देवतों की भक्ति करि अपना काम निकारलेते पर वह काम नहीं है ॥ १६ ॥ परन्तु इनके मध्य मे ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है सोई कहते है कि ज्ञानी पुरुष नित्ययुक्त अर्थात् सर्वदाही मेरे मे निष्ठ रहता है और केवल हमारा ही एक भक्त और ज्ञानी को शरीर आदि मे अहं बुद्धि का अभाव रहने से मनकी विक्षेप शक्ति के अभाव से नित्य युक्तत्व उस को है और इस ज्ञानी को हम अत्यन्त प्रिय है और वह भी हम को अति प्रिय है इन कारणों से ज्ञानी भक्त उत्तम है ॥ १७ ॥ तो क्या बाकी तीनि प्रकार के भक्त संसार गति को प्राप्त होते है ऐसी शङ्का को वारवार निषेध करि कहते है कि नहीं नहीं भक्तभी उदार कहे महान है अर्थात् मोक्षपावने के योग्य है परन्तु मेरी यह अभिप्राय कि ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है जिस हेतु वह मदेकचित्त है इससे सर्वोत्तम गतिरूप हमको ही आश्रय करके और कोई फल की इच्छा नहीं रख

नीत्वात्मैवमेमतं। आस्थितःसहियुक्तात्मामामेवानुत्तमांगतिं॥१८॥ बहूनांजन्मना
मन्तेज्ञानवान्मांप्रपद्यते। वासुदेवःसर्वमितिसमहात्मासुदुर्लभः॥१९॥ कामैस्तैस्तै
र्हृतज्ञानाःप्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तंतंनियममास्थायप्रकृत्यानियताःस्वया॥२०॥
योयोयांयांतनुंभक्तःश्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्यतस्याचलांश्रद्धांतामेवविदधाम्यहं
॥२१॥ सतयाश्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते। लभतेचततःकामान्मयैवविहि
तान्हितान्॥२२॥ अन्तवत्तुफलंतेषांतद्भवत्यल्पमेधसां। देवान्देवयजोयान्ति

भाषा अनुवाद

ता है॥१८॥ ऐसे भक्त अति दुर्लभ यह कहते हैं कि अनेक जन्मसे कुछ कुछ पुण्य संचित कहे इकट्ठी होने से शेष जन्ममे तत्त्वज्ञानी होयकर यह जो चरा चरात्मक कहे स्थावर जङ्गम रूप ब्रह्माण्ड सो सम्पूर्ण एक वासुदेव मात्र है इस प्रकार सर्वत्र आत्म दृष्टि के द्वारा हमको भजता है अपरिच्छिन्न कहे अबाधित दृष्टिसे ऐसा महात्मा ज्ञानी दुर्लभ है॥१९॥ सतो गुणी कामना करिकै जो मनुष्य परमेश्वर ही को भजते है तो कामना प्राप्त होय क्रम से मुक्त होते हैं परन्तु जो रजोगुण तमोगुण का आलम्बन कर के कामना के वश होय और२ देवतों का उपासन करते है तेई संसार गतिको पावते हैं इस श्लोकसे चौथे श्लोक तक कह ते है कि जो पुत्र कलत्र धन शत्रुनाश आदि मनोरथ से हतबुद्धि होय भूत प्रेत पिशाच यक्ष क्षुद्र कहे नीच देवतो को पूजते है वे नियम उपास बलिदान अङ्गी कार करिके अपनी कामना की वासना के वश होय प्रकृत्या कहे स्वभावही से उन देवतों की सेवा करते है॥२०॥ भक्तों के वीच जो जो भक्त मेरी मूर्त्ति विशेष को याने जिस मूर्त्ति को अर्थात् देवता रूपको श्रद्धासे पूजनेमे प्रवृत्त होते है उसी उसी भक्त की भावना के अनुसार वह उन की इच्छा अन्तर्यामी रूप से मै पूरी कर्ताहौ अर्थात् सोई मूर्त्ति धारण कर उनका इष्ट सिद्ध करता हूं॥२१॥ सो मेरा भक्त उस अपनी श्रद्धा से उसी देव की पूजा करता है और कामनों को पावता है पर वे कामना मैही देता हूं क्यों कि मै सर्व देवमय हौ और देवता मेरे आधीन हैं॥२२॥ अब कहते है कि यद्यपि देवता मेरी ही मूर्त्ति है और उनकी पूजाभी मेरी ही पूजा हैं तथा कर्मफलदाता भी हम हीं हैं पर तौभी

मद्भक्तायान्तिमामपि ॥ २३ ॥ अव्यक्तंव्यक्तिमापन्नंमन्यन्तेमामबुद्धयः। परंभावम
जानन्तोममाव्ययमनुत्तमं ॥ २४ ॥ नाहंप्रकाशःसर्वस्ययोगमायासमावृतः। मूढो
ऽयंनाभिजानातिलोकोमामजमव्ययं ॥२५॥ वेदाहंसमतीतानिवर्त्तमानानिचार्जुन।
भविष्याणिचभूतानिमान्तुवेदनकश्चन ॥ २६ ॥ इच्छाद्वेषसमुत्थेनद्वन्द्वमोहेनभा

भाषा अनुवाद

अल्प बुद्धियों को अन्तवन्त कहे विनाशी फल होता अर्थात् स्वर्ग आदि सांसारिक सुख कुछ दिनके लिये होता है क्यों कि साक्षात् मेरी उपासना नहीं किया है और जो जिस देवता को आराधै है सो उसी को प्राप्त होता और मेरे भक्त जन्म नाश रहित हो करके मेरे ही को प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥ और जो ऐसी शङ्का करो कि ध्यान पूजा आदि प्रयत्न तो समान है और फल में वैषम्य कहे बड़ा अन्तर है तो फेरि सब देवतों को त्यागकरि तुम ही को क्यों न सब भजें इस पर कहते हैं कि अल्प बुद्धि मनुष्य प्रपञ्च रहित हम को मत्स्य कूर्म स्वरूप ठहराते हैं इसका कारण यह है कि वे लोग मेरे श्रेष्ठ रूप को नहीं जानते हैं सोई रूप प्रकाशित करते हैं कि जो अव्यय कहे नाश रहित और जिससे और उत्तम नहीं है परन्तु संसारकी रक्षाके अर्थ लीलासे उत्पन्न विशुद्ध सत्त्वप्रधान जो मैं तिसको कर्मसे उत्पन्न भौतिक कहे पञ्चभूतमय देहधारी और देवता की नांईं जानिकै हमारे प्रति अधिक आदर नहीं करते हैं बलु शीघ्र फलदाता और देवतोंको भजते हैं वेई अन्तवन्त फल पावते हैं ॥ २४ ॥ मूढ़ लोगों के अज्ञान के कारण कहते हैं कि उन लोगों के सामने हम प्रगट नहीं होते परन्तु अपने भक्तों के सामने प्रगट होते हैं क्यों कि मूढ़ लोग मेरी योगमाया से आवृत हैं तो फेरि कहो कैसे अव्यय स्वरूप को जानि सकै ॥ २५ ॥ मेरे सर्व्वोत्तम स्वरूपको अज्ञानी लोग नहीं जानते यह जो पूर्व्व में कहा सोई स्वस्वरूप की उत्तमता औ अनावृतत्व ज्ञान रूपसे देखावते हुये औरों की अज्ञानता कहते हैं कि जिस हेतु से अर्जुन हम मायाके आश्रय हैं इससे भूतकाल वर्त्तमान काल औ भविष्यतकाल इन तीनों काल के वर्त्ती चराचर सब हम जानते हैं क्यों कि माया अपने आश्रय को मोह नहीं कर सकती है परन्तु मेरी माया से मोहित कोई भी हमै नहीं जानि सकै

रत। सर्वभूतानिसम्मोहंसर्गेयान्तिपरन्तप ॥ २७ ॥ येषामन्तगतंपापंजना
नांपुण्यकर्मणां। तेद्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताभजन्तेमांदृढव्रताः ॥ २८ ॥ जरामरणमोक्षा
यमामाश्रित्ययतन्तिये। तेब्रह्मतद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मंकर्मचाखिलं ॥ २९ ॥ साधि
भूताधिदैवंमांसाधियज्ञञ्चयेविदुः। प्रयाणकालेपिचमांतेविदुर्युक्तचेतसः॥३०॥ इति

भाषा अनुवाद

हैं माया अपने आश्रय के अधीन तथा औरोंको मोहती हैं यह प्रसिद्ध है॥ २६॥ माया से मोहित जीवों को परमेश्वर विषयक ज्ञान का अभाव जो कहा सोई अज्ञान की दृढ़ता मे कारण कहते हैं कि हे भारत सृष्टि काहे स्थूल देह धारण होने से जो देह के अनुकूल विषय मे इच्छा और उस देह के प्रतिकूल मे जो द्वेष और उन दोनो इच्छा औ द्वेष से उत्पन्न जो सुख दुख आदि तिससे भया जो विवेक का नाश इस से प्राणी मोह को प्राप्त हैं अर्थात् हम सुखी हम दुखी ऐसी निश्चय रखते हैं इसी से ये अज्ञानी हम को नहीं भजते हैं॥ २७॥ तौ फेरि कोई कोई जो तुमारो भजन करते है इस शङ्का मे कहते हैं कि जो पुण्य कर्म्म आचरण शील है उन के सर्व प्रतिबन्धक स्वरूप सब पाप नष्ट हो गये हैं वै लोग सुख दुख आदि द्वन्द्व से मुक्त औ एकाग्रचित्त होय हम को भजते है॥ २८॥ और ऐसे जो मेरे भक्त जन तेई जानने जोग वस्तु को अच्छीतरह जानि के कृतार्थ होते हैं यह कहते हैं कि जरा मरण निवारणार्थ मेरी आश्रय लै जो मनुष्य यत्न करते हैं वेई परब्रह्म को जानि शकै हैं और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या जाने हैं अर्थात् अध्यात्मज्ञान से प्राप्तव्य सोई देहादि से भिन्न शुद्ध आत्मा को भी जानते हैं और तत्त्वज्ञान के साधनरूप कर्म भी जानि शकते हैं॥ २९॥ और ऐसे मेरे भक्तों को योग से भ्रष्ट होने की शङ्का नहीं है यह इस स्लोक से कहते हैं कि अधिभूत अधिदैव अधियज्ञ सहित जो हम को जानते हैं तेई मदासक्त चित्त मरण समय मे भी हम को जानि शकै हैं उस वेला भी व्याकुल होय जो हम को नहीं भूलते हैं इससे मेरे भक्त को योगभ्रष्ट होने का डर नहीं है। श्रीधरस्वामी अध्याय भरका अर्थ कहते हैं कि कृष्णके भक्तहीयत्न ज्ञानलाभ करते हैं यही विज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय भगवान ने प्रकाशित किया है॥ ३०॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टम अध्यायः।

अर्जुनउवाच। किन्तद्ब्रह्मकिमध्यात्मंकिंकर्मपुरुषोत्तम। अधिभूतञ्चकिंप्रो
क्तमधिदैवंकिमुच्यते ॥ १ ॥ अधियज्ञ:कथंकोऽत्रदेहेऽस्मिन्मधुसूदन। प्रयाणका
लेचकथंज्ञेयोऽसिनियतात्मभि ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच। अक्षरंपरमंब्रह्मस्वभावोऽ

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय मे जो संक्षेप से कहा कि भगवद्भजन मे एक चित्त भक्तजन ब्रह्म
कर्म औ अधिभूत आदि सात पदार्थ जानि सकै हैं सोई सप्तम अध्याय मे जो कहा
ब्रह्मकर्मादि तिस को भगवान अष्टम अध्याय मे प्रकाशरूप से कहैंगे सो यह कि
सतये अध्याय के अन्तमे प्रसङ्गवशते भगवान ने कहा जो ब्रह्म औ अध्यात्म सात
पदार्थ तिनके ज्ञानेच्छुक अर्जुन दो श्लोक से प्रश्न करते हैं कि हे पुरुषोत्तम आप
ने कहा जो ब्रह्म सो किस रूप का है और अध्यात्म ही वा किस प्रकार का जानैं/
तथा कर्म ही वा क्या है और अधिभूत या अधिदैव किस को कहते है यह प्रश्न
अर्जुनने किया ॥ १ ॥ और शरीर के द्वारा जो यज्ञादि कर्म किये जाय
हैं उनका अधियज्ञ कहे अधिष्ठाता और कर्मफलदाता कौन है अब अधि
यज्ञ का स्वरूप पूछि करके उस का अधिष्ठान भूत वस्तु पूछते है कि हे
मधुसूदन यह अधियज्ञ पुरुष इस देह मे किस प्रकार से स्थित हो के यज्ञादि
कर्मों का नियोग कहे, अवधारण अर्थात् प्रवृत्त और यज्ञ फल प्रदान करते हैं
और अन्तकाल मे संयतचित्त पुरुष तुमको किस उपाय से जानते है। यहां
यज्ञ शब्द से सब कर्मों का ग्रहण है यह जानो ॥ २ ॥ श्रीकृष्ण भगवान इस
श्लोक से ले कर तीन श्लोक के द्वारा अर्जुन की प्रत्येक प्रश्न का सिद्धान्तरूप उत्तर

ध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरोविसर्गःकर्मसंज्ञितः॥ ३॥ अधिभूतंक्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतं। अधियज्ञोऽहमेवात्रदेहेदेहभृताम्वर॥ ४॥ अन्तकालेचमा

भाषा अनुवाद

कहते है कि न चरति गच्छति इति अचरं अर्थात् जिस का गमन औ आगमन नही है सोई अचर ब्रह्म है जो कहो कि जीव चैतन्यभी अचर होय न काहे तो कहते है कि नहीं देखो जो परम अचर कहे जगत का मूल कारण है सोई ब्रह्म जानो क्यों कि श्रुति मे भी कहा है कि हे गार्गि वेद इसी ब्रह्माण्ड ही को सोई ब्रह्म कहते है यह बात प्रसिद्ध है और उसी ब्रह्म का अंश जो जीव रूप होने से नाम स्वभाव और देह आदि अङ्गीकार करिके भोक्ता रूप से वर्त्तमान है वह जीवही अध्यात्म कहा है और भूत कहे जरायुज आदिकों की उत्पत्ति और उद्भव शब्द का यह अर्थ है कि सूर्य्य से वर्षा वर्षा से अन्न औ अन्न से क्रम से प्रजा इन उत्तमरूप जो वृद्धि सो भूतो का भाव और उद्भवकारी जो विसर्ग अर्थात् सर्व कर्म्म का उपलक्षरूप देवतो को उद्देश करि द्रव्य त्यागरूप जो यज्ञ सोई कर्म्म है॥३॥ और चर कहे विनश्वर जो देह आदि सो प्राणी मात्रको अधिकार कर के स्थिति करै है इससे अधिभूत कहावै है और पुरुष कहते है सूर्य मण्डलवर्त्ती विराटको जो अपने अंशरूप समस्त देवतोके अधिपति है वेई अधिदैव है अधिदैव कहते अधिष्ठात्री देवताको यह श्रुतिमे कहा है कि सोइ विराट पुरुष प्रथम शरीरधारी सकल भूतोंके आदि कर्त्ता औ ब्रह्माके भी पूर्व वर्त्तमान थे और इस शरीरमे अन्त र्यामी रूप से वर्त्तमान हम को अधियज्ञ कहे यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता तथा कर्म्म फलदाता जानो इस से अधियज्ञ किसरूप स्थिति करते इस प्रश्न का उत्तर भया क्यों कि यही अन्तर्यामी की असङ्ग आदि गुण के द्वारा जीवके साथ भिन्नता पूर्व्वक देह के बीच वर्त्तमानता लोक मे प्रसिद्ध है सो श्रुति भी कहती है कि मिलता भावसे एक स्थानमे रहने वाले जो जीव औ अन्तर्यामी रूप ये दोनो सुन्दर पक्ष युक्त पक्षी शरीररूप एक वृक्ष पर स्थिति किये है तिनके मध्य एक फल भोगी औ दूसरा साक्षी मात्र कहे देखनेवाला है और हे देहभृतावर नरश्रेष्ठ अर्जुन इस सम्बोधन से यह जनाया कि तुमभी अपनी प्रवृत्ति रूप कर्म्मों की अन्वय व्यतिरे

मेवस्मरन्मुक्त्वाकलेवरं। यःप्रयातिसमद्भावंयातिनास्त्यत्रसंशयः ॥ ५ ॥ यंयंवापि स्मरन्भावंत्यजत्यन्तेकलेवरं। तंतमेवैतिकौन्तेयसदातद्भावभावितः ॥ ६ ॥ तस्मात् सर्वेषुकालेषुमामनुस्मरयुध्यच। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥ अभ्या

भाषा अनुवाद

कानुरूप अर्थात् परस्पर सम्बन्ध और भिन्नरूपसिद्धि असिद्धि मे वही अन्तर्यामीके अधीन हो तो सुतरां अन्वयव्यतिरेक के द्वारा इस अन्तर्यामी को तुम आप जानवे योग्य हो ॥ ४ ॥ और तुम अन्तकाल मे कैसे जाने जाते हो इस विषय मे अन्त समय ज्ञानकी उपाय औ उसका फल देखावते हैं कि उक्त जो अन्तर्यामी स्वरूप जो परमेश्वर मै सो मेरे ही स्मरण पूर्वक देह त्याग करिके जो प्रकट रूप से अर्चिरादि कहे सूर्य मण्डल मे होय के उत्तरायण राहसे गमन करते हैं वे मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं इसमे संशय नहीं है मेरा स्मरण ही ज्ञान की उपाय है औ मेरे रूपता की प्राप्ति ही फल है ॥ ५ ॥ अन्तकाल मे मेरे स्मरण करके मेरी प्राप्तिही केवल होय यही नहीं सोई कहते है कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन अन्तकाल मे जो कोई जिस देवता का या और किसी विषय का ध्यान करके देह छोडै है सो उसी को प्राप्त होता जिसका ध्यान किया है देखो सर्वदा जिसका चिन्तन करते रहो तो अन्तकाल मे भी अन्तःकरण मे उसीका संस्कार रहता है और नयी अपूर्व वस्तुका स्मरण होना भी कठिन है ॥६॥ पूर्व वासनाही जिसलिये मरण कालके स्मरणमे हेतु है और अन्त समय प्राणीको अपूर्व वस्तुका स्मरण असंभव है इससे हे अर्जुन सर्वदा हमको चिन्तन करो परन्तु मेरा चिन्तन भी चित्तशुद्ध विना दुर्लभ है सो तुम चित्तशुद्धि के अर्थ युद्धरूप स्वधर्मका अनुष्ठान करो और तुमारा संकल्पात्मकमन तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि मेरे मे अर्पित भई है इससे अनायास हम को प्राप्त होउगे इसमें संशय नही है ॥ ७ ॥ और स्मरण मे परम कारण अभ्यास को देखावते हुये कहते है कि अभ्यास कहे समान जातीय की प्रतीतिका प्रवाह जो धारारूप वह योग है अर्थात् उपाय है उससे एकाग्र होय जिसकी वुद्धि अन्य विषय मे न जाय ऐसा मनुष्य उस बुद्धिके द्वारा प्रकाश रूप परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करिके हे पार्थ उस परमेश्वर

सयोगयुक्तेनचेतसाऽनान्यगामिना । परमंपुरुषंदिव्यंयातिपार्थानुचिन्तयन् ॥ ८॥ कविंपुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः । सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णंतमसःपरस्तात् ॥ ९ ॥ प्रयाणकालेमनसाऽचलेनभक्त्यायुक्तोयोगबलेनचैव । भ्रुवोर्मध्येप्राणमावेश्यसम्यक्सतंपरंपुरुषमुपैतिदिव्यं ॥ १० ॥ यदक्षरंवेदविदो वदन्तिविशन्तियद्यतयोवीतरागाः । यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यंचरन्तितत्तेपदंसंग्रहेण

भाषा अनुवाद

को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ फेरि भी चिन्तनीय पुरुष का स्वरूप दो श्लोकसे कहते है कि कवि कहे सर्वज्ञ सकल विद्यों के निर्माण कर्त्ता पुराण कहे अनादि सिद्ध अनुशासिता कहे समस्त जगतके नियन्ता और अणोरणीयांस कहे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म आकाश काल दिशोंसे भी सूक्ष्म औ सबके धाता कहे पोषण कर्ता अपरिमित महिमा से अचिन्त्य रूप अर्थात् मलयुक्त मनबुद्धि के अगोचर कहे अदृश्य औ आदित्य वर्ण तथा तम जो प्रकृति माया तिससे पर ऐसे मेरे रूप को जो स्मरण करै है ॥ ९ ॥ प्रपञ्च सहित प्रकृति को भिन्न करिकै जो स्थित है ऐसे पुरुषको भक्तियुक्त जो पुरुष विक्षेप रहित निश्चल मन से आसन्न कहे अन्तकाल मे धारावाहिक चित्तवृत्ति से स्मरण करै है उस के स्मरण विषयक मन की स्थिरता का कारण यही है कि सम्पूर्ण योग बलसे शुषुम्नामार्गक्रमसे उसकी प्राणवायु भ्रूमध्य मे प्रविष्ट होती है ऐसा पुरुष परमात्मारूप प्रकाशात्मक पुरुष को प्राप्त होता है ॥ १० ॥ तिस प्रकाश पुरुष की प्राप्ति का हेतु अभ्यास योग की अपेक्षा प्रणव अभ्यास को अन्तरङ्ग कहे श्रेष्ठ साधन कहने की इच्छा रखते हुये भगवान उसके कहने की प्रतिज्ञा करते है कि हे गार्गि यही अक्षरस्वरूप परब्रह्म की शिक्षाक्रम से सूर्य औ चन्द्रम मे नियुक्त होय स्थिति करते है यह श्रुति के कहने से वेदवित लोग जिस को अक्षर कहते है और जिस के राग आदि दोष गत भये है ऐसा यती कहे यत्नकारी पुरुष जिसमे प्रवेश करते और जिसके जानने अर्थ गुरुकुलमे वास करि ब्रह्मचर्य करतेहैं सोई ब्रह्मपद तुमको संक्षेपसे कहताहूं तुम सुनो ॥११॥ ब्रह्मपद प्राप्तिको अङ्ग समेत उपाय दो श्लोक से कहते है कि इन्द्रियों को प्रत्याहरण पूर्वक अर्थात् चक्षु आदि से बाह्य रूपादि विषयों का ग्रहण छोडि मन को

प्रवक्ष्ये ॥११॥ सर्वद्वाराणिसंयम्यमनोहृदिनिरुध्यच । मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो
योगधारणां ॥ १२ ॥ ओमित्येकाक्षरंब्रह्मव्याहरन्मामनुस्मरन् । यःप्रयातित्य
जन्देहंसयातिपरमांगतिं ॥ १३ ॥ अनन्यचेताः सततंयोमांस्मरतिनित्यशः । तस्या
हंसुलभःपार्थनित्ययुक्तस्ययोगिनः ॥ १४ ॥ मामुपेत्यपुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतं ।
नाप्नुवन्तिमहात्मानःसंसिद्धिंपरमांगताः ॥ १५ ॥ आब्रह्मभुवनाल्लोकाःपुनरावर्त्ति

भाषा अनुवाद

हृदय मे रोध कर के अर्थात् विषय का स्मरण त्याग करते भौह के मध्य भृकुटी देश मे वायु के स्थापन करने के अनन्तर योग का धारणरूप जो धैर्य उस का अवलम्बन कर के ॥ १२ ॥ ओंकाराख्य एक जो अक्षर सो ब्रह्म का वाचक अथवा ब्रह्म प्रतीक कहे प्रतिमा के समान इन दोनो हेतु से ब्रह्म है ऐसे प्रणव कहे ओंकार के उच्चारण पूर्वक तद्वाच्यरूप हम को स्मरण करि देह त्याग करते जो मनुष्य अर्चिरादि मार्ग अर्थात् चन्द्र सूर्य मार्गसे गमन करते है तेई सर्वोत्तम मेरी गति को पावते है ॥ १३ ॥ ऐसे ही अन्त काल मे धारणा क्रम से नित्य अभ्यासकारी पुरुष को मेरी प्राप्ति होती है और को नहीं एतावता पूर्व वचन हीं को स्मरण करावते है कि हे पार्थ जिस मनुष्य का चित्त भगवत को छोडि और, मे नही प्रसक्त है ऐसा अनन्यचित्त होय जो निरन्तर या प्रति दिन हम को स्मरण, करै है उसी समाहित पुरुष को हम अनायास मिलते है और, को नही प्राप्त होते है यह जानो ॥ १४ ॥ जो तुम स्वभक्त को ऐसे अनायास मिलते हो तो फेरि उस का क्या होता है इस शङ्का पर कहते है कि पूर्वोक्त महात्मा लोग मेरी भक्ति से मेरे को प्राप्त होय कर दुःख का भवन औ अनित्य जो जन्म तिस को फेरि नहीं प्राप्त होते है क्यों कि वे परमसिद्धि को प्राप्त भये अर्थात् जीवन्मुक्त होय जन्म मरण संसारदुःखसे छूटि जाते है ॥ १५ ॥ इस तरह और और लोकमेभी उन भक्तोंको पुनर्जन्मका अभाव देखाय कर अपुनरावृत्ति निर्द्धारण करते है, कि हे अर्जुन ब्रह्मा के लोक पर्यन्त प्राप्त हो के भी प्राणी पुनर्बार संसारगामी होते है क्यों कि ब्रह्मलोक का भी एक दिन नाश होता है और क्रम मुक्ति जो कहा है सो किसी विरले को उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक

नोऽर्ज्जुन। मामुपेत्यतुकौन्तेयपुनर्जन्मनविद्यते ॥ १६ ॥ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्र
ह्मणोविदुः।. रात्रिंयुगसहस्रान्तांतेऽहोरात्रविदोजनाः ॥ १७ ॥ अव्यक्ताद्व्यक्तयः
सर्व्वाप्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमेप्रलीयन्तेतत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८ ॥ भूतग्रामः
सएवायंभूत्वाभूत्वाप्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थप्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥ परस्त

भाषा अनुवाद

मे जाय ज्ञान प्राप्त होय ब्रह्मा के साथ मुक्ति मिलती है परन्तु हे कौन्तेय मद्रूप को प्राप्त मेरे भक्त का पुनर्जन्म तो नहीं होता है ॥ १६ ॥ और जो कहो कि तपस्वी दानी विगतराग औ क्षमाशील लोग त्रैलोक्यके ऊपर शोकरहित स्थानको प्रस्थान करि वास करते है इस पुराण के वचन से महर्लोक आदि लोकों की और लोकसे उत्तमता मालूम होती है परन्तु विनाश तो सब लोकोंका है इस पक्षमें सब की अपकृष्टता ही है हां विशेष यही है कि वें लोक बहुत दिन तक स्थिर रहते है और ब्रह्माकी अपने वर्षोंसे सौ वर्षकी आयुर्दा है औ त्रैलोक्य अर्थात् स्वर्ग मर्त्य पाताल ये ब्रह्मा के प्रति दिनमे उत्पन्न और प्रति रात्रि मे प्रलय होते है ब्रह्माका एक दिन मनुष्यके हजार चतुर्युगके बराबर का होता है और उतनीही रात्रि है और मनुष्य का एक वर्ष देवतो का रात्रि दिन है इस हिसाब से देवतों के बारह हजार वर्ष मे चारि युग होते है जो यह जानते सोई सर्वज्ञ है और जो चन्द्र सूर्य की गतिको रात्रि दिन जाते वे कुछ नही जाते है ॥ १७ ॥ जिससे कालगति के पराधीन सब लोक है इस से पुनरावृत्ति होती है सोई कहते हैं कि कार्यरूप जगत के अव्यक्त कहे सूक्ष्मरूप का कारण स्वरूप ही को प्रकृति कहते है उसी कारणरूप प्रकृति से ब्रह्मा के दिन मे चराचर सकल उत्पन्न होते और रात्रि आने से फेरि उसी प्रकृति मे लय पाते है ॥ १८ ॥ अब विषयों से वैराग्य होने के अर्थ सृष्टि औ लय का प्रवाह देखावते हैं कि हे पार्थ चराचर प्राणी मात्र पूर्व जे थे तेई अवश कर्म के आधीन वारम्बार होते औ जाते है जब ब्रह्मा का दिन भया तब प्रगटे जब रात्रि आई तो फेरि प्रकृति मे लीन हो गये ऐसे ही हेरफेर लगा रहता है ॥ १९ ॥ सकल लोक की अनित्यता दिखाय कर अब दो श्लोक से परमेश्वर का नित्यत्व विस्तार करि कहते हैं कि सोई चराचर की कारणरूप

परस्तस्मात्तुभावोन्योव्यक्तोव्यक्तात्सनातनः। यःससर्वेषुभूतेषुनश्यत्सुनविनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्तस्तमाहुःपरमांगतिं। यंप्राप्यननिवर्त्तन्तेतद्धामपरमंमम ॥ २१ ॥
पुरुषःसपरःपार्थभक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानिभूतानियेनसर्वमिदंततं ॥२२॥
यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैवयोगिनः। प्रयातायान्तितंकालंवक्ष्यामिभरतर्षभ ॥

भाषा अनुवाद

प्रकृति पर अर्थात् उस का भी कारण स्वरूप औ उस से भिन्न चक्षु आदि का अगोचर भाव जो अनादि पुरुष सो यावत् कार्य कारणरूप भूत मात्र का नाश होने से भी नष्ट नहीं होते हैं॥ २०॥ अब परमेश्वर के अविनाशित्व मे प्रमाण दर्शाय कर कहते है कि जो भावरूप इन्द्रिय अगोचर प्रवेश नाश शून्य अक्षर स्वरूप परमेश्वर जिस से इस विश्व का उद्भव है औ श्रुति सब जिस को अक्षर कहती हैं कि पुरुषान्न किञ्चित्पर सा काष्ठा परागतिः जो सब के पर और जिस से पर कोई नहीं ऐसे श्रुति जिस को उत्कृष्ट गति कहती हैं और जिस को प्राय कर फेरि संसार गति नहीं होती वही मेरा स्वरूप है इस से मै ही परम गति हो यह जानो॥ २१॥ इस परमेश्वर की प्राप्ति मे भक्ति ही सब से बढि कै परम उपायरूप है इस को कहते हैं कि सोई परम पुरुष मै अनन्त भक्ति अर्थात् जिस भक्ति मे मै छोडि और कोई भी चिन्तनीय नहीं है ऐसी एकान्त भक्ति से मै मिलता हूं और अब प्राप्तव्य पुरुष की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस पुरुषमे ये भूत सकल स्थित हैं और जो कारण रूप से समस्त जगत मे व्याप रहा है सोई मै हूं॥ २२॥ इस प्रकार से भगवत उपासक परम पद प्राप्त हो के फेरि संसारगतिमे नहीं आवते हैं यह तीनि श्लोक से कहा अब कौन मार्ग से गमन करिके फेरि आवते और कौन मार्गगामी फेरि नही आवते है यहा प्रकाश रूप से कहते है कि हे अर्ज्जुन योगी जन जिस काल मे गमन करि आवते और जिस मे गमन करि नहीं आवते सो काल तुम से कहूंगा यद्यपि देह त्याग मे उत्तरायण काल श्रेष्ठ औ दक्षिणायन निकृष्ट है तौ भी व्याससूत्र से कहा है कि भगवत भक्त दक्षिणायन मे उत्तम गति को जाते है यहा योगी कहे कर्मी औ काल से तदभिमानिनी देवताको लेते है॥२३॥ और जिस मार्गसे प्रयाण करिके

॥ २३ ॥ अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लःषण्मासाउत्तरायणं। तत्रप्रयातागच्छन्तिब्रह्मब्रह्म विदोजनाः ॥ २४ ॥ धूमोरात्रिस्तथाकृष्णःषण्मासादक्षिणायनं। तत्रचान्द्रमसंज्योतिर्योगीप्राप्यनिवर्त्तते ॥ २५ ॥ शुक्लकृष्णेगतीह्येतेजगतःशाश्वतेमते। एकयायात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्ततेपुनः ॥ २६ ॥ नैतेसृतीपार्थजनानुयोगीमुह्यतिकश्चन।

भाषा अनुवाद

फेरि नहीं संसारगतिको प्राप्त होते है सोई मार्ग कहते हैं कि अर्चि अभिमानिनी अर्थात् अग्नि या ज्योतिरूप और अह कहे दिन औ शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण जो छ मास हैं और संवत्सर इन सब की अभिमानिनी देवता इहां लेते हैं यथा प्रथम ज्योति मे प्रवेश करि फेरि दिन मे दिन से पक्ष मे पक्ष से उत्तरायण छ माहों मे उससे संवत्सर मे सम्वत्सर से देवलोक मे प्राप्त होय फेरि भगवत उपासक ब्रह्मज्ञ होय साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होते है निष्काम कर्मकारी इस गति से जाते है ॥२४॥ और जिस राह से गमन करि फेरि संसार से आवते सो कहते है कि प्रथम धूम मे प्राप्त होय फेरि धूम से रात्रि मे रात्रि से कृष्णपक्ष मे कृष्णपक्ष से दक्षिणायन छ मास मे तब पितृलोक मे उस से फेरि चन्द्रजोति मे प्राप्त होय योगी फेरि निवृत्त होते है इहां भी धूमादि शब्दो से तदभिमानिनी देवता लेते हैं कामना करि कर्मकारीयों की यह गति है कि कर्मफल भोग करि फेरि संसार होता है ॥ २५ ॥ येई शुक्ल कृष्णा दो गती जगत मे सनातन से चली आवती हैं इन मे निष्काम कर्मकारी ज्ञानी शुक्ल कहे प्रकाश मार्ग से गमन कर के मुक्त होते और नाना मनोरथ कर के यज्ञादि कर्मकारी मनुष्य कृष्ण कहे अन्धेरी धूम मार्ग से गमन कर कर्मफल भोग के अनन्तर फेरि संसार से आय जन्म ग्रहण करते है ॥ २६ ॥ इन दोनो उक्त मार्ग के ज्ञान से जो फल सो दिखावते हुये भक्तियोग कहते हैं कि हे पार्थ मोक्ष औ संसार की देनेवाली इन दोनो मार्ग को जानि कर कोई योगी पुरुष सासारिक मोह को नही पावता अर्थात् सुख समझि स्वर्ग आदि फल की कामना नही करता बल्कि परमेश्वर ही मे निष्ठा करता है इस से हे अर्ज्जुन तुम मेरे भक्तियोग मे युक्त होय के रहो ॥ २७ ॥ अध्याय का अर्थ स्वरूप आठ प्रश्न का अर्थ निर्णय औ फलके सहित कहते है कि वेदोमे अध्ययनके

तस्मात्सर्वेषुकालेषुयोगयुक्तोभवार्ज्जुन ॥ २७ ॥ वेदेषुयज्ञेषुतपसुचैवदानेषुयत्पुण्य फलंप्रदिष्टं । अत्येतितत्सर्वमिदंविदित्वायोगीपरंस्थानमुपैतिचाद्यं ॥ २८ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां तारकब्रह्मयोगोनाम अष्टमोऽध्याय. ॥ ८ ॥

भाषा अनुवाद

द्वारा और यज्ञो मे अनुष्ठान द्वारा औ तपस्यों मे शरीर शोषण द्वारा औ सर्व दान मे सत्पात्र के अर्पण से जो उत्तम पुण्यफल सब शास्त्रो ने कहा है उस फल को उल्लङ्घन कर के योगी श्रेष्ठ योगरूप ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं अर्थात् परम पद पावते हैं ॥ २८ ॥ इति जगन्नाथशुक्लविरचित मनभावनी टीकायां तारकब्रह्म योगनाम अष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

नवम अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । इदन्तुतेगुह्यतमंप्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानंविज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥ राजविद्याराजगुह्यंपवित्रमिदमुत्तमं । प्रत्य

भाषा अनुवाद

केवल भक्ति ही के द्वारासे परमेश्वर पाये जाते अर्थात् ईश्वरका तत्त्वज्ञान होना भक्तिके विना कोइ उपाय से सुलभ नही है यही अष्टम अध्याय मे स्थिर किया है सोइ ईश्वरका अद्भुत ऐश्वर्य्य औ अपनी भक्तिकी सर्व श्रेष्ठमहिमा अब नवयेंअध्याय मे विस्तार से भगवान आपअपने मुखसे कहते है कि जिस से परमेश्वर जाने जांय सोइ विज्ञान कहे उपासना तिस के सहित ईश्वरविषयक जो यह ज्ञान गुह्यतम अर्थात् शास्त्रोक्त धर्म्मज्ञान गुह्य कहे गोपनीय है और उस की अपेक्षा देहादि से भिन्न जो आत्मज्ञान सो गुह्यतर कहे अधिकगोपनीयहै फेरि आत्मज्ञान गुह्यतम है अत्यन्त गोपनीय है सो असूया रहित अर्थात् बार बार अपना महात्म उपदेश करते हुये मेरे मे दोष दृष्टि रहित तुम हो इस से मै अब दया करि तुम से कहूंगा कि जिस को जानि करि इस अशुभ रूप संसारबन्धन से छूटि जावगे॥१॥ अब अर्जुन की इच्छा बढावने के हेतु जो ज्ञान कहैगे उस की प्रशंसा करते है कि यह जो ज्ञान सो सकल विद्यों का राजा और गोपनीय जो कुछ है उन का भी राजा अर्थात् सब से श्रेष्ठ है और यह अत्यन्त पावन तथा उत्तम है और ज्ञानियों को प्रत्यक्षावगम कहे जिस का बोधसुलभ है और धर्म्य कहे धर्म्म से भिन्न नहीं अर्थात् वेदविहित सर्व धर्म्म का फल स्वरूप है और सुसुखं कहे अना यास साधन किया जाय सकै है और जिस हेतु अक्षय फल है इस से अव्यय

चाविगमंधर्म्यंसुसुखंकर्त्तुमव्ययं ॥ २ ॥ अश्रद्दधानाःपुरुषाधर्म्मस्यास्यपरन्तप। अ
प्राप्यमांनिवर्त्तन्तेमृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥ मयाततमिदंसर्व्वंजगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानिसर्व्वभूतानिनचाहंतेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥ नचमत्स्थानिभूतानिपश्यमेयोग
मैश्वरं। भूतभृन्नचभूतस्थोममात्माभूतभावनः ॥ ५ ॥ यथाकाशस्थितोनित्यंवायुः

भाषा अनुवाद

अर्थात् नाश रहित है ॥ २ ॥ जो इस ज्ञान से ऐसा सुख सुलभ है तो फेरि कौन ऐसा अभागी है जो संसारी होगा इस शङ्का पर कहते हैं कि यही भक्ति सहित ज्ञानस्वरूप धर्म्म को न करि के दूसरी उपाय से मेरी प्राप्ति के लिये जो लोग यत्न करते हैं वे मनुष्य हम को न पाय के मृत्यु युक्त संसार में वार वार आते और जाते रहते हैं ॥३॥ इस प्रकारसे अवसर प्राप्त जो ज्ञानकाण्ड तिसके श्रोता अर्जुन को उत्साहयुक्त करि के सोइ ज्ञान दो श्लोक से कहते हैं कि जिस का स्वरूप अव्यक्त कहे इन्द्रियों का अगोचर ऐसा कारणस्वरूप जो मैं सो मेरे से सम्पूर्ण जगत व्याप्त है क्यों कि श्रुति कहती है कि सोइ ब्रह्म संसार सृष्टि करि के उसके बीच जीवस्वरूप होय प्रविष्ट है इसकारणसे चराचरात्मक भूतमात्र कारण रूप मेरे ही में स्थित हैं परन्तु ऐसा भी है तौ भी स्वकार्य घटादि में मृत्तिका के तुल्य मैं भूतों में नहीं हूं जिस हेतु मैं आकाश के समान सङ्गरहित अर्थात् सबसे अलग हौं ॥४॥ और देखो कि हम सबसे अलगहैं इस हेतु स्थावर जङ्गम सर्व्वभूत हमारे में नहीं स्थित हैं और जो शङ्का करो कि पीछे तुमने अपना सर्व्वव्यापित्व औ सब को आश्रय यह कहा है तो कहते हैं कि हमारी अघट घटनारूप चातुरी देखोकि मेरी योगमायाके विभवयससे यहवात बूझनेके अयोग्यहै पर मेरा कहना तो किसीग्रंथमे विरुद्ध नहींहै और आचार्य लोग जोभूतभावन पालनकर्त्ता हमको कहते हैं तौ भी हमारा उत्कृष्ट रूप भूतभावन नहीहै जैसे जीवगण देहधारण औ पालन करते हुये अहङ्कार से देह के साथ मिलत हैं तैसे निरहङ्कार हेतु से भूतों का लालन पालन करते हुये भी हम उन में पृथक हैं यही मेरा ऐश्वर्य्य है ॥ ५ ॥ अन मिल वस्तु भी आधार आधेय अर्थात् रहने की जगह औ रहने वाली वस्तु होसकै है यह दृष्टान्त देखायकर कहते हैं कि आकाशके विना वस्तु

सर्व्वगोमहान्। तथासर्वाणिभूतानिमत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥ सर्व्वभूतानिकौन्तेयप्रकृतिंयान्तिमामिकां। कल्पक्षयेपुनस्तानिकल्पादौविसृजाम्यहं ॥ ७ ॥ प्रकृतिंस्वामवष्टभ्यविसृजामिपुनःपुनः। भूतग्राममिमंकृत्स्नमवशंप्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥ नचमांतानिकर्म्माणिनिवध्नन्तिधनञ्जय। उदासीनवदासीनमसक्तंतेषुकर्मसु ॥ ९ ॥ मयाध्यक्षेणप्रकृतिःसूयतेसचराचरं। हेतुनानेनकौन्तेयजगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥ अव

भाषा अनुवाद

रहने का असम्भव है इससे आकाश मे स्थित जो वायु सो सर्वगत औ महान होके भी आकाश के साथ मिलने को कोइ उपाय न रहनेसे जैसे आकाश के साथ नहीं मिलती है तैसेही भूत मेरेमे रहते हुयेभी अलग जानो अर्थात् जैसे आधाररूप आकाश मे रहि कर वायु निर्लिप्त है तैसे भूतोके रहते हुये भी आधार स्वरूप ब्रह्म निर्लिप्त है ॥ ६ ॥ इस से असङ्गरूप ईश्वर को योगमाया से चराचर की स्थिति ईश्वर मे कही गई अब सोई योगमाया से सृष्टि औ पालन के भी हेतु ईश्वर है यह कहते है कि प्रलय के समय मे सकल भूत सत्व रज तम गुणमयी मेरी प्रकृति मे लीन होते फेरि सृष्टि के समय स्थूल सूक्ष्म नानारूप भूतों को मै सिर्जन करता हूं हे कौन्तेय अर्जुन॥७॥ जो कहो कि तुम असङ्ग निर्विकार सो कैसे सृष्टि करते हो इस अपेक्षा पर कहते है कि मै अपने आधीन प्रकृति को अंगीकार करि प्राचीन कर्मों के स्वभाव वश भये पराधीन कर्मों के वशीभूत भूत सकलकों फेरि नानारूप सिर्जन करता रहता हूं ॥ ८ ॥ और जो कहो कि इस प्रकार नाना प्रकार कर्मकारी जो तुम हो तो तुमारा जीवके समान बन्धन क्यों न होय तो कहते है कि वे कर्म हमको बन्ध नहीं कर सकते क्यों कि कर्ममे जो आसक्ति सोइ बन्धन का कारण हैं और हम पूरण काम है इस से वह आसक्ति हम को नही है हम तो उदासीन के समान वर्त्तमान है ऐसे ही उदासीन के समान कर्म करते हुये तुम को भी ये कर्म न लगेंगे ॥ ९ ॥ सोइ कहते है कि अधिष्ठाता कारण स्वरूप मेरे बल से यह प्रकृति चराचर विश्व को वार वार उत्पन्न करती है तात्पर्य्य यह कि मेरी सान्निध्य कहे सामीप्य से प्रकृति सृष्टि करने को समर्थ होती है इस से हम को कर्तृत्व औ उदासीनत्व दोनो

जानन्तिमांमूढामानुषीन्तनुमाश्रितं। परंभावमजानन्तोममभूतमहेश्वरं॥ ११॥
मोघाशामोघकर्माणोमोघज्ञानाविचेतसः। राक्षसीमासुरीञ्चैवप्रकृतिंमोहनींश्रि
ताः॥१२॥ महात्मानस्तुमांपार्थदैवीप्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूता
दिमव्ययं॥१३॥ सततंकीर्त्तयन्तोमांयतन्तश्चदृढव्रताः। नमस्यन्तश्चमांभक्त्यानित्ययु

भाषा अनुवाद

असङ्गत नही है क्यो कि माया हमारी सहाय के विना असमर्थ है॥१०॥ और जो कहो कि तुम ऐसे जो परमेश्वर तो तुमको कोइ कोइ आदर नही क्यो करते है तो दो श्लोकसे कहते है कि सर्व भूत के ईश्वर जो हम सो हमारा परमतत्त्व जो लोग नही जानते तेई मूर्ख हमारा निरादर करते है इस मे कारण यह है कि हम विशुद्ध सत्त्वरूप होय के भी अपने भक्तो की इच्छा वशते मनुष्य के नाईं शरीर धारण करते और तैसेही कर्मभी करते है इससे लोग अपने समान हम को मानते है॥११॥ और जो मनुष्य हम से भिन्न और देवतो से कि शीघ्र फल देयंगे ऐसी निष्फल आशा करते है और हमसे विमुख होय जो फल के हेतु कर्म्म करैं है और जिनके शास्त्रसे जो ज्ञान सो नाना कुतर्क युक्त है वेई सकल विचेतस कहे विक्षिप्त चित्त लोग अनर्थ के हेतु हिंसादि तामस कार्य्य तथा काम अभिमान से भरी पूरी जो राजसी बुद्धि तिस के आश्रित होय हम को न जानि हमारा निरादर करते है॥१२॥ तो फेरि तुमारी आराधना कौन करते है जो यह पूछो तो कहते है कि कामादिक मे जिन का चित्त अवश नही ऐसे जो महात्मा लोग वे दैवी प्रकृति के आश्रित होते है इसी से हम को छोडि और मे जिन का मन रमित नही है ते मनुष्य हम को समस्त भूतके आदि कहे जगत के कारण नित्य स्वरूप जानि के भक्ति पूर्वक आराधन करते है॥१३॥ अब भक्तो के भजन का प्रकार दो श्लोकसे कहते है कि सर्वदा स्तोत्र औ मन्त्र से कोई मेरा कीर्त्तन करते हुये मेरी उपासना करते है और कोई दृढ नियम करके ऐश्वर्य्य औ ज्ञानमे यत्न करते हुये मेरे उपासक होते है और कोई भक्ति पूर्वक प्रणत होय मेरा सेवन करते है ऐसे नित्य युक्त कहे सावधान मेरेमे तत्पर होय मेरे भक्त मुझे सेवते है॥ १४॥ और चराचर भाव यीकृष्ण है ऐसा जो आत्मदर्शन सोई ज्ञान औ सोई

क्ताउपासते ॥१४॥ ज्ञानयज्ञेनचाप्यन्येयजन्तोमामुपासते। एकत्वेनपृथक्त्वेनबहुधा
विश्वतोमुखं ॥१५॥ अहंक्रतुरहंयज्ञः स्वधाहमहमौषधं। मन्त्रोहमहमेवाज्यमहमग्नि
रहंहुतं ॥१६॥ पितामहमस्यजगतोमाताधातापितामहः। वेद्यंपवित्रमोङ्कारऋक्साम
यजुरेवच॥१७॥ गतिर्भर्ताप्रभु.साक्षीनिवास शरणंसुहृत्। प्रभव.प्रलयःस्थानंनिधानं
बीजमव्ययं ॥१८॥ तपाम्यहमहंवर्षंनिगृह्णाम्युत्सृजामिच। अमृतञ्चैवमृत्युश्चसदस

भाषा अनुवाद

यज्ञ है इस प्रकार ज्ञान यज्ञ से कितने हम को पूजते हैं देखो कोइ अभेद भाव
से और कोई हम भगवान के दास इस भेद भाव से उपासना करते है और कोइ
हम को ब्रह्मा रुद्र आदि रूप समझ कर के सेवते है ॥ १५ ॥ अब अपनी सर्व
रूपता चारि श्लोक से कहते है कि मैंही क्रतु कहे वेदोक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ
और यज्ञ कहे धर्म शास्त्रोक्त जो पञ्च यज्ञ बलि वैश्व देवादि औ स्वधा कहे श्राद्ध
और औषध अर्थात् फल होनेसे जो पकि जांय इससे अन्नभी आय गये और मन्त्र
औ आज्य कहे घृत आदि औ अग्नि कहे यज्ञाग्नि और होम यह जो कुछ सो सब
हम ही है ॥१६॥ और इस जगत के पिता माता तथा धाता कहे कर्मफलदाता
औ पितामह तथा वेद्य कहे ज्ञेयवस्तु औ पवित्र कहे शुद्ध करनेवाले औ ओंकार तथा
ऋक यजुर साम अथर्व वेद यह समस्त मैंही हौं ॥ १७ ॥ और मही गति कहे
प्राप्य कर्मफल रूप औ भर्त्ता कहे पोषणकर्त्ता औ प्रभु नियामक तथा साक्षी शुभ
अशुभ के द्रष्टा औ निवास कहे भोगस्थान तथा शरण कहे रक्षक एवं सुहृत् कहे
हेतु रहित हितकारी औ प्रभव अर्थात् जगतके उत्पन्नकर्त्ता प्रलय कहे संहर्त्ता स्थान
कहे विश्व के आधार और निधान कहे लय स्थान एवं बीज कहे कारण औ अव्यय
कहे अविनाशी मैंहीं हौं ॥१८॥ और ग्रीष्मकालमे सूर्य्यरूप मैंहीं समस्तको ताप
देता हौं.औ वर्षाकालमे जल वृष्टि भी हमी करते है औ तथा कोई समय जल
किरणो से खींचते और कभी फेरि जल को छोडते भी हमी है औ अमृत कहे
जीवन मृत्यु कहे मरण औ सत कहे पृथिवी आदि पांच स्थूल पदार्थ औ असत्
कहे सूक्ष्म वस्तु रूपादि पंच मात्रा भी हे अर्जुन हम हीं को जानो इसी से लोग
नाना रूप हमारी उपासना करते है ॥ १९ ॥ मढ़ मेरा अनादर करते औ

म्यहमर्जुन ॥१९॥ त्रैविद्यामांसोमपाःपूतपापायज्ञैरिष्ट्वास्वर्गतिंप्रार्थयन्ते। तेपुण्य
मासाद्यसुरेन्द्रलोकमश्नन्तिदिव्यान्दिविदेवभोगान् ॥२०॥ तेतंभुक्त्वास्वर्गलोकंविशा
लंक्षीणेपुण्येमर्त्यलोकंविशन्ति। एवंत्रयीधर्ममनुप्रपन्नागतागतंकामकामालभन्ते॥
२१॥ अनन्याश्चिन्तयन्तोमांयेजनाःपर्युपासते। तेषांनित्याभियुक्तानांयोगक्षेमंवहा
म्यहं ॥२२॥ येऽप्यन्यदेवताभक्तायजन्तेश्रद्धयान्विताः। तेऽपिमामेवकौन्तेययजन्त्यवि

भाषा अनुवाद

महात्मा मेरी भजन करते ऐसे पूर्व मे भक्त अभक्त के लक्षण कहि के अब मूढों का जन्म मृत्यु रूप संसार प्रवाह दुर्निवार है यह दो श्लोक से कहते हैं कि जो मनुष्य ऋक् यजुः साम वेद पढ़ते वे त्रैविद्य अर्थात् वेदोक्त कर्म परायण यज्ञ के द्वारा सर्व रूप जो मैं सो मेरी ही पूजा करि के और सोमलता का रस पीकर पूतपाप होय स्वेच्छा से स्वर्ग लोक को जाते हैं और पुण्य फलरूप स्वर्ग प्राप्त होय वहां के उत्तम देवभोग्य वस्तुवों का भोग हैं ॥ २० ॥ फेरि वेई स्वर्ग कामी मनुष्य अपना इष्ट विपुल स्वर्गसुख भोग करि के जब पुण्य क्षीण भई तब फेरि मर्त्यलोक मे आवते हैं आय कै फेरि वही वेदत्रयी विहित धर्म कर्म करि के भोग कामनाकारी लोग गमनागमन मात्र लाभ किया करते हैं अर्थात् कभी नीचे आते औ कभी उपर जाते रहते है ॥२१॥ और हमारे भक्तजन मेरी कृपा ही से कृतार्थ होते यह कहते हैं कि जिन के हमें छोड़ि और कोई मन कामना नहीं है तेई अनन्य भक्त हमारी सेवा करते हैं नित्याभियुक्त सर्वदा एक मेरे मे है मन जिन का उन का योगक्षेम अर्थात् योग जो धन आदि लाभ और क्षेम जो प्राप्त वस्तु का रक्ष सो मै करता हूं अथवा निर्वाण जो मुक्ति यद्यपि वे नहीं चाहते मए मै उन को अपनी इच्छा से देता हौं ॥ २२ ॥ जो कहा कि विचारसे तो सर्व देवरूप तुमको छोड़ि और देवता कौन है देखो सव रूप जो तुमरे हैं तो इन्द्रादि के पूजक लोग भी तुमारे ही उपासक हैं फेरि क्या कारण है जो वे विचारे उपर नीचे गमनागमन किया करते हैं इस पर कहते हैं कि हां श्रद्धा युक्त जो इन्द्रादि देवतों की आराधना करते हैं सो सत्य हमारी सेवा है परन्तु वे अविधि से अर्थात् मोक्षकी देनहार विधि को छोड़ि कर पूजन करते हैं इसीसे

षिपूर्वकं ॥२३॥ अहंहिसर्वयज्ञानांभोक्ताचप्रभुरेवच । नतुमामभिजानन्तितत्त्वेना
तश्च्यवन्तिते ॥२४॥यान्तिदेवव्रतादेवान्पितॄन्यान्तिपितृव्रता । भूतानियान्तिभूते
ज्यायान्तिमद्याजिनोऽपिमां ॥२५॥ पत्रंपुष्पंफलंतोयंयोमेभक्त्याप्रयच्छति । तदहं
भक्त्युपहृतमश्नामिप्रयतात्मनः ॥२६॥ यत्करोषियदश्नासियज्जुहोषिददासियत् । यत्त
पस्यसिकौन्तेयतत्कुरुष्वमदर्पणं॥२७॥ शुभाशुभफलैरेवंमोक्ष्यसेकर्मबन्धनैः । संन्या

भाषा अनुवाद

पुनः पुनः संसारको पावते हैं ॥२३॥ पूर्व कथित वाक्यको विस्तारसे कहते हैं कि देवता स्वरूप यज्ञफल भोक्ता मही हौं और प्रभु कहे यज्ञफल दाता भी मै ही हूं पर इस तरहसे वे देवपूजक लोग यथावत कहे ठीक नहीं जानते है इसीसे फेरि संसारगति को आवते है और सर्व देव मे हम को अन्तर्यामीरूप देखि जो मेरा अर्चन करते वे पुनः संसारगतिको नहीं पावते हैं ॥२४॥ अब यही उक्त वाक्यका प्रतिपादन करते है कि जो देवव्रत कहे इन्द्रादि देव उपासक है वे देवलोक को जाते औ पितृ उपासना करनेवाले पितृलोक को जाते तथा भूत सेवाकारी अन्त में भूत योनि पावते है और जो मेरी पूजा करें हैं सो मद्याजी अक्षय परमानन्द स्वरूप हमको ही प्राप्त होयं है ॥२५॥ अब स्वभक्त को अक्षय फलत्व औ स्वभक्ति का सुलभत्व देखावते हैं जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पत्र पुष्प फल जल मात्र भी हमै देय है वह विमलचित्त भक्तजन की प्रीति से दिया हुआ पुष्पादि मैं अति प्रसन्न होय ग्रहण करता हूं इस का भाव यह है कि और देव के समान बड़ी पूजा सामग्री हमै न चाहिये हम केवल भाव भक्ति से प्रसन्न होते है ॥ २६ ॥ जिस लिये मै भाव भक्ति से भक्त पर प्रसन्न होता हूं इस से हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र जो कुछ कर्म करो या आहार करो या यज्ञ करो या दान करो या तप करो सो सब मदर्पण अर्थात् मेरे को समर्पण करो तो वह सब अक्षय फल होगा और दोष किसी तरह से न लगैगा ॥ २७ ॥ इस प्रकार आचरण करने से जो फल होगा सो सुनो कि उक्त प्रकार से कर्म सकल भगवत समर्पण करनेसे कर्मबन्धन अर्थात् कर्मजनित इष्ट अनिष्ट फलप्राप्ति से बचि रहोगे और मेरे मे समर्पित जो कर्म संन्यासयोग उसी से युक्तचित्त हो

सयोगयुक्तात्माविमुक्तोमामुपैष्यसि ॥२८॥ समोऽहंसर्वभूतेषुनमेद्वेष्योऽस्तिनप्रियः ॥
येभजन्तितुमांभक्त्यामयितेतेषुचाप्यहं ॥२९॥ अपिचेत्सुदुराचारोभजतेमामनन्य
भाक् । साधुरेवसमन्तव्यःसम्यग्व्यवसितोहिसः ॥३०॥ क्षिप्रंभवतिधर्मात्माशश्वच्छा

भाषा अनुवाद

के तुम हम को नि.सन्देह प्राप्त होउगे ॥ २८ ॥ भला जो भक्तों को इस भांति मुक्त करते हो औ अभक्तो को नही तो क्या तुमारे भी प्रीति विरोध क्षत वैषम्य कहे विषम स्वभाव है इसके ऊपर अपने उस भाव का अभाव कहते है कि सकल भूत मे हम समान रूप से वर्त्तमानहै इसीसे हमारे न कोई प्रिय और न अप्रिय है और जो हमारी भक्ति करता है सो हमारे मे वर्त्तमान और मै भी उस पर अनुग्रह करता रहता हूं इस का भावार्थ यह है कि जैसे अग्नि के सेवन करने वाले का अन्धकार और शीत आदि दु खका निवारणकारी अग्निमे विषम स्वभाव नही है और जैसे कल्पवृक्ष अपने सेवक को सकल पदार्थ देता है तो इन को प्रिय अप्रिय कोई नही परन्तु फल जो है सो भक्त ही को है इस से भक्ति ही की महिमा यह सब तुम जानो ॥२९॥ और अपनी भक्ति का अपूर्व्व अचिन्त्य प्रभाव देखावते है कि अत्यन्त दुराचार कहे और और देखावता भी वासुदेव ही है इस रूप एक बुद्धि होय यद्यपि औरों की भक्ति न कर के केवल परमेश्वर स्वरूप मही को भजे है तौ भी सो साधु औ श्रेठ है क्यो कि मेरे मे उत्तम निश्चय तो उसने किया है ॥ ३० ॥ ऐसा मनुष्य किस प्रकार उत्तम है इस शङ्का पर कहते है कि अत्यन्त दुराचारी भी हमारी ही भक्ति कर के स्वधर्मचित्त होय है अर्थात् चित्त की तरङ्ग निवृत्त होय परमेश्वर मे निष्ठा अवश्य पावता है और तुर्त धर्म्मात्मा होता और शान्ति को प्राप्त होता है पर इस बात को कुतर्क कर्कशवादी लोग न मानैंगे इस शङ्का से व्याकुल अर्जुन को भगवान उत्साह देते है कि हे कौन्तेय नगारा बजाय विवादकारी लोगो की सभा मे जाय हाथ उठाय तुम नि शङ्क हो यह प्रतिज्ञा करो कि परमेश्वर के, भक्त अति दुराचार होने से भी नष्ट नहीं होते बलु कृतार्थ होते है ऐसी प्रतिज्ञा करने पर तुमारी जय और वे नष्ट कुतर्क होय तुम को गुरू कर के मानैंगे सो तुम यह जानो कि मेरे भक्त का

न्तिंनिगच्छति ॥ कौन्तेयप्रतिजानीहिनमेभक्तः प्रणश्यति ॥३१॥ मांहिपार्थव्यपाश्रि
त्ययेऽपिस्युःपापयोनयः । स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपियान्तिपरांगतिं ॥३२॥ किंपुन
र्ब्राह्मणाःपुण्याभक्ताराजर्षयस्तथा ॥ अनित्यमसुखंलोकमिमंप्राप्यभजस्वमां ॥३३॥
मन्मनाभवमद्भक्तोमद्याजीमांनमस्कुरु । मामेवैष्यसियुक्त्वैवमात्मानंमत्परायणः ॥३४॥
इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजगुह्यनाम नवमोध्यायः॥९॥

भाषा अनुवाद

नाश नहीं है ॥३१॥ अत्यन्ताचार भ्रष्टोको भी जो मेरी भक्ति पवित्र करती है इसमे क्या आश्चर्य है क्योंकि देखो मेरी भक्ति अनधिकारीयों को भी संसारसे मुक्त करती है तो दुराचाराकी मुक्तिमे क्या सन्देह है कोई कहते हैं कि कोई निकृष्ट जन्म चाण्डाल आदि क्यों न होय और स्त्री क्यों न होय स्त्री मे भी वेश्या क्यों न होय वेश्या ही को वैश्या कहते स्वार्थ मे श्या प्रत्यय जानो जो कोई वैश्या का अर्थ वणिक जाति पर लगाते उन की भूल कितनी वडी है कि वेद ब्रह्म के अधिकारी तथा संध्या उपासना कर्म के अधिकारी तथा यज्ञउपवीतधारी द्विजाति शब्द से प्रसिद्ध वैश्य जो अनधिकारी हैं तो तो ब्राह्मण क्षत्री भी तैसे ही हैं मनभावता अर्थ करो वेद शास्त्र क्या करना है ॥ ३२ ॥ जब कि मेरी भक्ति अनधिकारीयो को मुक्ति देती तो फेरि ब्राह्मण कहे ब्राह्मण आदि तीनो वर्ण जो ब्राह्मण क्षत्री वैश्य पवित्र औ मेरे भक्त उन की मुक्ति मे क्या सन्देह है तिस मे भी राजर्षि अर्थात् राजवंश क्षत्रिय राजा लोग जो दशदिग्पालो के अंश से प्रगट है उन की क्या कहना है सो तुम राजवंश हो इस अनित्य संसार सुख को त्याग करि के यह लोक कहे नर देह पाय हम को भजो ॥ ३३ ॥ भजन प्रकार देखावतेऊये कहते हैं कि मेरे मे जिस का मन है ऐसे तुम मन्मना होउ और मेरे ही भक्त होउ औ मेरी ही पूजा करो और मै ही को प्रणाम करो इसी प्रकार से मत्परा यण हो के आत्मा जो मन तिस को मेरे मे योग कहे लगाय के परम आनन्दरूप मेरे स्वरूप को प्राप्त होउगे इस नवयें अध्याय मे अपनी भक्ति का अद्भुत प्रभाव राजयोग नाम भगवान ने प्रकाश किया हैं ॥ ३४ ॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रे राजगुह्ययोग नाम नवमोध्याय ॥ ९ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

दशम अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। भूयएवमहाबाहोश्टणुमेपरमंवचः। यत्तेऽहंप्रीयमाणायवक्ष्या मिहितकाम्यया ॥१॥ नमेविदुःसुरगणाःप्रभवंनमहर्षयः। अहमादिर्हिदेवानां महर्षीणाञ्चसर्वशः ॥२॥ योमामजमनादिञ्चवेत्तिलोकमहेश्वरं। असंमूढसमर्त्यें

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय से ले कर नवम अध्याय पर्यन्त भगवानने आपनी विभूति औ सर्वत्र ईश्वर बुद्धि होना तथा आप आपना परमेश्वरत्व औ यज्ञ आदि सकल वस्तु मैंहीं हूं और अपनी अनन्य भक्ति परम भक्त अर्जुन से संक्षेप रूप कहा अब दशम अध्याय मे वही अपनी विभूतियो को विस्तार करि कहते हुये स्वभक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता श्रीभगवान कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन तुम फेरि हमारे वचन सुनो परमात्मा विषयक मेरे वचन अमृत ऐसे श्रवण करिके अति प्रसन्न प्रीतियुक्त जो तुम सो तुमारी इच्छा के अनुसार तुमारे हित वचन मै कहता हूं तुम श्रवण करो॥१॥ कही हुई बात का यो पुनर्वार कहना तिसमे हेतु यह कि मेरा तत्त्व जानना अति कठिन है सोई कहते हैं कि जन्म रहित होके भी जो विभूतियों के द्वारा मेरा आविर्भाव कहे प्रगट होना सो देवता औ भृगु प्रभृति महर्षि भी नही जानते हैं क्यो कि देवता औ महर्षियों के उत्पन्न करने वाले तथा बुद्धिके प्रवृत्ति देनहार आदि भूत कारणरूप हम हैं इसी से हमारी कृपा विना हम को कोई जानने नहीं सकता है ॥२॥ अब आत्मज्ञान का फल कहते हैं कि सब के कारण रूप हेतु और जिसका कोई कारण नहीं है ऐसे अनादि औ जन्म रहित सकल लोक के महेश्वर जो मै सो मुझे जो कोई जाने है तो मनुष्यों के मध्य मे वही

षुसर्वंपापैःप्रमुच्यते ॥३॥ बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहःक्षमासत्यंदमःशमः। सुखंदुःखंभवोऽभावोभयञ्चाभयमेवच ॥४॥ अहिंसासमतातुष्टिस्तपोदानंयशोऽयशः। भवन्तिभावाभूतानांमत्तएवपृथग्विधा ॥५॥ महर्षयःसप्तपूर्वेचत्वारोमनवस्तथा। मद्भावामानसाजातायेषांलोकइमाःप्रजाः ॥६॥ एतांविभूतियोगञ्चममयोवेत्तितत्त्वतः। सोऽविकल्पेनयोगेनयुज्यतेनात्रसंशयः ॥७॥ अहंसर्वस्यप्रभवोमत्तःसर्वंप्रवर्त्तते। इतिमत्वाभजन्तेमांबुधाभावसमन्विताः ॥८॥ मच्चित्तामद्गतप्राणाबोधयन्तःपरस्परं। कथ

भाषा अनुवाद

अर्थात् मोह रहित होके समस्त पापोंसे छूटि जाय है ॥३॥ अब तीन श्लोक से अपनी लोकमहेश्वरता प्रकाश करते हैं कि बुद्धि कहे सार असार वस्तु विचार की चातुरी औ ज्ञान तथा असंमोह औ क्षमा सत्य वचन और दम कहे बाहर की इन्द्रियोंका दमन औ शम कहे मनःका निग्रह औ सुख दुख जन्म नाश औ भय अभय ये सब हम से होते हैं ॥४॥ और अहिंसा शमता कहे प्रीति विरोध का अभाव औ तुष्टि कहे वे मांगे यथा लाभ सन्तोष औ तपस्या जो १७ अध्याय मे कहैंगे और दान कहे स्वधर्म से उपार्जित धन सत्पात्र को देना और यश अयश ये नाना प्रकार के भाव सब हम ही से उत्पन्न होते है ॥ ५ ॥ और भृगु आदि सप्त महर्षि येई पुराणों मे सात ब्राह्मण करके प्रसिद्ध हैं और इन के भी पूर्व सनकादि चारि ब्राह्मण और स्वायम्भू आदि चौदह मनु इन सब मे मेरा प्रभाव है और ये सकल हिरण्यगर्भ जो मै सो मेरी इच्छा से प्रगटे हैं येई सात ऋषियों के पुत्र पौत्र शिष्य प्रशिष्य क्रमसे प्रजारूप ब्राह्मणादि वर्ण सकल जन्मे हैं ॥६॥ अब यह सब उक्त विभूति कहे अपनी सम्पत्ति के तत्त्वज्ञान का फल कहते हैं कि येई भृगु आदि हमारी विभूति औ ऐश्वर्यरूप योग है यहजो मनुष्य यथार्थ से जानै है सो संशय रहित सर्वज्ञ सम्यक दर्शन होय है ॥७॥ अब विभूति औ योग जाननेसे जिस प्रकार सम्यक्ज्ञान प्राप्ति होती है सोई चारि श्लोकसे देखावते है कि मैही समस्त जगत का प्रभव अर्थात् भृगु आदि मनु आदि रूप विभूति के द्वारा उत्पत्ति का हेतु हौं और हमी से बुद्धि औ ज्ञान सकल उत्पन्न होते यही जानिके विवेकी लोग प्रीतियुक्त होय हमारी भजन करते है ॥८॥ प्रीतिपूर्वक भजन का स्वरूप

यन्तश्चमांनित्यंतुष्यन्तिचरमन्तिच ॥९॥ तेषां सततयुक्तानांभजतांप्रीतिपूर्वकं। ददामिबुद्धियोगंतंयेनमामुपयान्तिते ॥ १० ॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजंतमः। नाशयम्यात्मभावस्थोज्ञानदीपेनभास्वता ॥११॥ अर्जुनउवाच ॥ परंब्रह्मपरंधाम पवित्रंपरमंभवान्। पुरुषंशाश्वतंदिव्यमादिदेवमजंविभुं ॥१२॥ आहुस्त्वामृषयः सर्वेदेवर्षिर्नारदस्तथा। असितदेवलोव्यासःस्वयञ्चैवब्रवीषिमे ॥१३॥ सर्वमेतदृतंम

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जिसका चित्त मेरे ही मे निरत है सो मच्चित्त और जिसके प्राण कहे सकल इन्द्रिय अथवा जीवन मेरे मे अर्पित है ऐसे मद्गत प्राण विवेकी जन हमको युक्ति औ श्रुति प्रमाण से जानते हैं और सर्वदा परस्पर मेरी ही चर्चा करते हुये सदा सन्तुष्ट मन मेरे गुण गान मे रममाण पूर्णकाम इस असार संसार के जञ्जाल से मुक्ति पावते हैं ॥९॥ ऐसे ही भक्तों को हम ज्ञान प्रदान करते हैं सोई कहते हैं कि एवम्भूत मेरे मे सदा आसक्त चित्त औ प्रीतिपूर्वक भजनकारी भक्तलोगों को मैं सोई बुद्धिरूप योग कहे उपाय देता हूं और उस उपाय से वे मेरे भक्त मुझे अनायास प्राप्त होते हैं ॥१०॥ बुद्धियोग दे करके उन अपने भक्तों का फेरि अविद्याकृत संसार नाश करता हूं अब यह कहते हैं कि उन पर अनुग्रह करने ही के अर्थ उन के अज्ञान से उत्पन्न जो संसार अन्धकार तिसको नाश करताहूं जो कहो कि किस स्थानमे बैठिके और कौन प्रकारसे सो अन्धकार आप दूर करते हो तो कहते हैं कि आत्मभाव कहे बुद्धिवृत्ति मे अवस्थान करके प्रकाशमान तत्त्वज्ञानस्वरूप दीपके द्वारा अज्ञान अन्धकार दूर करता हैं ॥११॥ संक्षेपरूपसे कही गई जो विभूति उसको विस्तारसे जानने की इच्छा करिके अब अर्जुन भगवानकी स्तुति करते हुये सात श्लोकसे कहते हैं कि आप पर ब्रह्म औ परमधाम कहे आश्रय औ पवित्र हो इस कारण यह कि नित्य कहे सदा वर्त्तमान पुरुष स्वयं प्रकाश आदि देव औ जन्म शून्य सर्वव्यापी तुमको ऋषि कहते हैं ॥१२॥ कौन ऐसा कहते हैं तो इस पर कहते कि भृगु आदि ऋषि सकल और देवर्षि नारद असित ऋषि देवल व्यासदेव ये सब कहते और आप भी साक्षात् हम से कहते हो ॥१३॥ इससे अब आपके ऐश्वर्य मे असम्भावना बुद्धि

न्येपम्मावदसिकेशव। नहितेभगवन्व्यक्तिंविदुर्देवानदानवाः ॥१४॥ स्वयमेवात्म
नात्मानंवेत्थत्वंपुरुषोत्तम। भूतभावनभूतेशदेवदेवजगत्पते ॥१५॥ वक्तुमर्हस्यशेषे
णदिव्याह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वंव्याप्यतिष्ठसि ॥१६॥ कथं
विद्यामहंयोगिंस्त्वांसदापरिचिन्तयन्। केषुकेषुचभावेषुचिन्त्योसिभगवन्मया ॥१७॥

भाषा अनुवाद

निवृत्त हो गई यह कहते हैं कि हे केशव आप जो कहते हो कि सवरूप हम हैं सो मैने सत्य करि माना और जो आपने कहा कि सकल देवता हम को नहीं जानते वह भी यथार्थ करके मैने जाना है सोई अर्जुन कहते हैं कि हे भगवान भक्तों औ देवतों पर अनुग्रहके अर्थ जो तुमारे अवतार यह देवता नहीं जानते है और दानव भी यह नहीं जानते कि हमारे निग्रह के लिये भगवान का शरीर धारण भया है ॥१४॥ तो इसका फलित अर्थ क्या है इस आकांक्षापर कहते हैं कि हे पुरुषोत्तम आपही अपने को जानते हो और कोई तुमको नहीं जाने है यह अति आदरसे वारम्वार सम्बोधन दे कर कहते है कि हे भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते इन सब सम्बोधनो से श्रीकृष्ण का पुरुषोत्तमत्त्व साधन किया है ॥१५॥ जिस हेतु तुमारा तत्त्व औ अभिव्यक्ति तुमको छोडिकै देवादि भी नहीं जानते इस से तुमारी जो अद्भुत विभूति सो तुमारे ही कहने योग्य है कि जिन विभूतियो से तुम सकल लोक मे व्याप रहे हो सो अपनी उन दिव्य विभूतियों को क्षमा करि के कहो जो मेरे मन का सन्देह जाय ॥१६॥ इस से अर्जुन अपने कहने का प्रयोजन देखलाय कर प्रार्थना करते हैं कि हे योगिन् श्रीकृष्ण मै तुम को किसतरह तुमारी विभूति भेदके द्वारा निरन्तर भावना करिके जानने सकौंगा और भिन्न भिन्न विभूति मे चिन्तनीय तुम कौन कौन पदार्थ मे मेरी भावना के योग्य हौ अर्थात् किस किस वस्तु मे तुमैं हम जानैं॥ १७ ॥ चित्त की वृत्ति वहि मुख होने पर भी उस समै तुमारी विभूतियों के द्वारा जिस प्रकार तुमारा चिन्तन होय ऐसी उपाय विस्तार से कहो यह अर्जुन पूछते हैं कि तुमारा सर्व ज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व आदि स्वरूप जो योग का ऐश्वर्य और सम्पूर्ण विभूति जो है सो सव हे जनार्द्दन विस्तार से पुनर्वार कहो क्यों कि आपके अमृत स्वरूप

विस्तरेणात्मनोयोगंविभूतिञ्चजनार्दन । भूयःकथयतृप्तिर्हिशृण्वतोनास्तिमेऽमृतं ॥
१८ ॥ श्रीभगवानुवाच । हन्ततेकथयिष्यामिदिव्याह्यात्मविभूतयः । प्राधान्यतः
कुरुश्रेष्ठनास्त्यन्तोविस्तरस्यमे ॥ १९ ॥ अहमात्मागुडाकेशसर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्चमध्यञ्चभूतानामन्तएवच ॥ २० ॥ आदित्यानामहंविष्णुर्ज्योतिषांरवि
रंशुमान् । मरीचिर्मरुतामस्मिनक्षत्राणामहंशशी ॥ २१ ॥ वेदानांसामवेदोऽस्मि
देवानामस्मिवासवः । इन्द्रियाणांमनश्चास्मिभूतानामस्मिचेतना ॥ २२ ॥ रुद्रा
णांशङ्करश्चास्मिवित्तेशोयक्षरक्षसां । वसूनांपावकश्चास्मिमेरुःशिखरिणामहं ॥२३॥

भाषा अनुवाद

वचन श्रवण करते हुये भी मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥१८॥ जब अर्जुन ने ऐसी प्रार्थना किया तब भगवान कहते हैं कि हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन मेरी जो दिव्य विभूतीं हैं सो तुमको अच्छी प्रकार से कहूंगा और विस्तार से कहने को तो मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है इस से प्रधान प्रधान जो हैं सो सब कहूंगा ॥ १९ ॥ अब प्रथम ईश्वर स्वरूप कहते हैं कि हे गुडाकेश जितनिद्र अर्जुन परमात्मारूप मैं तावत भूतमात्र के अन्तःकरण मे सर्वज्ञत्व आदि गुण से नियन्ता रूप स्थित हौं और आदि मध्य अन्त कहे सर्व भूतोंके सृष्टि स्थिति संहार का हेतु भी मैही हौं यह जानो । गुडाका निद्रा को कहते हैं अथवा गुडा कहे गुडचियाले घूंघुरारे हैं केश जिस के सो गुडाकेश है ॥२०॥ अब इस श्लोकसे ले कर अध्याय समाप्ति पर्यंत अपनी विभूतियोंको कहते हैं कि बारह अदितिके पुत्रों मे विष्णु नाम आदित्य मैहूं और प्रकाशरूपों के मध्य सर्वत्र व्यापी रविरूप मैहौं और सप्त देवतों के बीच मरीचि नामक हमै जानो और नक्षत्रगण मे चन्द्रमा भी मही को मानो ॥२१॥ और वेदों मे साम वेद देवतों मे इन्द्र और इन्द्रियों के मध्य मे मन प्रधान इन्द्री मैही तथा भूत कहे प्राणियों के विशेष चेतना जो ज्ञान शक्ति सो मैही हौं ॥ २२ ॥ और एकादश रुद्रो मे शङ्कर औ यक्ष राक्षसों मे कुबेर मै हौं वसुवों के बीच मे अग्नि औ पर्वतों मे सुमेरु जानो ॥२३॥ और हे अर्जुन पुरोहितों मे मुख्य बृहस्पति हम हैं और सेनापतियों मे स्वामकार्त्तिक हम हैं और सरसां कहे थिर जलाशयों के मध्य समुद्र हम को जानो ॥२४॥ और

पुरोधसाञ्चमुख्यंमांविद्धिपार्थवृहस्पतिं। सेनानीनामहंस्कन्दःसरसामस्मिसागरः
॥२४॥ महर्षीणांभृगुरहंगिरामस्म्येकमक्षरं। यज्ञानांजपयज्ञोस्मिस्थावराणां
हिमालयः॥२५॥ अश्वत्थःसर्ववृक्षाणांदेवर्षीणाञ्चनारदः। गन्धर्व्वाणांचित्ररथः
सिद्धानांकपिलोमुनिः॥२६॥ उच्चैःश्रवसमश्वानांविद्धिमामम्रतोद्भवं। ऐरावतं
गजेन्द्राणांनराणाञ्चनराधिपं॥२७॥ आयुधानामहंवज्रं धेनूनामस्मिकामधुक्।
प्रजनश्चास्मिकन्दर्पःसर्पाणामस्मिवासुकिः॥२८॥ अनन्तश्चास्मिनागानांवरुणोया
दसामहं। पितॄणामर्य्यमाचास्मियमःसंयमतामहं॥२९॥ प्रह्लादश्चास्मिदैत्या
नांकालःकलयतामहं। मृगाणाञ्चमृगेन्द्रोऽहंवैनतेयश्चपक्षिणां॥३०॥ पवनःप
वतामस्मिरामःशस्त्रभृतामहं। झषाणांमकरश्चास्मिस्रोतसामस्मिजाह्नवी॥३१॥

भाषा अनुवाद

महर्षियों मे भृगु मै हौं और अक्षर तथा पद आत्मक वाक्यके बीच ओंकार अक्षर भी मै हौं औ यज्ञोंमे हिंसा रहित हेतुसे जपरूप यज्ञ मै हौं स्थावरोंमें हिमालय भी हमहीं हैं॥२५॥ और वृक्ष जातियों मे अश्वत्थ कहे पीपर औ देव ऋषियों नारद मै हौं औ गन्धर्व्वगणों मे चित्ररथ औ सिद्ध कहे आजन्म से परमार्थ तत्त्व ज्ञानियों मे कपिल मुनि मै हौं॥२६॥ अश्व कहे घोडों मे उच्चैश्रवा औ गजेन्द्रों मे ऐरावत तथा मनुष्यों मे नरपति राजा भी मैहीं हौं॥२७॥ और आयुधों मे वज्र औ धेनु सकलमे कामधेनु औ प्रजा उत्पत्तिकारी जो कन्दर्प सो मैहीं हौं तथा सर्पों मे वासुकी भी हमै जानो विषधारियों की सर्प संज्ञा है॥२८॥ नागों मे अनन्त शेष नाग और जल जीवों मे वरुण राजा मै हौं औ पितरों मे अर्यमा तथा दण्डकारियों मे यमराज हमै जानो। नाग औ सर्प मे यह भेद है कि विष रहित को नाग कहते हैं॥२९॥ दैत्यों मे प्रह्लाद मै हौं और वध करनेवालों मे संख्या मे काल मै हौं मृग जाति मे मृगेन्द्र कहे सिंह मै तथा पक्षियो मे गरुड मै हौं॥३०॥ और पवित्र तथा वेगवानों मे पवन कहे वायु औ शस्त्रधारियों मे राम दशरथ के पुत्र हम को जानो तथा मछलियों मे मकर नाम मत्स्य मै हौं और स्रोत कहे प्रवाहरूप नदियोंमे जाह्नवी गङ्गाभी मैहीं हौं॥३१॥ स्वर्ग कहे आका शादि पदार्थों मे आकाश जो आदि मध्य अन्तमे सदा वर्त्तमान सो मै हौं अथवा

सर्गाणामादिरन्तश्चमध्यञ्चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्याविद्यानांवादःप्रवदतामहं॥
३२॥ अक्षराणामकारोऽस्मिद्वन्द्वःसामासिकस्यच। अहमेवाक्षयःकालोधाताहं
विश्वतोमुखः॥ ३३॥ मृत्युःसर्वहरश्चाहमुद्भवश्चभविष्यतां। कीर्त्तिःश्रीर्वाक्चनारी
णांस्मृतिर्मेधाधृतिःक्षमा ॥३४॥ बृहत्सामतथासाम्नांगायत्रीच्छन्दसामहं। मासा
नांमार्गशीर्षोहमृतूनांकुसुमाकरः॥ ३५॥ द्यूतंछलयतामस्मितेजस्तेजस्विनामहं।
जयोऽस्मिव्यवसायोऽस्मिसत्वंसत्त्ववतामहं॥ ३६॥ वृष्णीनांवासुदेवोऽस्मिपाण्डवा
नांधनञ्जयः। मुनीनामप्यहंव्यासःकवीनामुशनाकविः॥ ३७॥ दण्डोदमयताम
स्मिनीतिरस्मिजिगीषतां। मौनंचैवास्मिगुह्यानांज्ञानंज्ञानवतामहं॥ ३८॥ यच्चा

भाषा अनुवाद

सृष्टि मे आदि मध्य अन्त मै हूं तथा हे अर्जुन विद्यों मे अध्यात्म विद्या औ प्रवाद करने वालों के बीच वादरूप मै हौं जिससे सिद्धान्त पक्ष थिर होता है॥३२॥ और अक्षरों के मध्य मे अकार अक्षर मै हूं और समासों के विषे उभय पद प्रधान द्वन्द्व समास और अक्षय प्रवाहरूप काल जो सो हम हैं और फल प्रदान करनेवालों मे विश्वतो मुख कहे सर्व फल विधान कर्त्ता मै हौं॥ ३३॥ संहार कारियों के मध्य मे सर्व संहारकारी मृत्युरूप हम को जानो और होनेवाली वस्तुवों मे उद्भव पदार्थ हम हैं और स्त्रियों मे सप्तनारी कहे कीर्त्ति श्री वाणी स्मृति मेधा धृति क्षमा ये रूप मेरेही हैं॥३४॥ और साम वेद मे मन्त्र ब्राह्मण गद्य पद्य भूत श्रुतियों के मध्य मे बृहत्साम नाम हम को जानो जिस से इन्द्र गाये जाते हैं और छंद बन्धयुक्त मन्त्रोंके मध्य गायत्री हम हैं और मास कहे महिनोंमे मार्गशीर्ष कहे अगहन मास हम हैं औ ऋतुवों मे वसन्त ऋतु मै हौं॥३५॥ छल वस्तुवों मे द्यूत कहे जुआ मैहीं और तेजस्वियों मे तेज जो प्रताप सो मै तथा जय और व्यवसाय कहे उद्यमभी मै और सतोगुणी जितने हैं उन मे सतोगुण हम हैं॥३६॥ और वृष्णि वंशियोंमे वासुदेव कृष्ण हम हैं जो तुमको उपदेश करते हैं और पाण्डवों मे अर्जुन जो तुम सो मै हूं औ मुनियों मे व्यासदेव तथा कवियों मे उसना कहे शुक्र हम हैं॥३७॥ दम करनेवालो मे दण्डरूप हम तथा जीतने वालोंकी नीति रीति हमै मानो गुह्य पदार्थोंमे मौन जो सो हम और ज्ञानवानोंमे

मिसर्वभूतानांवीजंतदहमर्ज्जुन। नतदस्तिविनायत्स्यान्मयाभूतंचराचरं ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्तिममदिव्यानांविभूतीनांपरन्तप। एषतूद्देशतःप्रोक्तोविभूतेर्विस्तरोमया
॥ ४० ॥ यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वंश्रीमदूर्जितमेववा। तत्तदेवावगच्छत्वंममतेजोंशसम्भ
वः ॥ ४१ ॥ अथवाबहुनैतेनकिंज्ञातेनतवार्ज्जुन। विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेन
स्थितोजगत् ॥४२॥ इति श्रीभगवद्गीतायां विभूतियोगोनाम दशमोऽध्याय. ॥१०॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप भी हमी है ॥३८॥ और यावत जीवोंमे जो बीज सो हे अर्जुन हम है
और जो मेरे विना है सो कुछनही है अर्थात् चराचर मेरे विना कुछ बाकी नहीं
है ॥३९॥ जिस हेतु हे परन्तप अर्जुन मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है
इससे सम्पूर्ण कही नहीं जाय सकती है पर इतनी जो कहा सो उद्देश कहे संक्षेप
से मैने लक्षित कराया है ॥४०॥ यह सुनिके अधिक श्रवणाकांक्षी अर्जुनसे भगवान
संक्षेपरूप अपनी सर्वरूपता कहे हैं कि ऐश्वर्य्ययुक्त अथवा वलयुक्त या प्रभावयुक्त तथा
विद्या बुद्धिरूप गुणयुक्त जो वस्तुमात है सो मेरे अंश औ प्रभावसे है यह जानो
अर्थात् उसमे मेरा विशेष अंश है ॥४१॥ अथवा हे अर्जुन इस सब वखेडे से तुमको
क्या प्रयोजन है सकल वस्तु मे हमको देखो यह कहते है कि यावत पदार्थ मे मैं
व्यापरहा हौं यह जगत मेरा रूप है मोहि छोडि और कुछ नाबभी नही है॥४२॥

इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रे
विभूतियोग नाम दशमोध्याय॥ १० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

एकादश अध्यायः।

अर्जुनउवाच॥ मदनुग्रहायपरमंगुह्यमध्यात्मसंज्ञितं। यत्त्वयोक्तंवचस्तेन
मोहोऽयंविगतोमम ॥ १ ॥ भवाप्ययौहिभूतानांश्रुतौविस्तरशोमया। त्वत:कमल
पत्राक्षमाहात्म्यमपिचाव्ययं ॥ २ ॥ एवमेतद्यथात्थत्वमात्मानंपरमेश्वर। द्रष्टुमि

भाषा अनुवाद

श्रीभगवान कृष्णचन्द्र अति कृपाकरिके अपनीविभूतिका विभव जब कहा तब सो
सुनि के दर्शनेच्छु अर्जुन को विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेनस्थितोजगदित्यादि श्लोक
से भगवान ने विश्वात्मक परमेश्वर स्वरूप प्रसङ्ग वशते देखाया तो अर्जुन भगवदुक्त
पूर्व वचनों की प्रशंसा करते हुये अब एकादश अध्याय के आरम्भ मे चारि श्लोक
से कहते हैं कि अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादि दूसरे अध्याय के ग्यारहें श्लोक
से लेकर छठयें अध्याय तक मेरे शोक निवृत्तिके अर्थ परमात्मनिष्ठ अति गोपनीय
आत्म औ अनात्म विचार के विषय जो वचन आपने कहा उन से हम हन्ता औ ये
शत्रुगण हमारे मारने योग्य ऐसी जो मेरी भ्रम सो नष्ट हो गई क्यों कि आत्मा
को कर्तृत्व आदि कुछ नहीं है यह आपने कहा सो ठीक ही है ॥ १ ॥ और
भूतों की सृष्टि तथा प्रलय भी आप ही से होती यह भी मैने विस्तार से सुना
और हे कमलपत्राक्ष श्रीकृष्ण आप का अव्यय कहे अक्षय माहात्म्य भी आप से
सुना इस से अब जीव सकल आप के अधीन हैं यह जाना और अहं कर्ता भोक्ता
इत्यादि रूप मेरा मोह सम्पूर्ण दूर हो गया ॥ २ ॥ और जो आप ने सप्तम
अध्याय मे कहा कि भूत सृष्टि तथा प्रलय आदि कार्यों का कारण मै हूं और
दशम अध्याय के अन्त मे कहा कि विष्टभ्याहमिदंकृत्स्न मेकांशेन स्थितो जगदिति

च्छामितेरूपमैश्वरंपुरुषोत्तम ॥३॥ मन्यसेयदितच्छक्यंमयाद्रष्टुमितिप्रभो। योगे
श्वरततोमेत्वंदर्शयात्मानमव्ययं ॥४॥ श्रीभगवानुवाच॥ पश्यमेपार्थरूपाणिशतशो
ऽथसहस्रशः। नानाविधानिदिव्यानिनानावर्णाकृतीनिच ॥५॥ पश्यादित्यान्वसून्
रुद्रानश्विनोमरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणिपश्याश्चर्याणिभारत ॥ ६ ॥ इहैकस्थं
जगत्कृत्स्नंपश्याद्यसचराचरं। ममदेहेगुडाकेशयच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

भाषा अनुवाद

और अब भी जो रूप आप अपना कहते हो यह सब ऐसा ही है इसमे हमै कुछ सन्देह नहीं है तौ भी हे पुरुषोत्तम ज्ञान ऐश्वर्य बल वीर्य औ तेज से सम्पन्न कहे युक्त तुमारे रूप को अति आश्चर्य से मै देखने की इच्छा करता हूं ॥ ३ ॥ और मेरी इच्छा देखनेकीहै इस हेतु आपको अपना रूप देखावना अब उचित है यह कुछ बड़ी बात नहीं है परन्तु हे योगेश्वर जो वह आपका ईश्वरस्वरूप हमारे देखने योग्य होय और हम देख सकैं तो हे प्रभो वही अव्ययस्वरूप अपना हमै क्षमाकरि दिखावो यह अर्जुनने भगवानसे कहा ॥४॥ जब ऐसी प्रार्थना अर्जुनने किया तब भगवान श्रीकृष्ण अपने रूपके देखावने का मनोरथ कर के अर्जुन को सावधान होउ यह कहि करिके चारि श्लोकमे कहतेहै कि हेपार्थ अर्जुन अपरिमित नाना प्रकारकेअलौकिक मेरेरूप अब तुम देखो और वर्ण कहे शुक्ल कृष्ण आदि आकृति कहे कर चरण अङ्ग सब यथायोग मेरा दिव्यरूप नानावर्ण आकृतिका जोहैसोतुम देखो जो देखा चाहतेहो॥५॥ अब सोई आप कहते है कि हे भारत सब आदित्य औ वसुगण रुद्रगण तथा अश्विनीकुमार औ मरुतगण ये सकल देवता को मेरी देह मे देखो और हे अर्जुन जो मेरा रूप न तुमने न और किसीने कभी देखा है ऐसा अद्भुत मेरारूप अब देखो॥६॥ और इस ब्रह्माण्डके बीच हर एक स्थानों मे भ्रमण करते हुये जो सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्रादि समस्त चराचर जिन को कोटि वर्षमे भी कोई नही देखि सकै है सो सब स्थावर जङ्गम समेत सम्पूर्ण जगत इस मेरी शरीर मे अवयव कहे अङ्ग रूप देखो और गुड़ाकेश अर्जुन जगत का आश्रय औ संसार की अवस्था तथा जय पराजय आदि जो कुछ और देखा चाहो सो सब मेरे रूप मे देखो ॥ ७ ॥ और जो अर्जुन ने कहा कि वह रूप मेरे

नतुमांशक्यसेद्रष्टुमनेनैवस्वचक्षुषा । दिव्यंददामितेचक्षु:पश्यमेयोगमैश्वरं ॥८॥ संज
यउवाच । एवमुक्त्वाततोराजन्महायोगेश्वरोहरि: । दर्शयामासपार्थायपरमंरू
पमैश्वरं ॥९॥ अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनं । अनेकदिव्याभरणंदिव्यानेकोद्य
तायुधं ॥१०॥ दिव्यमाल्याम्बरधरंदिव्यगन्धानुलेपनं । सर्वाश्चर्यमयंदेवमनन्तंवि
श्वतोमुखं ॥११॥ दिविसूर्यसहस्रस्यभवेद्युगपदुत्थिता । यदिभा:सदृशीसास्याद्भा
सस्तस्यमहात्मन: ॥१२॥ तत्रैकस्थंजगत्कृत्स्नंप्रविभक्तमनेकधा । अपश्यद्देवदेव
स्यशरीरेपाण्डवस्तदा ॥१३॥ तत:सविस्मयाविष्टोहृष्टरोमाधनञ्जय: । प्रणम्यशिर

भाषा अनुवाद

देखने जोग्य होय तो देखावो इस पर कहते हैं कि हे अर्जुन इन अपने चर्मचक्षु कहे चमड़े की आखो से हमारे उस रूप को न देख सको गे इस से हम तुम को अलौकिक दिव्य ज्ञानचक्षु देते हैं उनसे वह मेरा ईश्वर रूप अघटन घटना समर्थ का दर्शन करो ॥ ८ ॥ इस प्रकार से कहि कर भगवानने अर्जुन को अपना विराट रूप देखाया तो वह रूप देखि अर्जुन श्रीकृष्णको जैसा जाना औ देखा सोई रु लोक से राजा धृतराष्ट्र के प्रति सञ्जय कहते हैं कि हे राजन् धृतराष्ट महात्मा श्रीकृष्ण योगेश्वर ने अर्जुन से ये सब बातें कह करके अपना ऐश्वर्यविशिष्ट परम स्वरूप अर्जुनको दर्शन कराया ॥ ९ ॥ अब किस प्रकार का वह रूप है सो कहते हैं कि अनेक हैं वक्त्र कहे मुख औ नेत्र तथा अनेक अनेक हैं अद्भुत वस्तुवो का दर्शन जिस मे और अनेक दिव्य आभरण औ दिव्य आयुध धारण है जिस मे ऐसा रूप भगवान ने अर्जुन को देखाया ॥ १० ॥ और दिव्य माल्य कहे पुष्प औ दिव्य अम्बर कहे वस्त्र तथा दिव्य गन्ध लेपन है जिस रूप मे और नाना आश्चर्य युक्त तथा अनन्त अपरिच्छिन्न औ सर्व्वत्र है मुख जिस मे सो रूप देखाया ॥ ११ ॥ और उस रूप की निरूपम प्रभा प्रकाश करते हैं कि आकाश मे जो एक काल सहस्र सूर्य के उदय की प्रभा हो उठै तो कदाचित उन महात्मा की कान्ति के कोई अंश की उपमा होय तो होय नही तो उस रूप की उपमा कोइ नहीहै ॥१२॥ तिस के बादि क्या भया सो कहते हैं कि उस समय अर्जुन को नाना प्रकार शरीर मे अनेक भागमे स्थित समस्त जगतको

सादेवंकृताञ्जलिरभाषत॥१४॥ अर्जुनउवाच ॥ पश्यामिदेवांस्तवदेवदेहेसर्वांस्तथा
भूतविशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशंकमलासनस्थमृषींश्चसर्वानुरगांश्चदिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रंपश्यामित्वासर्वतोऽनन्तरूपं। नान्तंनमध्यंनपुनस्तवादिंपश्या
मिविश्वेश्वरविश्वरूप ॥१६॥ किरीटिनंगदिनंचक्रिणञ्चतेजोराशिंसर्वतोदीप्तिमन्तं।
पश्यामित्वांदुर्निरीक्ष्यंसमन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयं ॥१७॥ त्वमक्षरंपरमंवेदि
तव्यंत्वमस्यविश्वस्यपरंनिधानं। त्वमव्ययःशाश्वतधर्मगोप्तासनातनस्त्वंपुरुषोमतोमे
॥१८॥ अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुंशशिसूर्यनेत्रं। पश्यामित्वादीप्तहु

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण एक अपनी शरीर मे एक बारगी देखाया ॥ १३ ॥ तब तो अर्जुन वह आश्चर्य रूप भगवान का रूप देखि अतिशय कौतुकयुक्त होय आनन्द से पुलकित भये और मस्तक झुकाय प्रणाम करि हाथजोडि यह वचन बोलते भये॥१४॥ अब सञ्जय सवह श्लोकमे अर्जुनके कहे हुये वचनों को कहते हैं कि हे कृष्ण आपकी शरीरमेआदित्य औ यावत्भूतसमूह अर्थात् जरायुज मनुष्य पशु और अण्डज पची सर्प आदि औ स्वेदज जुंआं मच्छड प्रभृति तथा उद्भिज्ज लता वृक्ष आदि ये सब देखता हौ और हे देव सकल देवता औ नाभि कमल मे ब्रह्मा बैठे तथा ईश महा देव और दिव्यऋषि वशिष्ट आदि औ उरग तक्षक.आदिकोंकोभी देखता हूं और पद्मासनस्थ ब्रह्मा किसप्रकार देखपडते सो कहतेहैं कि पृथिवी रूप नाभि से उठा जो कमल स्वरूप सुमेरुगिरि तिस पर बैठे हुये ब्रह्माको देखों हौं॥१५॥ और अनेक बाहु अनेक उदर अनेक मुख अनेक नेत्र तुमको सर्वत्र मै देखता हूं परन्तु हे विश्वरूप तुमारा आदि मध्यअन्त मावही नहीं देखता हूं ॥१६॥ और मुकुट गदा चक्र युक्त तथा तेजःपुञ्ज सर्वत्र प्रकाशमान अति दुर्निरीक्ष्य चहूं और प्रदीप्त अनल अर्कके समान तुमको मै देखता हूं ॥१७॥ जिस हेतु तुमारा ऐश्वर्य ऐसा अचिन्त्यहै इससे तुम अक्षर जो परब्रह्म मुमुक्षुलोगोंके जाननेयोग्य और तुम इस विश्व के निधान कहे परम आश्रयभूत हौ इससे तुम नित्य औ नित्य धर्मके पालक औ अनादि पुरुष मेरेमतमे हो॥१८॥ और अनादिमध्यअन्त कहे उत्पत्तिस्थिति लय रहित औ अनन्त प्रभाव तथा अनन्त बाहु औ चन्द्र सूर्य है नेत्र जिसके ऐसे

ताशवक्त्रंस्वतेजसाविश्वमिदंतपन्तं ॥१९॥ द्यावापृथिव्योरिदमन्तरंहिव्याप्तंत्वयैकेन
दिशश्चसर्व्वाः। दृष्ट्वाद्भुतंरूपमिदंतवोग्रंलोकत्रयंप्रव्यथितंमहात्मन् ॥२०॥ अमीहि
त्वांसुरसंघाविशन्तिकेचिद्भीताःप्राञ्जलयोगृणन्ति। स्वस्तीत्युक्त्वामहर्षिसिद्धसंघाःस्तु
वन्तित्वांस्तुतिभिःपुष्कलाभिः ॥२१॥ रुद्रादित्यावसवोयेचसाध्याविश्वेऽश्विनौमरुतश्चो
ष्मपाश्च। गन्धर्व्वयक्षासुरसिद्धसंघावीक्षन्तेत्वांविस्मिताश्चैवसर्व्वे ॥२२॥ रूपंमहत्ते
बहुवक्त्रनेत्रंमहाबाहोबहुबाहूरुपादं। बहूदरंबहुदंष्ट्राकरालंदृष्ट्वालोकाःप्रव्यथि
तास्तथाहं ॥२३॥ नभःस्पृशंदीप्तमनेकवर्णंव्यात्ताननंदीप्तविशालनेत्रं। दृष्ट्वाहित्वांप्र
व्यथितान्तरात्माधृतिंनविन्दामिशमञ्चविष्णो ॥२४॥ दंष्ट्राकरालानिचतेमुखानिदृष्ट्वै

भाषा अनुवाद

तुम को हम देखते हैं और अग्नि जिस के मुख मे जाज्वल्यमान है ऐसे आप अपने तेज से इस विश्वभर को सन्तप्त करते हुये तुम को मैं देखौं हौं ॥ १९ ॥ और हे महात्मन् स्वर्ग औ पृथिवी तथा अन्तरिक्ष और सकल दिशा एक आप से व्याप्त हैं सो यह उग्र रूप आप का देखि के त्रैलोक्य अति भय खाता है ॥ २० ॥ और ये सम्पूर्ण देवता भयमाय तुमारे शरणागतहैं और कोई अति भीतहोय दूर खड़े करजोड़े जय जय रक्ष रक्ष पुकार पुकार प्रार्थना करतेहैं और महर्षि तथा सिद्धसंघ तुम को देखते स्वस्ति वचन उंचारते हुये सम्पूर्ण स्तुति से स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥ और रुद्रगण आदित्यगण वसुगण औ साध्यगण देवगण तथा विश्वे देवा अश्विनीकुमार औ मरुतगण पितृगण उष्णा द्रव्य पान करनेवाले पितृगण धर्म शास्त्र औ श्रुति मे ऐसे कहा कि पितृगण तब तक मौन भोजन करते जब तक अन्न उष्ण है और यावत् पितृ उद्देश करिके दिये हुये अन्न का गुण वर्णन रूप मधु वातादि वैदिक मन्त्र पाठ समाप्त न होय तावत् पितर अन्न खाते हैं और गन्धर्वगण यक्षगण और विरोचन प्रभृति असुरगण औ सिद्धगणये सकल विस्मय युक्तहोकेतुमकोखड़े एकटकदेखतेहैं ॥२२॥ और हेमहाबाहो यह महान् तुमारा रूप जिसमे बहुत मुख नेत्र बाहु उरु पाद उदरहैं और जो बहुतेरे बड़े बड़े दांतोंसे अति कराल कहे भयानकहै इस को देखने सकल लोक व्यथायुक्तहैं और मैभी अतिपीड़ित हौं ॥२३॥ और मैंहीं केवल डरता हूं यह नहीं ऐसा यहरूप

नकालानलसन्निभानि। दिशोनजानेनलभेचशर्मप्रसीददेवेशजगन्निवास॥ २५॥ अमीचत्वांधृतराष्ट्रस्यपुत्राःसर्वेसहैवावनिपालसंघैः। भीष्मद्रोणःसूतपुत्रस्तथासौस हास्मदीयैरपियोधमुख्यैः॥२६॥ वक्राणितेत्वरमाणाविशन्तिदंष्ट्राकरालानिभयानकानि॥ केचिद्विलग्नादशनान्तरेषुसंदृश्यन्तेचूर्णितैरुत्तमांगैः॥२७॥ यथानदीनां बहवोऽम्बुवेगाःसमुद्रमेवाभिमुखाद्रवन्ति। तथातवामीनरलोकवीराविशन्तिवक्त्रा

भाषा अनुवाद

आकाश को परस करनेवाला अर्थात् अत्यव्यापी तेज युक्त नाना वर्ण विशिष्ट विस्तार को प्राप्त औ जलजलाते है विशाल कहे बडे बडे नेत्र जिस के ऐसे तुम को अवलोकन करि के ,हे विष्णो हमारा अन्तरात्मा व्यथायुक्त है और मै इस रूप को देखते हुये शान्ति तथा धीरज किसी तरह नही धर सकता हुं ॥ २४ ॥ और हे देवेश तुमारा मुख देखि कर डर के मारे हमै दिशा भूलि गई और सुख शान्ति पावते नहीं है जगन्निवास अब प्रसन्न होउ अब कैसा मुख देखि कर डर भया सो कहते कि बडे बडे कराल दांतो से भयानक जो प्रलयाग्नि के समान है॥ २५॥ और जो कहा कि अन्यत् जो चाहो पराजय है सो भी इस मेरी शरीर मे देखो सोई देखि अब अर्जुन पांच श्लोक से कहते है कि जयद्रथ प्रभृति राजगण समेत ये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि तुमारे मुख मे प्रवेश करते है और भीष्म द्रोण औ सूतपुत्र कर्ण ये भी तुमारे मुख मे प्रवेश करते है और यही सब नहीं प्रवेश करते है बलु प्रतियोधा अर्थात् हमारे पक्ष के भी शिखण्डी धृष्टद्युम्न प्रभृति को के समेत वे सबप्रवेश करते है॥ २६॥ और ये दुर्योधनादिक धावते हुये तुमारे विकट दन्तो से कराल मुख मे प्रवेश करते है और तिनके बीच कोई कोई योद्धा मस्तक चूर्ण हुये तुमारे दातो के मध्य सन्धिमे लपटे से देख पडते है॥ २७॥ अब उनके प्रवेश विषय मे दृष्टान्त कहते है कि जैसे अनेक अनेक मार्ग से नदियो के धारा प्रवाह समुद्र के अभिमुख धाये भये जायकर समुद्र मे प्रवेश करते है तैसेही ये नरलोक के वीर सकल जाज्वल्यमान तुमारे मुखमे पैठते जाते है॥ २८॥ वे वश रूप प्रवेश मे नदी का दृष्टान्त कहिकर अब बुद्धिपूर्वक प्रवेश करने मे

स्यभितोज्वलन्ति ॥२८॥ यथाप्रदीप्तंज्वलनंपतङ्गाविशन्तिनाशायसमृद्धवेगाः । त
थैवनाशायविशन्तिलोकास्तवापिवक्त्राणिसमृद्धवेगाः ॥२९॥ लेलिह्यसेग्रसमानःसम
न्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः । तेजोभिरापूर्यजगत्समग्रंभासस्तवोग्राःप्रतपन्ति
विष्णो ॥३०॥ आख्याहिमेकोभवानुग्ररूपोनमोऽस्तुतेदेववरप्रसीद । विज्ञातुमि
च्छामिभवन्तमाद्यंनहिप्रजानामितवप्रवृत्तिं ॥३१॥ श्रीभगवानुवाच । कालोस्मि
लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिहप्रवृत्तः । ऋतेपित्वानभविष्यन्तिसर्वेयेऽवस्थि
ताःप्रत्यनीकेषुयोधाः ॥३२॥ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठयशोलभस्वजित्वाशत्रून्भुङ्क्ष्वराज्यंसमृ

भाषा अनुवाद

दृष्टान्त कहते है कि जैसे बडे वेग औ उत्साह से पतङ्ग जो पांखी ते सब नाशके निमित्त दीप शिखा मे जाय जाय गिरते औ मरते है तैसे ही अति वेगसे ये सब वीर मनुष्य नाश के अर्थ तुमारे मुख मे आय आय कर प्रवेश करते है ॥ २९ ॥ और प्रवेश के अनन्तर फेरि क्या होता सो कहते है कि तुम भी अति भयानक जिह्वा लहलहाते हुये मानो त्रैलोक्य लील वे को रसना पसारी है अपने तेज से समग्र जगत को सन्तप्त करते भये उन सब वीरो को ग्रास कहे भक्षण करने को इच्छा करते हौ ॥ ३० ॥ हे महाराज जिससे तुमारा ऐसा उग्ररूप है इसके आपको हौ सो कहो और हम तुमको प्रणाम करते है हे देवश्रेष्ठ तुम मेरे पर अब प्रसन्न होउ और आदि पुरुष जो तुम सो तुमको मैं जाना चाहता हूं और एवंभूत जो तुम तुमारी प्रवृत्ति कहे वार्त्ता कुछभी हम नही जान सकते है ॥३१॥ इस प्रकार अर्जुन से प्रार्थना किये गये श्रीभगवान तीनि श्लोक से कहते है कि मै सकल लोकका क्षय करनेवाला कालरूप हौ और प्राणियोंको संहार करनेको इच्छा करि इस लोक मे प्रवृत्त कहे प्रगट भया हौं सो एक तुमको छोडि और कोई एस से न बंचैगे अर्थात् प्रति सेना मे जो भीष्म द्रोण आदि योद्धा है वे सबके सब मरैंगे ॥ ३२ ॥ जिस हेतु ऐसा होनहार है इस से तुम युद्ध के अर्थ उठो और देवता से भी अजय जो भीष्म द्रोण आदि वीर सो अर्जुन से पराजित भये इस यश को लाभ करो और शत्रुवों का विनाश करि के संपूर्ण राज्य भोग करो और ये जो तुमारे है शत्रु तिन को युद्धके पूर्व्व हीं काल रूप मैने बधामि हत

हं। मयैवैतेनिहताःपूर्वमेवनिमित्तमात्रंभवसव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥ द्रोणञ्चभीष्म
ञ्चजयद्रथञ्चकर्णंतथान्यानपियोधवीरान्। मयाहतांस्त्वंजहिमाव्यथिष्ठायुध्यस्वजेता
सिरणेसपत्नान् ॥३४॥ सञ्जयउवाच। एतच्छ्रुत्वावचनंकेशवस्यकृताञ्जलिर्वेपमा
नःकिरीटी। नमस्कृत्वभूयएवाहकृष्णंसगद्गदंभीतभीतःप्रणम्य ॥३५॥ अर्जुनउवा
च। स्थानेहृषीकेशतवप्रकीर्त्याजगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यतेच। रक्षांसिभीतानिदिशो
द्रवन्तिसर्वेनमस्यन्तिचसिद्धसंघाः ॥३६॥ कस्माच्चतेननमेरन्महात्मन्गरीयसेब्रह्म

भाषा अनुवाद

करि राखा है तौ भी हे सव्यसाचिन् अर्जुन तुम निमित्त मात्र होउ सव्यसाची उसको कहते जो बायें हाथ से युद्धादि कार्य करि सकै हैं ॥३३॥ और जो पूर्व मे अर्जुन ने शंका किया कि हम इन को जीतैंगे या येई हम को मारलें यह हम नहीं जानतेहै उसका कारण करतेहुये कहतेहैं कि जिनसे तुमको शङ्का भईथी वे सब मुझसे हत भयेहैं जो द्रोणभीष्म जयद्रथ कर्ण तथा और और जो वीर उन सबको तुम जय करो और उनसे रत्तीभर न डरो तुम अवश्य ही जीतोगे ॥३४॥ तिसके बादि जो भया सो संजय धृतराष्ट्र से कहते है कि ये श्रीकृष्णके वचन सुनि करि काम्पमान कलेवर किरीटी अर्जुन हर्ष औ भयकेमारे गदगदकण्ठ अतिडरसे डरे कैसे हाथजोडि श्रीकृष्णको प्रणाम करके वक्ष्यमाण कहे आगेकहैंगे जो बातैं कहते भये ॥ ३५ ॥ अब इस श्लोक से अर्जुन कहते है कि हे हृषीकेश जिस हेतु तुम ऐसे अद्भुत प्रभाव से युक्त औ भक्तवत्सल हौ इससे तुमारा माहात्म संकीर्तन करने से केवल हमोंने जो हर्ष पाया सो नहीं किन्तु ब्रह्माण्डभर अति हर्षित औ प्रीतियुक्त है यह उचित है और इस ब्रह्माण्डमे जो सब सज्जन प्रसन्न औ राक्षस सकल डरके मारे दश दिशामे भागे फिरते है और योग तप मन्त्र आदिके द्वारा सिद्धगण तुम को प्रणाम करते है यह कुछ आश्चर्य नहीं है ॥३६॥ और सबके हर्ष औ प्रणाम करनेमे अवहेतु कहते हैं कि हे महात्मन् हे अनन्त हे जगन्निवास श्रीकृष्ण क्यों न ये सब प्रणाम करैंगे कि जो तुम ब्रह्माकेभी आदि कर्त्ता कहे जनक और गुरु हौ और सत् कहे व्यक्त प्रगट जो जगत औ असत जो अव्यक्त प्रकृत माया इन दोनोसे पर अर्थात् मूल कारण रूप अक्षर कहे अविनाशी जो ब्रह्म सो

णोऽप्यादिकर्त्रे। अनन्तदेवेशजगन्निवासत्वमक्षरंसदसत्तत्परंयत् ॥३७॥ त्वमा
दिदेवःपुरुषःपुराणस्त्वमस्यविश्वस्यपरंनिधानं। वेत्तासिवेद्यञ्चपरञ्चधामत्वयाततं
विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥ वायुर्यमोऽग्निर्वरुणःशशाङ्कःप्रजापतिस्त्वंप्रपितामहश्च।
नमोनमस्तेऽस्तुसहस्रकृत्वःपुनश्चभूयोपिनमोनमस्ते॥३९॥ नमःपुरस्तादथपृष्ठतस्तेन
मोऽस्तुतेसर्वतएवसर्व। अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वंसर्वंसमाप्नोषिततोऽसिसर्वः ॥४०॥

भाषा अनुवाद

भी तुम हौ तौ नवधा भक्ति द्वारा जो सब तुम को प्रणाम करते हैं सो उचित है और संपूर्ण देवतों के आदि भूत जो अनादिपुरुष तुम सो इस विश्वके परनिधान कहे लयस्थान औ विश्वके ज्ञाता औ जो कुछ जानने के योग्य वस्तु है सो तुम हौ और परम धाम जो विष्णुपद सो भी तुम हौ इससे हे अनन्तरूप कृष्ण तुम इस विश्वमे व्याप्त हौ इन सात हेतुवों के द्वारा भी तुमही नमस्कार योग्य हौ ॥३७॥३८॥ जिस हेतु तुम सर्व देवरूप हौ इससे तुम सबके नमस्कार योग्य हौ ऐसे वचनोंसे भगवान् की स्तुति करिके अब अर्जुन आप प्रणाम करते हैं कि वायु यम अग्नि वरुण चन्द्र प्रजापति ब्रह्मा औ प्रपितामह ब्रह्माके भी जनक जो तुम सो मेरे सहस्र सहस्र प्रणाम तुमको हैं फेरि फेरि भी सहस्र सहस्र प्रणाम हैं ॥ ३९ ॥ भक्ति औ श्रद्धा तथा आदर की अधिकाई से भगवत् को नमस्कार करने से तृप्ति न पाय के पुनर्वार और भी प्रणाम करते हैं कि हे सर्वात्मन् तुमारे सन्मुख औ पृष्ठभाग मे प्रणाम करता हूं और तुमारे सब ओर भी मेरी नमस्कार पहुंचे और भगवान की सर्वात्मकता सिद्ध करने की आकांक्षा पर कहते हैं कि जिस की अनन्त सामर्थ औ अपरिमित पराक्रम एवंभूत जो तुम विश्व के भीतर बाहर सम्यक् व्याप्त हौ जैसे सुवर्ण नानारूप से भूषणों मे व्याप्त है औ मृत्तिका घट आदि पात्रों मे जैसे व्याप्त है तैसे विश्वमे आप व्याप रहे हौ ॥ ४० ॥ अब दो श्लोकके द्वारा भगवान से अर्जुन अपनी अपराध क्षमा करावते हैं कि हे कृष्ण हे यादव हे सखे ऐसे वचनों से आपको अपना सखा मानि जो हठसे मैंने तुमारी यह महिमा नजानिके अथवा भलवे या प्रणय कहे अति प्रीति से कहा सो मेरी नजान की असावधान की

सखेतिमत्वाप्रसभंयदुक्तंहेकृष्णहेयादवहेसखेति। अजानतामहिमानंतवेदंमयाप्र
मादात्प्रणयेनवापि ॥४१॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोसिविहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युततत्समक्षंतत्क्षामयेत्वामहमप्रमेयं ॥४२॥ पितासिलोकस्यचराचर
स्यत्वमस्यपूज्यश्चगुरुर्गरीयन्। नत्वत्समोस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्र
भाव ॥४३॥ तस्मात्प्रणम्यप्रणिधायकायंप्रसादयेत्वामहमीशमीड्यं। पितेवपुत्रस्य
सखेवसख्युःप्रियःप्रियायार्हसिदेवसोढुं ॥४४॥ अदृष्टपूर्वंहृषितोऽस्मिदृष्ट्वाभयेनचप्र

भाषा अनुवाद

अपराध चूक आप क्षमा करो ॥४१॥ और हे अच्युत विहार शयन भोजन क्रीडा आदि मे अथवा सखागण रहित निर्जन स्थान मे जहां हम और तुम को छोड़ और कोई न था ऐसी जगह मे अथवा परिहास करने वाले मित्रों के बीच मे जो हमने हसने के लिये तिरस्कार आपका किया है सो सब अचिन्त्य प्रभाव आपसे हम क्षमा करवावते हैं ॥ ४२ ॥ अब भगवत् का अचिन्त्य प्रभाव कहते है कि हे अप्रतिम प्रभाव नहीं है प्रतिमा कहे उपमा ऐसा निरूपम प्रभाव है जिसका सो तुम इस चराचरात्मक लोक के पिता कहे उत्पत्ति करनेवाले पूजनीय तथा गुरु के भी गुरु हौ इस हेतु परमेश्वर जो तुम तुमारे समान का त्रिलोकी मे कोई नहीहै तो अधिक फेर और कहां होय सकैहै यह अर्जुनने कहा ॥४३॥ इससे हे ईश स्वामिन् स्तुति के योग्य ईश्वर जो आप तिन को मै शरीर से दंडकी नाई अष्टाङ्ग प्रणाम करिके प्रसन्न करावताहूं कि जैसे पुत्रकी अपराध क्षमा करि के पिता सह लेता और मित्र की अपराध मित्र मन मे नही धरता तथा पत्नी की अपराध पति भी प्रीति से सह्य करता है तैसे ही हे देव पिता औ मित्र तथा स्वामी रूप आप भी मेरी अनजान बालक समान प्रीतिपात्र सेवक की अपराध क्षमा कीजिये ॥ ४४ ॥ इस प्रकार से क्षमा करायके अब अर्जुन दो श्लोक के द्वारा भगवान से प्रार्थना करते है कि हे देव श्रीकृष्ण अदृष्टपूर्व यह आपका रूप देखि के मै अति प्रसन्न भया हौ परन्तु भय के मारे मेरा मन थिर नहीहै इससे हे देवेश जगतके निवास अब मेरेपर प्रसन्न होउ और वही पूर्वरूप देखावो यह प्रार्थना करता हूं ॥४५॥ अब सोई पूर्वरूप कहते है कि हे सहस्र

व्यथितंमनमे। तदेवमेदर्शयदेवरूपंप्रसीददेवेशजगन्निवास॥४५॥ किरीटिनंग
दिनंचक्रहस्तमिच्छामित्वांद्रष्टुमहंतथैव। तेनैवरूपेणचतुर्भुजेनसहस्रवाहोभवविश्व
मूर्त्ते॥४६॥ श्रीभगवानुवाच। मयाप्रसन्नेनतवार्जुनेदंरूपंपरंदर्शितमात्मयोगं।
तेजोमयंविश्वमनन्तमाद्यंयन्मेत्वदन्येननदृष्टपूर्वं॥४७॥ नवेदयज्ञाध्ययनैर्नदानैर्नच
क्रियाभिर्नतपोभिरुग्रैः। एवंरूपःशक्योऽहंनृलोकेद्रष्टुंत्वदन्येनकुरुप्रवीर॥४८॥
मातेव्यथामाचविमूढभावोदृष्ट्वारूपंघोरमीदृङ्ममेदं। व्यपेतभीःप्रीतमनाःपुनस्त्वंतदे

भाषा अनुवाद

चाहो हे विश्वमूर्त्ते सोई किरीट मुकुट दिये गदा औ चक्र हाथ मे लिये आपको देखनेकी इच्छा करता हौं इससे अब आप इस विश्वरूपको संहार करिके वैसही चतुर्भुजरूप स्वरूप धारण करो॥४६॥ भगवान श्रीकृष्ण जब ऐसे प्रार्थना किये गये तब अर्जुन को समझाते हुये तीनि श्लोक से यह कहने लगे कि हे अर्जुन तुम भय काहे लिये करते हो मैंने अति प्रसन्न होय अपनी योगमाया की सामर्थ्य से यह अपना अपूर्व उत्तमरूप तुम को कृपा करि के देखाया है और इस तेज मय विश्वात्मक आदि अन्त रहित मेरे रूप को तुमारे समान भक्त के विना किसी और भक्तने कभी भी नहीं देखा है॥४७॥ और यह अति दुर्लभ दर्शन पाय के तुम अब कृतार्थ भयेहौ सोई कहते है कि न वेद अध्ययन से न यज्ञ अध्ययन कहे यज्ञविद्या जो कल्परूप आदि कर्मकाण्ड के अर्थ संग्रह किये ग्रन्थ तिन से अर्थात् न यज्ञविद्याध्ययन से और न दान से न अग्निहोत्र आदि क्रियो से न चान्द्रायण आदि उग्र कठिन तपस्यो के द्वारा यह मेरा रूप नरलोक मे देखनेके शक्य है सो हे कुरुप्रवीर अर्जुन तुम को छोडि और कोई नही नृलोक मे इस रूप को देख शका है सो तुम मेरे अनुग्रह से इस मेरे रूप का दर्शन करि अपने को कृतार्थ भये जानो॥४८॥ जो ऐसा घोर भयानकरूप देखि तुमको क्षोभ होता है तो जिस मे तुमै मेरा रूप देखि व्यथा औ मूढता न होय इस से अब तुम विगतभय प्रसन्न चित्त होय फिरि हमारा सोई वह पूर्वरूप जो देखा चाहते हौ सो देखौ ॥४९॥ ऐसे वचन कहि कर भगवानने अर्जुन कों वही पूर्वरूप अपना देखाया यंह सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते है कि महात्मा वासुदेव श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को सोई

वमेरूपमिदंप्रपश्य ॥४९॥ सञ्जयउवाच। इत्यर्जुनंवासुदेवस्तथोक्त्वास्वकंरूपंदर्श
यामासभूय। आश्वासयामासचभीतमेनंभूत्वापुनःसौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥ अर्जुन
उवाच। दृष्ट्वेदंमानुषंरूपंतवसौम्यंजनार्दन। इदानीमस्मिसंवृत्तःसचेताःप्रकृतिं
गतः ॥५१॥ श्रीभगवानुवाच। सुदुर्दर्शमिदंरूपंदृष्टवानसियन्मम। देवाअप्यस्यरू
पस्यनित्यंदर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥ नाहंवेदैर्नतपसानदानेननचेज्यया। शक्यएवंवि
धोद्रष्टुंदृष्टवानसियन्मम ॥५३॥ भक्त्यात्वनन्ययाशक्योअहमेवंविधोर्जुन। ज्ञातुंद्र
ष्टुञ्चतत्त्वेनप्रवेष्टुञ्चपरन्तप ॥५४॥ मत्कर्मकृन्मत्परमोमद्भक्तःसङ्गवर्जितः। निर्वै
रःसर्वभूतेषुयःसमामेतिपाण्डव ॥५५॥ इतिविश्वरूपदर्शनोनामैकादशोध्यायः ॥११॥

भाषा अनुवाद

चतुर्भुज किरीटधारी अपना शान्तस्वरूप फेरि देखाया और डरे भये अर्जुन को आश्वास दिया ॥५०॥ तिसके अनन्तर निर्भय होय अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन तुमारा यह शान्त मनुष्य स्वरूप देखि मैं अब प्रसन्नचित्त औ सावधान भयों हौं ॥५१॥ तिसके बादि भगवान अपनी कृपा की दुर्लभता देखावते हैं कि जो यह हमारा विश्वरूप स्वरूप तुम ने देखा इसका दर्शन अति दुर्लभ है देखो देवतागण भी इस रूप के दर्शन की इच्छा सर्वदा करते है परन्तु इसका दर्शन नहीं पावते है ॥ ५२ ॥ उस अपने रूप के दुर्लभ दर्शन मे कारण कहते है कि तुम ने जो रूप मेरा देखा वह वेद अध्ययन औ तपस्या या दान यज्ञ के द्वारा किसी की देखने की सामर्थ नहीं है ॥ ५३ ॥ तो फेरि कौन उपाय से आप दर्शन दे शकते हो जो यह कहो तो कहते है कि अर्जुन अनन्य कहे एकचित्त भक्ति ही के द्वारा ऐसे विश्वरूप से हम प्रगट हो शकते हैं और वह भक्त भी हमें जानि शकै है और हे परन्तप अर्जुन शास्त्र से प्रत्यक्ष औ तदात्म रूप प्रवेश अर्थात् उस रूप मे लीन हम कराय शकते हैं और कोई भी उपाय नहीं है ॥ ५४ ॥ अब शास्त्र के अर्थ का सारांश परम रहस्य कहते हैं कि हे पाण्डव मत्कर्म कृत कहे मेरी प्रीति के अर्थ जो कर्म करै है और मत्परम कहें मही हौ परम प्रयोजन जिसको और मद्भक्त कहे मेरे आश्रित यथा पुत्र स्त्री धन मे आसक्ति हीन और भूत कहे प्राणी मात्र से वैर रहित जो है सोई हमको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वादश अध्यायः

अर्जुनउवाच। एवंसततयुक्तायेभक्तास्त्वांपर्युपासते। येचाप्यक्षरमव्यक्तंतेषांके
योगवित्तमा॥१॥ श्रीभगवानुवाच। मय्यावेश्यमनोयेमांनित्ययुक्ताउपासते। श्र
द्धयापरयोपेतास्तेमेयुक्ततमामताः॥२॥ येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तंपर्युपासते। स

भाषा अनुवाद

एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोक से और नवम अध्याय के एकतिस श्लोकादि से भी सगुण भगवद्भक्त ही को श्रेष्ठ कहा और तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एक भक्ति र्विशिष्यते इत्यादि सप्तम अध्यायके सत्रहें श्लोक से और सर्वं ज्ञान प्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि इत्यादि चतुर्थ अध्याय के छत्तिस श्लोकादि से भी ज्ञानी ही को श्रेष्ठ कहा है सो सगुण निर्गुण उपासना मे कौन उपासना श्रेय है अर्थात् जो भक्त सर्वज्ञ विश्वरूप सर्वशक्तिमान रूप तुम को ध्यान करता है सो कि जो अव्यक्त औ निर्विशेष अविनाशी ब्रह्म की उपासना करता है सो दोनो के मध्य मे कौन अतिशय योगवित् अर्थात् श्रेष्ठ है यह अर्जुन भगवान से पूछते भये॥१॥ तिन दोनो के बीच मे सगुण उपासना सुख साध्य है इस हेतु से भगवान सगुण उपासक भक्त को श्रेष्ठ कहते भये उत्तर देते हैं कि सर्वज्ञत्व आदिगुण विशिष्ट परमेश्वर स्वरूप मेरे मे मन को एकाग्र करिके श्रद्धापूर्वक मत्प्रीत्यर्थ कर्म्म अनुष्ठान करने से मेरेमे निष्ठ कहे युक्त होय जो हमारी आराधना करता है सोई हमारे मत मे युक्ततम कहे अति श्रेष्ठ है सो तुम तत्प्रीत्यर्थ कर्म्म करो॥२॥ और अक्षर ब्रह्मका लक्षण स्वरूप कहते हैं कि ब्रह्म अनिर्देश्य अर्थात् यह है ऐसा है इस कहने के अयोग्य है क्यों कि अव्यक्त कहे रूपादि रहित है औ

र्वत्रगमचिन्त्यञ्चकूटस्थमचलंध्रुवं ॥३॥ सन्नियम्येन्द्रियग्रामंसर्व्वत्रसमबुद्धयः । तेप्राप्नु
वन्तिमामेवसर्व्वभूतहितेरता ॥४॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ताशक्तचेतसां । अव्य
क्ताहिगतिर्दुःखंदेहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥ येतुसर्व्वाणिकर्म्माणिमयिसंन्यस्यमत्पराः ।
अनन्येनैवयोगेनमांध्यायन्तउपासते ॥६॥ तेषामहंसमुद्धर्त्तामृत्युसंसारसागरात् ।

भाषा अनुवाद

सर्व व्यापी तथा निराकार हेतु से अचिन्त्य औ कूटस्थ अर्थात् कूट जो माया प्रपञ्च ब्रह्माण्ड तिसका अधिष्ठान कहे आश्रय रूप स्थित है और अचल कहे व्यापार रहित तथा ध्रुव कहे अचल नित्य हानि वृद्धि शून्य है तीन चार के श्लोक का अर्थ एक साथ है ॥ ३ ॥ जा निर्गुण के उपासकों को क्लेश अधिक है तो फेरि क्या निर्गुण के उपासक श्रेष्ठ नहीं है इस शंकापर दो श्लोक से कहते हैं कि जो समदर्शी जन इन्द्रियगणको अपने वशीभूत करके अक्षर कहे अविनाशी ब्रह्मका ध्यान करते है सो सकल भूतों के हितकारी निर्गुण उपासक मनुष्य भी हमको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥ जो निर्गुण उपासक भी तुम को प्राप्त होते है तो सगुणोपासक युक्त कहे श्रेष्ठ जो आपने कहा सो कैसे संभव होय है इस शंका को निवारण करते हुये तीनि श्लोक से क्लेश हेतुक विशेष कहते हैं कि अव्यक्त निर्विशेष अक्षर ब्रह्म मे जिसका चित्त आशक्त भया उस को अधिक क्लेश होय है क्यों कि अव्यक्त ब्रह्म विषयक जो निष्ठा सो देहाभिमानी मनुष्य को अति दुख से प्राप्त होती है कारण यह कि स्थूल शरीर मे आत्म बुद्धि विशिष्ट मनुष्यों के मन को अन्तर्मुख वृत्तिका प्रत्यक कहे हर एक चैतन्य से निमग्न होना सर्वथा दुष्कर है ॥ ५ ॥ परन्तु मेरे भक्त मेरी कृपा से अनायास सिद्ध होते है यह दुई श्लोक के द्वारा कहते है कि जो मनुष्य परमेश्वर स्वरूप मेरेको सकल कर्म अर्पणपूर्वक मत्परायण कहे अनन्य भावसे मेरेमे तत्पर होय है ते मेरा ध्यान उपासना करते है अनन्य भाव कहे नहीं है अन्य वस्तु मे भाव प्रीति जिस मे सो अनन्य भाव है ॥ ६ ॥ इस प्रकारसे जिनोने मेरेमे चित्त लगाया है उनका हे पार्थ तत्काल इस मृत्युयुक्त संसार सागर से उद्धार करनेवाला मै हो अर्थात् एकाग्रचित्त भक्तजनों को मै संसार दुखसे उद्धारकर्त्ता हूं ॥ ७ ॥ इससे संकल्प विकल्पात्मक मनको

भवामिनचिरात्पार्थमय्यावेशितचेतसां ॥७॥ मय्येवमनआधत्स्वमयिबुद्धिंनिवेशय।
निवसिष्यसिमय्येवअतऊर्द्ध्वंनसंशयः ॥८॥ अथचित्तंसमाधातुंनशक्नोषिमयिस्थिरं।
अभ्यासयोगेनततोमामिच्छाप्तुंधनंजय ॥९॥ अभ्यासेऽप्यसमर्थोसिमत्कर्मपरमोभव।
मदर्थमपिकर्माणिकुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥ अथैतदप्यशक्तोऽसिकर्त्तुंमद्योगमा
श्रितः। सर्वकर्मफलत्यागंततःकुरुयतात्मवान् ॥११॥ श्रेयोहिज्ञानमभ्यासाज्ज्ञा

भाषा अनुवाद

मेरे मे थिर करो और व्यवसायात्मिका बुद्धिको भी मेरे मे लगावो तो देहके अन्तमे मेरी कृपा से तत्त्व ज्ञान को प्राप्त होय परमात्मा रूप मेरेमे स्थिति करके वास करोगे इसमे कुछ संशय नहीं है सोई श्रुति कहती है कि सगुण उपासक को देहान्त होनेपर वह उपास्य देव परब्रह्ममन्त्र उपदेश करिके अपरोक्ष करके साक्षात करदेय है ॥८॥ और सगुण उपासना मे अशक्त पुरुष को सुगम उपाय कहते हैं कि जो चित्तको मेरे मे थिर करने न शकै तो हे धनञ्जय अर्जुन विषय मे विक्षिप्त चित्त को विषयों से पुनः पुनः फेरि कर मेरे स्मरण की अभ्यास से हमै प्राप्त होने की यत्न करै ॥ ९ ॥ और जो अभ्यास करने मे समर्थ न होउ तो मत्प्रीत्यर्थ एकादशी उपवास व्रत पूजा औ नाम का कीर्त्तन आदि कर्म यो धर्म है उनमे तत्पर होउ क्यों कि मत्प्रीत्यर्थ कर्म करने से भी मुक्तिको प्राप्त होउ गे ॥१०॥ और इस भगवद्धर्मसे भी असमर्थ पुरुष को दूसरी उपाय कहते है कि जो मत्प्रीत्यर्थ कर्म भी न करि शकै तो एक मेरी शरण होय औ चित्त वशीभूत करिके यावत् कर्मफलका परित्याग करै इस का तात्पर्य यह है कि अन्तर्यामी रूप ईश्वर की प्रेरणा से हमैं कर्म कर्त्तव्य है और इन कर्मों का दृष्ट अदृष्ट फल परमेश्वर के आधीन है ऐसा भाव मेरेमे आरोप करिकै फल की इच्छा त्याग पूर्वक कर्म करने से भी मेरी कृपा से कृतार्थ होउगे ॥११॥ और उक्त फल त्याग की प्रशंसा करते हैं कि सगुण की उपासना मे सम्यक ज्ञान रहित जो अभ्यास तिससे युक्ति सहित उपदेश पूर्वक यह सगुण उपासना का अङ्ग भूत जो परोक्षज्ञान सो श्रेष्ठ है और उस ज्ञानसे भी ध्यान अधिक है और तिससे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है क्यों कि कर्म औ कर्मफल मे आसक्ति निवृत्त होने पर मेरी अनुग्रह से शीघ्र संसार की

नाद्ध्यानंविशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरं ॥१२॥ अद्वेष्टा सर्वभूतानांमैत्रःकरुणएवच। निर्ममोनिरहङ्कारःसमदुःखसुखःक्षमी ॥१३॥ सन्तुष्टःसततंयोगीयतात्मादृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तःसमेप्रियः ॥ १४ ॥ यस्मान्नोद्विजतेलोकोलोकान्नोद्विजतेचयः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तोयःसचमेप्रियः ॥१५॥ अनपेक्षःशुचिर्दक्षउदासीनगतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागीयोमद्भक्तःसमे प्रियः ॥१६॥ योनहृष्यतिनद्वेष्टिनशोचतिनकांक्षति। शुभाशुभपरित्यागीभक्ति

भाषा अनुवाद

शान्ति होय है ॥१२॥ अब पूर्व उक्त भक्तके ऊपर शीघ्र भगवतकी कृपा होनेका हेतु रूप सकल धर्म आठ श्लोक से कहते हैं कि साधारण से सब जीवों के साथ निर्वैर और सबका मित्र तथा दयावान अर्थात् समान से मैत्री औ हीनपर कृपा कारी और ममता विहीन अहङ्कारशून्य औ क्षमालुता से दूसरे का सुख दुख देखि अपने सुख दुखके समान जो जाने है ऐसे अपने सुख दुखमेभी समबुद्धि औ क्षमाशील पर मेरी शीघ्र प्रसन्नता होती है ॥ १३ ॥ और हानि लाभ मे प्रसन्न चित्त तथा अप्रमत्त वशीभूत स्वभाव औ सतविषय मे दृढ निश्चय और मेरे मे अर्पण किया है मन बुद्धि जिसने ऐसा जो मेरा भक्त सो हमै अतिही प्रिय है ॥१४॥ और जिस पुरुषसे लोग भयके द्वारा उद्वेग कहे चित्तक्षोभ नही पावते और जिस को लोगों से उद्वेग नहीं होता है और जो दूष्ट होने से प्रसन्न औ अनिष्ट होनेसे अप्रसन्न तथा आमर्ष कहे दूसरे की लाभ न देखि सकना ये सब जिसके नहीं है और भय उद्वेगसे मुक्त जो मेरा भक्त सो मोंहि परम प्रिय है ॥१५॥ और जिस को अनायास प्राप्त धनकी भी इच्छा नहीं और भीतर बाहर शुचि कहे पवित्र है औ दक्ष कहे आलस्य रहित तथा पक्षपात वर्जित औ गतव्यथ कहे आधिव्याधि शून्य और सर्व आरम्भ कहे उद्यम का त्यागी ऐसा जो सो भक्त मेरा प्रीय है आधि मन की चिन्ता है और व्याधि रोग को कहते हैं ॥ १६ ॥ और जो प्रिय वस्तु पाय के सन्तुष्ट औ अप्रिय पायके असन्तुष्ट न होय और इष्ट के नाश होने पर भी शोचता नहीं और किसी अप्राप्त वस्तु की आकांक्षाभी जिसके मनमे नही है और शुभ अशुभ कहे पुण्य पाप का भी त्यागी कहे त्याग का अधिकारी है ऐसा भक्ति

मान्यःसमेप्रियः ॥१७॥ समःशत्रौचमित्रेचतथामानापमानयोः। शीतोष्णसुख
दुःखेषुसमःसङ्गविवर्जितः ॥१८॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनीसन्तुष्टोयेनकेनचित्। अ
निकेतःस्थिरमतिर्भक्तिमान्मेप्रियोनरः ॥१९॥ येतुधर्म्यामृतमिदंयथोक्तंपर्युपासते।
श्रद्दधानामत्परमाभक्तास्तेऽतीवमेप्रियाः ॥ २० ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां सूप
निषत्सुभक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भाषा अनुवाद

युक्त मनुष्य हमें प्रिय होता है ॥१७॥ और शत्रु मित्र दोनोंके प्रति समान कहे
प्रीति विरोध रहित और मान अपमान में भी हर्ष विषाद रहित है और शीत
उष्ण सुख दुखमे एकरूप है तथा सङ्गवर्जित कहे विषयोंसे आसक्ति रहित पुरुष
जो है ॥ १८ ॥ और निन्दा स्तुति जिसको तुल्य हैं और जो मौनी कहे विरुद्ध
वचन तथा वकवाद रहित होय जो कुछ यथा लाभसे सन्तुष्ट है तथा अनिकेत कहे
निवासस्थान शून्य और स्थिरमति अर्थात् वशीभूतचित्त है जिनके ऐसे गुणयुक्त नर
मेरे को परम प्रिय है ॥ १९ ॥ यही सब पूर्वोक्त धर्म अमृत कहे मुक्ति रूप है
इनको यथोक्तरूप से जो श्रद्धायुक्त उपासना करते है और मत्परता कहे मैंही
हो परम परायण जिन को ऐसे मेरे भक्त मुझे अतिशय प्रिय होते है ॥ २० ॥
इति जगन्नाथ सुक्लविरचित मनभावनो भाषा टीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

त्रयोदश अध्यायः

श्रीभगवानुवाच। इदंशरीरंकौन्तेयक्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्योवेत्तितंप्राहुः क्षेत्रज्ञइतितद्विदः॥ १॥ क्षेत्रज्ञञ्चापिमांविद्धिसर्व्वक्षेत्रेषुभारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो

भाषा अनुवाद

अब इस तेरहे अध्याय मे तत्त्व ज्ञान वर्णन किया जाता है कि हे पार्थ अर्जुन मृत्युयुक्त संसार सागर से सगुण उपासक अपने भक्तो को मै उद्धार करता हूं इत्यादि द्वादश अध्याय के सप्तम स्लोक मे भगवत अङ्गीकृत जो संसारोद्धरण सो तत्त्वज्ञानके विना असंभव है इस हेतु तत्त्वज्ञान उपदेश करनेके अर्थ भगवान यह प्रकृति पुरुष विवेक अध्यायका आरम्भ करते है कि जो प्रकृति पुरुष विवेक सप्तम अध्याय के पञ्चम स्लोक मे परा अपरा प्रकृति द्वय रूप कहा है जिस प्रकृतिके द्वारा अविवेक वशते यह चेतन का अंश जीव भावको प्राप्त होय संसारी होता है और जिस प्रकृति द्वयके द्वारा जीवके उपभोगार्थ परमेश्वर भी सृष्टि आदि कर्म मे प्रवृत्त होते है क्षेत्र पदवाच्य परस्पर भिन्नस्वरूप द्वय प्रकृति को स्वरूप से निरूपण करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि हे कौन्तेय क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ दोनो के विचार कारी लोग इस भोगायतन भोगसाधन शरीर को क्षेत्र कहते है क्यो कि यह शरीर संसार शस्य के अंकुर होने की भूमि है और जो इस शरीर को जानता अर्थात् हम हमारा यह विचारता है उस को क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ विवेकी जन क्षेत्रज्ञ कहते है जिस हेतु क्षेत्रज्ञ किसान के समान इस देह रूप क्षेत्र का फल भोग करता है॥ १॥ क्षेत्रज्ञका व्यावहारिक स्वरूप कहा अब पारमार्थिक असंसारिस्वरूप कहते है कि हे भारत अर्जुन सोई

ज्ञानंयत्तज्ज्ञानंमतंमम ॥२॥ तत्क्षेत्रंयच्चयादृक्चयद्विकारियतश्चयत्। सचयो यत्प्रभावश्चतत्समासेनमेशृणु ॥३॥ ऋषिभिर्बहुधागीतंछन्दोभिर्विविधैःपृथक्। ब

भाषा अनुवाद

क्षेत्रज्ञ संसारी जो जीव तिसे यावत् क्षेत्र का आधार रूप हम को जानो क्यों कि साम वेदके तत्त्वमसि महावाक्य का लक्ष्य अर्थ चिद्घनरूप मेरे ही रूपका प्रतिपादन किया है और क्षेत्र यथा क्षेत्रज्ञ इन दोनो का जो पृथक रूप ज्ञान सोई मेरे मतसे मुक्तिका हेतु है और सब ज्ञान प्रतिबन्धके कारण है तथाहि सोई कर्म जो बन्धका हेतु न होय और सोई विद्या जो मुक्तिकी हेतु होय बाकी कर्म सब परिश्रमके हेतु और विद्या सकल शिल्पनैपुण्य मात्र अर्थात् कारीगरीकी चातुरी है यह जानो ॥ २ ॥ यद्यपि यहा चोविस प्रकार की प्रकृति को क्षेत्र कहते है तोभी देहरूप परिणाम कहे रूपान्तर प्राप्ति को प्राप्त भई वही प्रकृति–मे अहंरूप अविवेक हेतु मे सोई प्रकृति के विवेक के अर्थ इस शरीर को क्षेत्रमात कहा उसीके विस्तार की इच्छा से प्रतिज्ञा करते है कि मेरा किया हुआ जो उक्त स्वरूप जड दृश्य आदि स्वभाव और यादृश इच्छादि धर्मयुक्त और जैसे इन्द्रियादि विकार से युक्त और जैसे प्रकृतिपुरुष के संयोग से जन्मै, ओर जिस प्रकार स्थावर जङ्गम भेद से नानारूप होय सोई जो क्षेत्रज्ञ स्वरूप से जो है और अचिन्त्य ऐश्वर्य के द्वारा जो जो प्रभाव से सम्पन्न होय है सो सब संक्षेप से हमसे श्रवण करो यह भगवान अर्जुन से कहा ॥ ३ ॥ किसके कहे विस्तार वचनका यह संक्षेप है तो इसपर कहते है कि जो वशिष्टा दिकोंने योग शास्त्रमे,ध्यान धारणादिका विषय रूप परमेश्वरको विराटरूप नाना प्रकार से निरूपण किया है ओर जो वशिष्टादिकों ने नित्यनैमित्तिक काम्यकर्म आदि विविध प्रकार से वेदके द्वारा भिन्न भिन्न अनेक पूजनीय देवतारूप से प्रगट किया है ओर ब्रह्मसूत्र अर्थात् जिससे ब्रह्मका निरूपण होता है तात्पर्य यह कि जिससे समस्त भूत जन्मते है इत्यादि तटस्थ लक्षणरूप उपनिषद् वाक्य जो ब्रह्मसूत्र ओर जिसके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार ज्ञान किया जाता है एता वता स्वरूप लक्षण अर्थात् सोई ब्रह्म सत्य है ऐसा ज्ञान ओर आनन्दरूप इत्यादि

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवहेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥ महाभूतान्यहङ्कारोबुद्धिरव्यक्तमेवच।
इन्द्रियाणिदशैकञ्चपञ्चचेन्द्रियगोचराः॥५॥ इच्छाद्वेषःसुखंदुःखंसंघातश्चेतनाधृतिः
एतत्क्षेत्रंसमासेनसविकारमुदाहृतं॥ ६॥ अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्ज

भाषा अनुवाद

श्रुतियोने हेतु युक्त पद कहा अर्थात् हे सोम्य इस सृष्टिके पूर्व यह जगत् सत मात्र था असत से सत कैसे जन्मै है जो इस हृदय आकाशमे आनन्दरूप आत्मा न होता तो अपान औ प्राण वायु की चेष्टा कौन करता इससे यह आत्माही प्राणियों को आनन्द युक्त करै है इन सब श्रुति विशिष्ट ब्रह्म सूत्रादिकों से कहा है सोई संक्षेप से सुनो अथवा नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त उपासनारूप साधन चतुष्टय से सम्पन्न होनेके अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करै इत्यादि वेदव्यास प्रणीत को ब्रह्मसूत्र कहते है परमेश्वर के ईक्षितृत्व हेतु से प्रकृति को जगत का कारण नहीं कहि सकते है और सब श्रुतियो मे आत्मा को आनन्दमय कहा है इससे ये आनन्दमय हैं इत्यादि युक्तियों से निश्चित है अर्थ जिन सूत्रोंका सोई कहा हेतु मद्भिर्विनिश्चितै.॥ ४॥ और क्षेत्र स्वरूप दो श्लोक से कहते है कि महाभूत कहे क्षिति जल अग्नि वायु आकाश और इनका कारणरूप अहङ्कार और विज्ञानात्मिका बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व और अव्यक्त कहे मूल प्रकृति और पांच ज्ञान इन्द्री तथा एक सङ्कल्पविकल्पात्मक मन और पांच इन्द्रिय गोचर कहे शब्द आदि तन्मात्रा विशेषरूप से इन्द्रिय ग्राह्य विषय येई क्षेत्र स्वरूप चौबिस तत्त्व कहे है॥ ५॥ और इच्छा द्वेष सुख दुख औ संघात कहे शरीर औ चेतना कहे ज्ञानात्मक अन्त.करण की वृत्ति जो बुद्धि औ धैर्य्य ये सब दृश्य हैं इससे ये आत्माके धर्म नहीं है अन्त.करण हीं के धर्म है तो शरीर धर्मही इनको कहा चाहिये सो श्रुति मे कहा है कि कामना संकल्प संशय श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य्य अधैर्य्य लज्जा बुद्धि भय ये सब अन्त.करणके व्यापार है इस वचन से यही अध्यायके तीसरे श्लोकमे जो कहा क्षेत्रधर्म सो देखाया है और इन्द्रिय आदि विकार सहित क्षेत्र को मैने संक्षेपरूप तुमसे कहा॥६॥ अब उक्त क्षेत्र से पृथक जो ज्ञेय कहे जानवे योग क्षेत्रज्ञ तिस को विस्ताररूप वर्णन की इच्छा करि क्षेत्रज्ञ के ज्ञान होनेके साधन पांच श्लोक

वं। आचार्योपासनंसौचंस्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥ इन्द्रियार्थेषुवैराग्यमनहङ्कार एवच। जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनं ॥८॥ असक्तिरनभिष्वङ्ग:पुत्रदारगृहादिषु। नित्यञ्चसमचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥ मयिचानन्ययोगेनभक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वंतत्त्वज्ञानार्थदर्शनं। एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ ज्ञेयं

भाषा अनुवाद

से कहते हैं कि अमानित्व अदम्भित्व अहिंसा कहे मान कपट परपीड़ा राहित्व औ क्षान्ति कहे क्षमा औ आर्जव जो सीधापन औ आचार्योपासन जो गुरु सेवन और शौच कहे बाह्य अन्तर शुद्धि औ माष शुद्धसे अन्त,शुद्धि जानो और स्थैर्य्य कहे सत् मार्ग मे प्रवृत्ति औ उसी एक मे तत्परता तथा आत्मविनिग्रह कहे शरीर संयम ॥ ७ ॥ और इन्द्रियार्थ जो रूप आदि विषय तिनसे वैराग्य औ अनहङ्कारता तथा जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुख दोष इनको वार वार देखना चाहिये ॥ ८ ॥ और पुत्र दारा धन आदिमे आसक्ति कहे प्रीतित्याग और पुत्रादि मे सुख दुख देखि जो मै सुखी अथवा दुखी हूं ऐसा मानिलेना अभिष्वङ्ग है तिसका त्याग और इष्ट औ अनिष्ट दोनो की प्राप्तिमे सर्वदा समचित्त कहे चित्तकी एक रूपता अर्थात् सावधान चित्त रहना ॥ ९ ॥ और परमेश्वररूप मेरे मे अनन्य योग अर्थात् सर्वत्र आत्मदृष्टि से अव्यभिचारिणी एकान्त भक्ति और विविक्त कहे शुद्ध अथवा चित्त प्रसन्नकारी जो निर्जन देश वहां की वास औ संसारी व्यवहारी दुष्ट मनुष्यों की सभामे अरुचि ॥ १० ॥ और आत्मा को अधिकार करि के वर्त्तमान जो ज्ञान तिस मे नित्यभाव अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य के तत्पद औ त्वं पद के अर्थ पर विश्वास और तत्त्वज्ञान का फल जो मुक्ति तिसी को श्रेष्ठ रूप से आलोचन करना इस से अमानित्त्व अदंभित्त्व आदि जो वीस कहे गये सोई ज्ञान के साधन स्वरूप है यह वशिष्ठादिकोने कहा है और इन वीसो के विपरीत जो मान दम्भ हिंसा आदिवीस है तेई ज्ञानके विरोधी है औ अज्ञान के स्वरूप जानो इस से वे सदा वर्जनीय है ॥ ११ ॥ और इस सब साधन से जिस को जानना होता है तिस को छ श्लोक से कहते है कि जो जानने जोग है

यत्तत्प्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परंब्रह्मनसत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादंतत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं। सर्वतःश्रुतिमल्लोकेसर्वमावृत्यतिष्ठति ॥
१३॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासंसर्वेन्द्रियविवर्जितं। असक्तंसर्वभृच्चैवनिर्गुणंगुणभोक्तृच

भाषा अनुवाद

सोई मैंञ्‌ यह कहूंगा परन्तु श्रोतायोता के आदर सिद्ध होने के लिये वही ज्ञान का फल देखावते है कि मै जो ज्ञान की बात कहूंगा सो जानि के लोग मुक्ति पावते हैं और सो ज्ञेय पदार्थ क्या है इस पर कहते है कि वह अनादि औ पर कहे निरतिशय ब्रह्मरूप यही ज्ञेय ब्रह्म न सत् न असत् अर्थात् सत असत् शब्द से नही कहा जाता तात्पर्य यह कि सत कहे जो विधि मुख से प्रमाण का विषय औ असत् कहे जो निषेध का विषय सोई सत् असत् कहावता है यह तो ब्रह्म अविषय हेतु अर्थात् विषय न होनेसे उन दोनो से भिन्न ही है ॥१२॥ और जो ऐसा कहो कि ब्रह्म सत् असत् से भिन्न है तो यह चराचरात्मक ब्रह्माण्ड ब्रह्म है इत्यादि श्रुति से विरुद्ध होय है यह शङ्का करिके इस ब्रह्म की नाना प्रकार शक्ति औ ज्ञानक्रिया बलक्रिया आदि स्वभावसिद्ध नाना मतके द्वारा श्रुतियोसे कहा जाय है इस तरह ब्रह्मको सर्वात्मता दिखाय अब पाच श्लोकसे कहते है कि सर्वत्र हस्त पाद चक्षु मस्तक मुख जिस के है सो सर्वत्रही श्रवण इन्द्रीयसे युक्त होय सब लोक को व्याप्त हो के स्थित है अर्थात् यावत् प्राणीयोमे वर्तमान कर चरण आदि उपाधियोसे व्यवहार करै है ॥१३॥ और चक्षु आदि इन्द्रियों के गुणस्वरूप अर्थात् रूपादि विषय मे तिस तिस आकार से वही प्रकाशमान है अथवा इन्द्रिय और गुण कहे इन्द्रियो के विषय रूपादि समस्त मे सोई प्रकाश करता है इस से सर्व इन्द्री गुण आभास स्वरूप है और सम्पूर्ण इन्द्रीयो से रहित है सोई श्रुति कहती हैं कि सोई जो ब्रह्म सो हस्त रहित हो के भी ग्रहण करते औ पाद विना भी वेगवान तथा चक्षुहीन द्रष्टा औ कर्ण विहीन श्रोता और इन सकल विषय को वे जानते है पर उनको कोई भी नही जानता है वही परमात्मा को वेद सब आदि पुरुष औ पूर्ण तथा सर्वव्यापी कहते है और वे असक्त कहे सत्वादि गुण रहित औ गुण के भोक्ता अर्थात् सत्वादि गुण समूह के प्रतिपालक है यह भगवान अर्जुन

॥१४॥ बहिरन्तश्चभूतानामचरंचरमेवच । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयंदूरस्थंचान्तिकेच
तत् ॥ १५ ॥ अविभक्तञ्चभूतेषुविभक्तमिवचस्थितं । भूतभर्तृचतज्ज्ञेयंग्रसिष्णुप्रभ
विष्णुच ॥१६॥ ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । ज्ञानंज्ञेयंज्ञानगम्यं

भाषा अनुवाद

मे कहा ॥ १४ ॥ और जैसे सुवर्ण के कार्य कड़ा कङ्कन कुण्डल आदि आभूषणो मे सोना कारण रूप मे भीतर बाहर वर्तमान है और जैसे जल तरङ्ग मे भी जल छोड़ि और नहीं है तथा आकाश जैसे सकल वस्तु के बहिरन्तर वर्तमान है तैसे ही ब्रह्मके कार्य स्वरूप चराचर आदि भूत समूहसे अन्तर बाहिरभी सोई ब्रह्मही वर्तमान है क्यों कि तावत कार्य के कारण सोई है परन्तु ऐसे हो के भी रूपादि विहीन हेतु से यह इतने और ऐसे कर स्पष्टरूप जानबे योग्य नहीं है और यही ब्रह्म अज्ञानियों को लक्ष योजनके समान दूर है क्योंकि विकार सहित जो प्रकृति तिस मे पर है और ज्ञानियों को अपरोक्ष रूप से नित्य निकट है सूक्ष्मता के कारण अज्ञानियों को अविज्ञेय और वेदशास्त्र मार्ग से चलनेवाले ज्ञानियों को विज्ञेय है अर्थात् जानिबे योग्य है इस को भी आकाश के नाईं जानो ॥ १५ ॥ और इस अध्याय के बारहें श्लोक से कहा जो ज्ञेयपदवाच्य ब्रह्मभूताख्य जो स्थावर जङ्गम समूह मे अविभक्त अर्थात् कारण रूप से अभिन्न और कार्य रूप से समुद्र फेन के समान भिन्न वर्त्तमान है और समस्त भूतों के भर्त्ता अर्थात् स्थिति कालमे प्रतिपालक औ प्रलय मे संहारक तथा सृष्टि काल मे स्वयं आप नाना कार्यरूप से प्रगट होते हैं ॥ १६ ॥ और सो ब्रह्म जोति रूप जो सूर्य चन्द्र तारागण विद्युत औ अग्नि इन सब का जोति कहे प्रकाशक है जिस से ये सब प्रकाशमान है और ये सब जिस ब्रह्म को नहीं प्रकाश करि सकते हैं ऐसे ब्रह्म से यह समस्त जगत प्रकाशित है यह श्रुति कहती है इसी से तम जो अज्ञान तिस से पर है अर्थात् अज्ञान का लेश भी वहां नहीं है आदित्य वर्णंतमसः परस्तात् इस श्रुतिने कहा है और सोई ब्रह्म बुद्धिवृत्ति मे ज्ञान रूप प्रगट है और सोई रूपादि आकार रूप से ज्ञेय कहे जान योग्य है और ज्ञानगम्य अर्थात् पूर्वोक्त अमानित्व आदि लक्षण ज्ञान के साधनों से प्राप्य है क्यों कि प्राणी मात्र के हृदय मे नियन्ता रूप

हृदिसर्वस्यविष्ठितं ॥१७॥ इतिक्षेत्रंतथाज्ञानंज्ञेयञ्चोक्तंसमासतः । मद्भक्तएतद्वि ज्ञायमद्भावयोपपद्यते ॥१८॥ प्रकृतिंपुरुषञ्चैवविद्ध्यनादीउभावपि । विकारांश्च गुणांश्चैवविद्धिप्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥ कार्यकारणकर्तृत्वेहेतुःप्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानांभोक्तृत्वेहेतुरुच्यते ॥२०॥ पुरुषःप्रकृतिस्थोहिभुंक्तेप्रकृतिजान्गुणान् ।

भाषा अनुवाद

र्यामी चेतन रूप से स्थित है ॥ १७ ॥ अब अधिकारी औ फल सहित कहा जो क्षेत्रादि उस का तात्पर्य कहते है कि इस अध्याय के पंचये श्लोक से लेकर और सत्रहें तक ज्ञेय स्वरूप जो वशिष्ठादि ऋषियों ने विस्तारसे कहा है सो सब मैं ने संक्षेप से कहा सो मेरे भक्त यह जानि करि के ब्रह्मता की प्राप्ति होने के योग्य होते है अर्थात् मेरे भावको पावते है ॥ १८ ॥ क्षेत्र स्वरूप औ जो जड अदृश्य आदि है औ स्वभाव औ जैसा इच्छादि धर्मविशिष्ट सो सब पूर्व हीं विस्तार रूप से कह चुके अब पूर्व अङ्गीकृत यही क्षेत्र जैसे इन्द्रिय आदि विकार से युक्त और जैसे प्रकृति पुरुष संयोग से प्रगट होय है और जिस प्रकार स्थावर जङ्गम आदि भेद से भिन्न भिन्न स्वरूप होय है और सोई क्षेत्रज्ञ जो स्वरूप औ जैसे भावविशिष्ट है सो सब प्रकृति पुरुष को संसार हेतुत्व कहने के द्वारा पांच श्लोक से विस्तार रूप कहते है कि सोई प्रकृति औ पुरुष दोनो अनादि है जो इन का और कारण ढुंढोगे तो अनवस्था दोष पडेगा अर्थात् उसका कारण तिसका कारण ऐसे ठिकाना न लगैगा इससे सोई प्रकृति पुरुष को अनादि जानो तो ईश्वर की शक्ति प्रकृति भी अनादि है और ईश्वर का अंशभूत पुरुषभी अनादि है और देह इन्द्रिय आदि विकार तथा गुणरूप परिणामको प्राप्त जो सुख दुख मोह आदि सो सब प्रकृतिसे होते है यह जानो परमेश्वर औ तदीय कहे उनको शक्तियोंको अनादित्व भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य्य ने विस्तारसे कहा है इस से इहां ग्रन्थ बढने के डरसे मैने नहीं कहा देह इन्द्री सुख दुख सब प्रकृति ही के कार्य है ॥ १९ ॥ भगवान श्रीकृष्ण सकल विकारके प्रकृति से उत्पन्न है यह देखाय इस अब पुरुष को संसार होनेका हेतु इस श्लोकसे देखावते है कि कार्य जो शरीर और कारण जो सुख दुख के साधन स्वरूप कहे करनेवाली इन्द्री सब और इन्द्रीयों को कर्तृत्व

रणंगुणसङ्गोस्यसदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥ उपद्रष्टानुमन्ताचभर्त्ताभोक्तामहेश्वरः ।
परमात्मेतिचाप्युक्तोदेहेस्मिन्पुरुषःपरः ॥२२॥ यएवंवेत्तिपुरुषंप्रकृतिंञ्चगुणैःसह ।

भाषा अनुवाद

कहे तीन तीन रूप हो जाना इस सब को कारणभूत प्रकृति है यह कपिल आदि ऋषियोने कहा है और पुरुष जो जीव सो शरीर इन्द्रीय आदि ज्ञात सुख दुख सब का कारण स्वरूप कहा है तात्पर्य यह कि यद्यपि अचेतन प्रकृति आप मे कुछ नही कर सकती और विकारी पुरुष को भी भोक्तृत्व कहे भोग करना यह असभाव है तौभी कर्तृत्व शब्दका अर्थ यह है कि क्रिया करना अचेतन प्रकृतिको भी चैतन्यरूप जीव के अदृष्टवशते सम्भवै है जैसे अचेतन हो के भी अग्निज्वाला का ऊर्द्धगमन औ वायुका तिर्यक कहे तिर्च्छा गमन और वच्चोको जैसे दूध रक्षा करै है तैसेही पुरुषकी सान्निध्य कहे अवलम्बनसे प्रकृति को कर्तृत्व है और भोक्तृत्व जो सुख दुख का ज्ञान सो चेतन का धर्म है इस से प्रकृति सन्निधान कहे माया की निकटता को प्राप्त होय पुरुष को भी भोक्तृत्व कहा है ॥ २० ॥ जो कहो कि अविकारी औ जन्म रहित जो आत्मा तिस को भोक्तृत्व कहे भोगना कैसे सम्भव होय है कि जिस हेतु सोई पुरुष प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति का कार्य जो शरीर तिस मे तदात्मरूप होय वास करै है इस हेतु उस शरीर से प्रगट जो सुख दुख आदि तिन को भूल से भोग करै है जैसे मनुष्य कोइ वस्तु या द्रव्य पाय अपनी कर मानि लेय फेरि उसके जानेसे दुखी होय है कहो यहा दुख का कारण अभिमान छोड और क्या है और सत जो देव मनुष्य जोनि औ असत् जो पशु पक्षी आदि जोनि तिन मे जो इस पुरुष का जीव रूप जन्म है सो गुण कहे शुभ अशुभ कर्म्मकारी इन्द्रीगण तिन के सङ्ग से होय है सङ्ग ही ऊंची नीची देह धारण मे कारण रूप है यह जानो ॥ २१ ॥ उक्त रीति से प्रकृति जो माया तिस के अविवेक वशते जीव को अहं कर्त्ता अहं भोक्ता इत्यादि कल्पित माय संसार है पर विचार स्वरूप से तो इस जीव को संसार नही है इसी आशा पर अब पुरुष का स्वरूप कहते है कि इस प्रकृति का कार्य रूप जो शरीर तिस मे वर्तमान हो के भी जीव प्रकृति से भिन्न कहे प्रकृतिके गुणो से युक्त नही है उनसे अलग है क्योंकि ईश्वर

सर्वथावर्त्तमानोऽपिनसभूयोऽभिजायते ॥२३॥ ध्यानेनात्मनिपश्यन्तिकेचिदात्मान मात्मना। अन्येसांख्येनयोगेनकर्मयोगेनचापरे ॥२४॥ अन्येत्वेवमजानन्तःश्रुत्वा

भाषा अनुवाद

यह जीव उपद्रष्टा अर्थात् भिन्नरूपसे समीप मे रह कर देखनेवाला साक्षीमात्र है और अनुमन्ता अर्थात् समीप सम्बन्धसे अनुग्राहक कहे अनुमोदन कर्त्ता मान नेवाला है सोइ श्रुति कहती है कि एक स्वयं प्रकाशरूप जो परमात्मा सो भूत मात्रमे निगूढ भावसे स्थित है और सर्वव्यापी तावत् प्राणीका अन्तर्यामी है और सकलकर्मका नियन्ता औ भूतमात्रका अधिष्ठानरूप और द्रष्टा औ सौमस्त भूतोंका चैतन्यकारी औ अद्वितीय तथा गुणोंसे अतीत कहे अलगहै और यह पुरुष ईश्वर सम्बन्ध रूपसे भर्त्ता कहे पोषनकारी प्रतिपालक है और महेश्वर कहे ब्रह्मा दिकों का भी अधिपति अर्थात् स्वामी है सोई श्रुति है कि यह पुरुष सबका ईश्वर और सर्वभूतका अधिपति तथा भूतमात्रका प्रतिपालक है ॥ २२ ॥ ऐसी जो प्रकृति औ पुरुष तिनके विवेक के ज्ञानवान मनुष्यों की प्रशंसा करते है कि जो लोग ऐसे उपद्रष्टारूप पुरुषको जानते है तथा प्रकृतिको औ प्रकृतिके गुणरूप परिणामको प्राप्त कहे रूपान्तर को प्राप्त सुखदुख सहित को जानि सकै है वेइ मनुष्य संसार से रहते सम्पूर्ण विधिको उल्लंघन करके भी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते मुक्तही होते है यह जानो ॥२३॥ ऐसी जो प्रकृति तिस से भिन्न जो आत्मा तिसके ज्ञान होनेके विषयमे अनेक अनेक कल्पनारूप साधन दो श्लोकसे कहतेहै कि कोइ तो ध्यान कहे आत्माकाराकारित ज्ञानरूप धारावाहिक अन्तःकरण की वृत्तिसे इसी शरीरमे मनके द्वारा आत्माका दर्शन करतेहै और कोई सांख्य अर्थात् प्रकृति पुरुषका भेद आलोकनके द्वारा आत्माको देखते है कोइ यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिरूप अष्टाग योगके क्रमसे जानते है और कितने एक निष्काम कर्मरूप भक्तियोग अनुष्ठान करके शुद्ध सतोगुण होय तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते रहते है यद्यपि ध्यानादि यथा योग्य क्रम से एकही है तौ भी तीन२ निष्ठा के भेद से भिन्न नाना मत कहा है ॥२४॥ और अब अति मन्द अधिकारियों के निस्तार को उपाय कहते है कि सांख्ययोग

न्येऽश्रुत्वा उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥ यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरं। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥ समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरं। न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिं ॥२८॥ प्र

भाषा अनुवाद

आदि मार्ग से जैसे उपद्रष्टारूप आत्माको साक्षात्कार करने मे अर्थात् देखने मे जो अज्ञ है परन्तु और किसी आचार्य का उपदेश श्रवण करि के ध्यानमात्र करते है तेउ श्रद्धापूर्वक उपदेश श्रवण मे तत्पर होय क्रम से मृत्युयुक्त संसार से अवश्य मुक्त हो जाते है सोई अर्जुन तुम यह जानो ॥२५॥ अब तृतीय चतुर्थ पञ्चम अध्याय मे कर्मयोग विस्तार से कहा और छठयें अठयें अध्याय मे ध्यानयोग का विस्तार कहा और सांख्यके द्वारा भिन्न किया हुआ जो आत्मा सोई ध्यान आदिका विषय है इस हेतु सांख्य ही को अध्याय समाप्ति पर्यन्त विस्तार करि के भगवान् कहते है कि हे भरतर्षभ अर्जुन जो कुछ स्थावरजंगम आदि वस्तु उत्पन्न है सो सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनोके योगसे है अर्थात् अविवेककृत जो आत्माका अध्यास अर्थात् संयोग है तिस हेतुसे उत्पन्नमात्र है यह निश्चयकरि जानो॥२६॥ अविवेकसे संसार उत्पत्ति कहिकर अब संसारकी निवृत्तिके अर्थ प्रकृतिसे भिन्न स्वरूप जो आत्मा उसका शोभन दर्शन कहतेहै कि स्थावर जंगमात्मक सर्व भूतमे निर्विशेष कहेसमान सत् रूप सम भावसे स्थायी परमात्माकोजो मनुष्य देखतेहै और भूतोके विनाशमे आत्माको अविनाशीरूप जोदेखतेहै तेई शोभनरूप देखते है और कोई भीनही ॥२७॥ और उस शोभन दर्शन होनेका कारण क्या है इस पर कहते है कि सोई शोभन देखने वाला मनुष्य यावत् भूतमात्र मे सम्यक प्रकार से अचर स्वरूप अवस्थित परमात्मा का दर्शन करि के आप अपने को नष्ट नहीं कर्त्ता अर्थात् सच्चिदानन्द आत्मा स्वरूप को अविद्या अज्ञान से आवरण करि के नाश नहीं करता है तिस से श्रेष्ठगति मुक्तिरूप को प्राप्त होता है और जो इस पूर्वोक्तरूप से नही देखता है सो शरीर ही को आत्मा करिके देखनेवाला शरीरके सहित अपने को अवश्य ही नष्ट कर्त्ता है सोई श्रुति कहती है कि जो उक्त प्रकार से आत्महा होता है

कृत्यैवचकर्माणिक्रियमाणानिसर्वशः। यःपश्यतितथात्मानमकर्त्तारंसपश्यति ॥२९॥
यथाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति। अतएवचविस्तारंब्रह्मसम्पद्यतेतदा ॥ ३० ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपिकौन्तेयनकरोतिनलिप्यते

भाषा अनुवाद

सोई मरणके अनन्तर प्रकाश शून्य अन्धकार से आवृत जो स्थान ताहा को जाता है ॥२८॥ जो कहो कि शुभ अशुभ कर्म के कर्तृत्व हेतु से वैषम्य देख पडती है फेरि आत्माका समत्व कैसे है इस पर कहते हैं कि जो देह इन्द्रिय आकार मे रूपान्तर को प्राप्त प्रकृति के द्वारा नाना प्रकार क्रियमाण कर्म होते हैं जैसे जो मनुष्य देखै है और अपने को अकर्ता देखै है अर्थात् स्थूल शरीर मे अहं बुद्धि से आत्मा कर्ता होता है और स्वरूप से उसको कर्तृत्व नही है जैसे जो मनुष्य देखै है सो सम्यक देखै है सोई कहा है कि यःपश्यतिसपश्यति इति ॥२९॥ अब प्रकृति के सकल कार्यभूत औ तिन की कारण स्वरूप प्रकृति मात्र इस भेद के अभाव हेतुसे मनुष्य भूतगत भेदजनित आत्माका भेद नही देखै है ऐसे मनुष्योंको ब्रह्मभाव प्राप्ति कहते है कि जब स्थावर जङ्गम भूतका पृथक भाव कहे भेद को जैसे देखते है कि एक यही परमेश्वर को शक्तिरूप प्रकृति से सृष्टि स्थिति प्रलय काल मे भूतों की उत्पत्ति पालन नाश निरन्तर देखते है और तत्तत्काल मे प्रकृतिस्वरूप मात्र देखते भूतों के अभेददर्शी लोग परिपूर्ण स्वरूप ब्रह्म हों है ॥३०॥और जो कहो कि पूर्वोक्तरूप आत्माके भेदका अभाव होनेसेभी संसारावस्था मे देह सम्बन्ध से जो कर्म और उही कर्मोंका फलरूप जो सुखदुख आदि तिनके द्वारा वैषम्य भावतो नही दूरहो सकैहै इससे वैसे आत्माका सम्यक दर्शन कैसे संभव होय इस शङ्कापर कहते है कि जिसकी उतपत्ति होती उसका अवश्य आदि है और जो गुणयुक्त वस्तु है उसीको गुणके नाश होनेसे रूपान्तर प्राप्ति रूप विकार भी होता है किन्तु जिस हेतु यह जीव परमात्मा औ अनादि तथा निर्गुण हेतु से अव्यय अर्थात् अविकारी है इस से हे कौन्तेय शरीर में रहिके भी कोई कर्म नहीं कर्ता और कर्मफल मे भी लिप्त नही होता अर्थात् इसको कोई कर्म नही लगते है ॥ ३१ ॥ अब आत्माके कर्म न करने और कर्मफल मे लिप्त न

न्येभ्यउपासते। तेऽपिचातितरन्त्येवमृत्युंश्रुतिपरायणा. ॥२५॥ यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वंस्थावरजङ्गमं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धिभरतर्षभ॥२६॥ समंसर्वेषु भूतेषुतिष्ठन्तंपरमेश्वरं। विनश्यत्स्वविनश्यन्तंय पश्यतिसपश्यति॥२७॥ समंप श्यन्हिसर्वत्रसमवस्थितमीश्वरं। नहिनस्त्यात्मनात्मानंततोयातिपरांगति॥२८॥ प्र

भाषा अनुवाद

आदि मार्ग से ऐसे उपद्रष्टारूप आत्माको साक्षात्कार करने में अर्थात् देखने में जो अज्ञ है परन्तु और किसी आचार्य का उपदेश श्रवण करि के ध्यानमात्र करते हैं तेउ श्रद्धापूर्वक उपदेश श्रवण में तत्पर होय क्रम से मृत्युयुक्त संसार से अवश्य मुक्त हो जाते हैं सोई अर्जुन तुम यहजानो ॥२५॥ अब तृतीय चतुर्थ पञ्चम अध्याय में कर्मयोग विस्तार से कहा और छठये अठये अध्याय में ध्यानयोग का विस्तार कहा और साङ्ख्यके द्वारा भिन्न किया हुआ जो आत्मा सोई ध्यान आदिका विषय है इस हेतु साङ्ख्य ही को अध्याय समाप्ति पर्यन्त विस्तार करि के भगवान कहते हैं कि हे भरतर्षभ अर्जुन जो कुछ स्थावरजंगम आदि वस्तु उत्पन्न है सो सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनोंके योगसेहै अर्थात् अविवेककृत जो आत्माका अध्यास अर्थात् संयोगहै तिस हेतुसे उत्पन्नमात्रहै यह निश्चयकर जानो॥२६॥ अविवेकसे संसार उत्पत्ति कहिकर अब संसारकी निवृत्तिके अर्थ प्रकृतिसे भिन्न स्वरूप जो आत्मा उसका शोभन दर्शन कहतेहैं कि स्थावर जंगमात्मक सर्व भूतमें निर्विशेष कहेसमान सत् रूप सम भावसे स्थायी परमात्माकोजो मनुष्य देखतेहैं और भूतोंके विनाशमें आत्माको अविनाशीरूप जोदेखतेहैं तेई शोभनरूप देखते हैं और कोई भी नहीं॥२७॥ और उस शोभन दर्शन होनेका कारण क्या है इस पर कहते हैं कि सोई शोभन देखने वाला मनुष्य यावत् भूतमात्र में सम्यक प्रकार से अचर स्वरूप अवस्थित परमात्मा का दर्शन करि के आप अपने को नष्ट नहीं करता अर्थात् सच्चिदानन्द आत्मा स्वरूप को अविद्या अज्ञान से आवरण करि के नाश नहीं करता है तिस से श्रेष्ठगति मुक्तिरूप को प्राप्त होता है और जो इस पूर्वोक्तरूप से नहीं देखता है सो शरीर ही को आत्मा करिके देखनेवाला शरीरके सहित अपनेको अवश्य ही नष्ट करता है सोई श्रुति कहती है कि जो उक्त प्रकार से आत्महा होता है

कृत्यैवचकर्माणिक्रियमाणानिसर्वशः। यःपश्यतितथात्मानमकर्तारंसपश्यति ॥२९॥
यदाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति। अतएवचविस्तारंब्रह्मसम्पद्यतेतदा ॥ ३० ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपिकौन्तेयनकरोतिनलिप्यते

भाषा अनुवाद

सोई मरणके अनन्तर प्रकाश शून्य अन्धकार से आवृत जो स्थान तांहा को जाता है ॥२८॥ जो कहो कि शुभ अशुभ कर्म के कर्तृत्व हेतु से वैषम्य देख पड़ती है फेरि आत्माका समत्व कैसे है इस पर कहते हैं कि जो देह इन्द्रिय आकार मे रूपान्तर को प्राप्त प्रकृति के द्वारा नाना प्रकार क्रियमाण कर्म होते हैं जैसे जो मनुष्य देखै है और अपने को अकर्ता देखै है अर्थात् स्थूल शरीर मे अहं बुद्धि से आत्मा कर्ता होता है और स्वरूप से उसको कर्तृत्व नहीं है जैसे जो मनुष्य देखै है सो सम्यक देखै है सोई कहा है कि यःपश्यतिसपश्यति इति ॥२९॥ अब प्रकृति के सकल कार्यभूत औ तिन को कारण स्वरूप प्रकृति मात्र इस भेद के अभाव हेतुसे मनुष्य भूतगत भेदजनित आत्माका भेद नही देखै हैं ऐसे मनुष्योंको ब्रह्मभाव प्राप्ति कहते हैं कि जब स्थावर जङ्गम भूतका पृथक भाव कहे भेद को जैसे देखते है कि एक यही परमेश्वर को शक्तिरूप प्रकृति से सृष्टि स्थिति प्रलय काल मे भूतों की उत्पत्ति पालन नाश निरन्तर देखते हैं और तत्काल मे प्रकृतिस्वरूप मात्र देखते भूतों के अभेददर्शी लोग परिपूर्ण स्वरूप ब्रह्म हों है ॥३०॥और जो कहो कि पूर्वोक्तरूप आत्माके भेदका अभाव होनेसेभी संसारावस्था मे देह सम्बन्ध से जो कर्म और उन्ही कर्मोंका फलरूप जो सुखदुख आदि तिनके द्वारा वैषम्य भावतो नही दूरहो सकैहै इससे वैसे आत्माका सम्यक दर्शन कैसे संभव होय इस शङ्कापर कहते है कि जिसकी उत्पत्ति होती उसका अवश्य आदि है और जो गुणयुक्त वस्तु है उसीको गुणके नाश होनेसे रूपान्तर प्राप्ति रूप विकार भी होता हैं किन्तु जिस हेतु यह जीव परमात्मा औ अनादि तथा निर्गुण हेतु से अव्यय अर्थात् अविकारी है इस से हे कौन्तेय शरीर में रहिके भी कोई कर्म नहीं कर्ता और कर्मफल मे भी लिप्त नहीं होता अर्थात् इसको कोई कर्म नहीं लगते हैं ॥ ३१ ॥ अब आत्माके कर्म न करने और कर्मफल मे लिप्त न

॥३१॥ यथासर्वगतंसौक्ष्म्यादाकाशंनोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितोदेहेतथात्मानोपलि
प्यते ॥ ३२ ॥ यथाप्रकाशयत्येकःकृत्स्नंलोकमिमंरविः। क्षेत्रंक्षेत्रीतथाकृत्स्नंप्र
काशयतिभारत ॥३३॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरंज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षञ्च
येविदुर्यान्तितेपरम् ॥३४॥ इतिप्रकृतिपुरुषविवेकयोगोनामत्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

भाषा अनुवाद

होने मे दृष्टान्त देते हुये ऐसा कहते हैं कि जैसे सूक्ष्मता के हेतुसे सर्व गत आकाश पङ्क आदिमे रहते भी असंग हेतुसे पङ्क आदि उसको नहीं लगते अर्थात् पङ्क से वह लिप्त नहीं होता है तैसे ही यावत उत्तम मध्यम औ अधम शरीरों मे रहिके भी आत्मालिप्त नहीं होता है अर्थात् शरीरसंबंधी पुण्य पाप आदिसे युक्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥ असंग हेतु से परमात्मा की निर्लेपता आकाशके दृष्टान्त से दिखाया अब प्रकाशक होके भी जो प्रकाश्य वस्तुवोंके धर्म से आत्मा युक्त नहीं है यह सूर्यके दृष्टान्तसे कहते हैं कि हे भारत अर्जुन एक यही सूर्य जैसे समस्त लोकको प्रकाश करते हैं परन्तु प्रकाश्य वस्तुके गुणदोषसे लिप्त नहीं होते ऐसे ही क्षेत्री जो आत्मा सो क्षेत्र कहे शरीर आदि सबको प्रकाश करते भी देहादि के गुण दोष से लिप्त नहीं होता है यह तुम हमारी बात सत्य करके मानो हे भारत अर्जुन ॥३३॥ अब अध्यायके अर्थ का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार से उक्त जो क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ तिन दोनो का भेद जो मनुष्य विवेकज्ञानरूप चक्षु के द्वारा देखते हैं और यही पूर्व कही हुई जो प्रकृति तिससे मोक्ष अर्थात् मुक्तिका उपायरूप ध्यान धारण आदि जो जानते हैं तेई पुरुष परमपद को जाते हैं ॥ ३४ ॥ इति श्रीजगन्नाथ सुकुल विरचित मनभावनी टीकायां त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्दश अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। परंभूयःप्रवक्ष्यामिज्ञानिनांज्ञानमुत्तमं। यद्ज्ञात्वामुनयःस र्वेपरांसिद्धिमितोगताः ॥१॥ इदंज्ञानमुपाश्रित्यममसाधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि

भाषा अनुवाद

तेरहें अध्याय के छबीसवें श्लोक मे जो कहा कि प्रकृति औ पुरुष के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है ऐसो निरीश्वरवादी सांख्य मत के अवलम्बियों की निश्चय के अनुसार संसार को स्वाधीनता नही है किन्तु ईश्वर की इच्छा के क्रम ही से सो होय है यह कहते हुये भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति पुरुष की स्वाधीनता के निवारणपूर्वक सत्त्व आदि गुणोके संग से संसार की विचित्रता होती है और तेरहे अध्याय के एकइयये श्लोक मे कहा जो सत्त्वादि गुण से संसार की चितता सो अब चौदहें अध्यायमे विस्तारसे भगवान कहते है और जो अब कहैगे उसकी प्रशंसा दो श्लोक से कहते है कि परम जो परमार्थ निष्ठ जिसके द्वारा जाना जाय ऐसा जो ज्ञान उपदेश सो फेरि तुमसे कहूंगा सो ज्ञान किस प्रकार का है इस अपेक्षा पर कहते है कि यह ज्ञान मोक्ष का हेतु है इससे तप औ कर्म आदि विषयक सकल ज्ञानों के बीच यह उत्तम है जिस को जानि के मुनिलोग स्थूल सूक्ष्म शरीर बन्धनसे छूटि श्रेष्ठ सिद्धिरूप मुक्ति को प्राप्त भये है इससे ज्ञानीयों का यह उत्तम ज्ञान है यहतुम जानो ॥१॥और यही ज्ञानअर्थात् ज्ञान का साधन जो अब तुम से कहूंगा तिस का अनुष्ठान करिके कहे आश्रय ले के सारूप्य मुक्ति को प्राप्त सकल मुनिजन सर्ग कहे ब्रह्मादिक की उत्पत्ति होने से भी उत्पन्न नही होते है और प्रलय काल मे भी प्रलय के दुख को नही भोगते है अर्थात् पुनरा

नोपजायन्तेप्रलयेनव्यथन्तिच ॥२॥ ममयोनिर्महद्ब्रह्मतस्मिन्गर्भंदधाम्यहं। सम्भ
वःसर्वभूतानांततोभवतिभारत ॥३॥ सर्वयोनिषुकौन्तेयमूर्तयःसम्भवन्तियाः। ता
सांब्रह्ममहद्योनिरहंबीजप्रदःपिता ॥४॥ सत्त्वंरजस्तमइतिगुणा प्रकृतिसम्भवाः।

भाषा अनुवाद

गमन से रहित हो जाते है ॥ २ ॥ उसी ज्ञानसाधन की प्रशंसा करि कै श्रोता अर्जुन को श्रवण की अभिलाष बढाय परमेश्वर के आधीन जो प्रकृति औ पुरुष ये दोनो सकल भूतमात्र की उत्पत्ति के कारण हैं परन्तु स्वाधीन प्रकृति पुरुष को कारणत्व नही है यही तात्पर्य अब कहते है कि प्रकृति देश औ काल से अपरिच्छिन्न अर्थात् सबसे भिन्न महत कहे अनन्त समस्त कार्य की हेतुरूप ब्रह्म है सो यही महत ब्रह्म नाम जो प्रकृति सो परमेश्वर स्वरूप हमारी जोनि है अर्थात् गर्भधारण का स्थान है सो इसी प्रकृति मे मैं गर्भ कहे जगत के विस्तार का हेतु चिदाभास कहे चेतन अंश बीजरूप को स्थापन करता हूं और प्रलयकाल मे हमारे ही मे लीन होय है और अविद्या से उत्पन्न जो काम्यकर्म तिनके संस्कार से युक्त क्षेत्रज्ञ आत्मा को सृष्टिकाल मे भोग्य जो क्षेत्र कहे नाना प्रकार देह तिन मे सम्यक प्रकार से योग करता हूं और वही गर्भ आधानसे ब्रह्मा आदि समस्त भूतकी उत्पत्ति होती है हे भरत अर्जुन तुमश्रवण करो ॥३॥केवल सृष्टिकाल ही मे प्रकृति पुरुषके द्वारा भूतो का जन्म होता है ऐसा न जानो परन्तु सदा सर्वदा प्रकृति पुरुष से प्रगट होते रहते यही कहते है कि हे कौन्तेय अर्जुन जितने मनुष्य आ योनि स्थावर जङ्गम रूप स्वरूप उत्पन्न होते हैं उन को निरन्तर बढावनेवाली प्रकृतिही योनि है अर्थात् माता है और बीज प्रदाता पितारूप गर्भाधान कर्त्ता पुरुषस्वरूप मै ही हौं ॥ ४ ॥ परमेश्वराधीन प्रकृति पुरुषके द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति निरूपण करि कै अब प्रकृति के संयोग से पुरुष की संसार अवस्था इस श्लोक से ले कर चारि श्लोक पर्य्यन्त क्रम से विस्तार करि कहते है कि हे महाबाहो अर्जुन सत्त्व रज औ तम ये तीन गुणो की समान अवस्था रखनेवाली जो प्रकृति तिस से जिस की उत्पत्ति है उस मे गुणो के धर्म आव होंगे देखो प्रकृति से गुणो के अनुसार भिन्नभिन्न प्रगट होय प्रकृति के

निवघ्नन्तिमहावाहोदेहेदेहिनमव्ययं ॥५॥ तत्रसत्त्वंनिर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयं ।
सुखसंगेनवध्नातिज्ञानसंगेनचानघ ॥ ६ ॥ रजोरागात्मकंविद्धितृष्णासंगसमुद्भवं ।
तन्निवध्नातिकौन्तेयकर्मसंगेनदेहिनं ॥७॥ तमस्त्वज्ञानजंविद्धिमोहनंसर्वदेहिनां ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निवध्नातिभारत ॥८॥ सत्त्वंसुखेसञ्जयतिरजःकर्मणिभारत ।

भाषा अनुवाद

कार्यरूप शरीर मे अहंबुद्धि युक्त स्थित देही स्वरूप चिदंश आत्मा जो सचमुच अव्यय निर्विकार रूप है उसको भी गुण अच्छीतरह वद्ध करते है अर्थात् अपने कार्य सुख दुख मोह आदि से युक्त कर देते है ॥५॥ तिन गुणों के वीच मे सतो गुण का स्वरूप और उसके वन्धकत्व की प्रकार कहते है कि सतोगुण निर्मलता के हेतु से स्फटिक के समान प्रकाशक कहे दीप्तियुक्त और अनामय अर्थात् निरु पद्रव शान्त स्वरूप है इसीसे हे अनघनिष्पाप अर्जुन शान्त स्वरूप सतोगुण अपने कार्यरूप सुख मे जो आशक्ति के द्वारा वन्ध करता है और प्रकाशक है इस हेतु से अपने कार्यरूप ज्ञान मे जो आशक्ति उस मे भी वद्ध करता है अर्थात् हम सुखी हम ज्ञानी इत्यादि मन के सकल कर्म को तिस अभिमानी क्षेत्रज्ञरूप आत्मा मे सम्पूर्णरूप से योग कर देता है अनघ पद से जानाया कि गीता का अधिकारी पुण्यात्मा है ॥६॥ अव रजोगुण का स्वरूप और वन्धकत्व कहते है कि हे कौन्तेय अर्जुन रजोगुण को रागात्मक कहे अनुराग स्वरूप जानो इससे तृष्णा जो अप्राप्त वस्तु मे अभिलाष औ संग कहे प्राप्त विषय मे जो सम्पूर्ण आशक्ति इन दोनो का रजोगुण से उद्भव होता है सोई रजोगुण देही जीवको दृष्ट औ अदृष्ट अर्थ कर्मों की आशक्ति मे निश्चय वन्ध करते है क्योंकि तृष्णा औ संग के द्वारा समस्त कर्म मे आशक्ति होती है ॥ ७ ॥ अव तमोगुण का स्वरूप और वन्धकत्व कहते है कि तमोगुण अज्ञान से प्रगट है अर्थात् आवरण शक्ति प्रधान प्रकृति के अंश से प्रगट जानो इस से हे भारत अर्जुन यावत जीव का मोहकारी अर्थात् भ्रम उत्पन्न करै है तो क्यौन यह तमोगुण प्रमाद आलस्य औ निद्रा आदि दोष जीव को करेगा ॥८॥ सत्व आदि तीनो गुणों के स्वकार्य करने मे सामर्थ्य को आधिक्य कहते है कि हे भारत अर्जुन सतोगुण सुखमे युक्त करता है अर्थात् यद्यपि विषयसुख ईर्षा

ज्ञानमावृत्यतुतम प्रमादेसञ्जयत्युत ॥९॥ रजस्तमश्चाभिभूयसत्त्वंभवतिभारत।
रज.सत्त्वंतमश्चैवतम.सत्त्वंरजस्तथा ॥१०॥ सर्वद्वारेषुदेहेऽस्मिन्प्रकाशउपजायते।
ज्ञानंयदातदाविद्याद्विवृद्धंसत्त्वमित्युत ॥११॥ लोभप्रवृत्तिरारम्भ:कर्मणामशम:स्पृ

भाषा अनुवाद

अदृष्टया जोग से प्रगट सुख दुख शोक आदि का कारण स्वरूप है तौ भी जीव को सुख ही की ओर उन्मुख करता है और रजोगुण सुख आदिका कारण होके भी सर्व कर्मों मे युक्तकरता है ओर तमोगुण महात्मों के संग से उत्पन्नज्ञान को आवरण करि के असावधान कर देय है अर्थात् महात्मों के उत्तम उपदेश को नहीं समझने देय है और आलस्य आदि से अच्छीतरह युक्त कर देता है ॥९॥ अब सत्वादि तीनो गुणों के प्रवृत्त होने की रीति कहते हैं कि रजोगुण तमोगुण को तिरस्कार कहे पराभव करिके सतोगुण प्रगट होय है अर्थात् जीव के अदृष्टवशते सत्व जन्मै है और अपने कार्य सुख आदि मे जीव को युक्त करै है ऐसे ही सत्त्व औ तमोगुण का पराभव करि रजोगुण जन्मै है और अपने कार्य तृष्णा आदि मे युक्त करता है तैसे ही सत्त्व रज को पराभव करि के तमोगुण प्रगट होय है और अपने कार्य प्रमाद आलस्य मे युक्त करि देता है ॥१०॥ अब विशेष से वढे हुये सत्त्व आदि तीनो गुण के लक्षण कहे चिह्न तीन श्लोक से कहते हैं कि इस भोगायतन कहे भोग भाजन शरीर मे श्रोत्र आदि समस्त द्वारा मे जिस समय शब्द आदि ज्ञान स्वरूप उत्पन्न होता है उस समय प्रकाशरूप चिह्न के द्वारा सतोगुण को विशेष वढाहुआ जानो और सुखआदि चिह्नसे भी सत्त्वकी वृद्धि जानो तात्पर्य यह कि इन्द्रियोके द्वारा जो ज्ञान होता सो सतोगुण ही से होय है ॥११॥ और हे भरतर्षभ अर्जुन लोभ कहे वहुत धन रहते और पैदा होते भी धन को वार वार वृद्धिकरने की लापलाप अभिलाप और प्रवृत्ति कहे सदा ही व्यापार मे मन दिये रहना और आरम्भ अर्थात कर्मो का आरम्भ घर वगीचा आभूपणादि वनाने मे उद्यम और अशम कहे मै यह कर्म करि के फेरि वह कर्म करूंगा यह जो नानासङ्कल्पसे मनका असन्तोष और स्पृहा कहेउत्तमअधम वस्तुदेखने हीं से जिस तरहहोय लेनेकीइच्छा ये सव चिह्नरजोगुण के वढनेसे होते हैं अर्थात् इन

हा । रजस्येतानिजायन्तेविवृद्धेभरतर्षभ ॥१२॥ अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्चप्रमादोमोह
एवच । तमस्येतानिजायन्तेविवृद्धेकुरुनन्दन ॥१३॥ यदासत्त्वेप्रवृद्धेतुप्रलयंयातिदेह
भृत् । तदोत्तमविदांलोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥ रजसिप्रलयंगत्वाकर्मसङ्गिषु
जायते । तथाप्रलीनस्तमसिमूढयोनिषुजायते ॥१५॥ कर्मणःसुकृतस्याहुःसात्त्वि
कंनिर्मलंफलं । रजसस्तुफलंदुःखमज्ञानंतमसःफलं ॥१६॥ सत्त्वात्संजायतेज्ञानं
रजसोलोभएवच । प्रमादमोहौतमसोभवतोऽज्ञानमेवच ॥ १७॥ ऊर्द्ध्वंगच्छन्तिस

भाषा अनुवाद

लक्षणो से रजो गुण की वृद्धि जानो हे अर्जुन यह श्रीकृष्ण ने कहा ॥१२॥ और अप्रकाश कहे विचारका नाश और अप्रवृत्ति कहे निरुद्यम और प्रमाद कहे हर काम हर बात मे बेखबर और मोह कहे मिथ्या अभिनिवेश अर्थात् दुचितई या झूठे कारखाने मे मन देना ये सब चिह्न तमोगुणसे होते है औ इनि लक्षणों से तुम तमोगुण की वृद्धि जानो ॥१३॥ अब मरणकालमे विशेषसेवर्द्धमान सत्त्व आदि गुणो का फल विशेषरूप दो श्लोकमे कहते है कि जो सतोगुण की वृद्धिके समय मे देहधारी जीवशरीरको छोड़ैतो हिरण्यगर्भ आदिकी उपासना करनेवाले मनुष्यों के प्रकाशमय सुख उपभोग करनेके जो स्थानहै उन स्थान विशेषों को प्राप्त होय है ॥ १४॥ और रजोगुण की वृद्धि के समय मे मृत्यु प्राप्त होने से कर्म मे आसक्त मनुष्य लोक मे जन्म होता है और तमोगण के वृद्धि काल मे देह छूटने से पशु पक्षी आदि मूढ जोनि मे जन्म पावै है ॥ १५ ॥ अब सत्त्व आदि गुणमय के अनु रूप कर्मो के द्वारा विचित्र फल प्राप्ति मे गुणों को हेतु कहते है कि कपिल आदि ऋषि सुकृत कहे सात्त्विक कर्म का फल सत्त्वप्रधान प्रकाशमय सुखफल कहते हैं और राजस कर्म का फल दुख कहते है और तामस कर्म का फल अज्ञान अर्थात् मूढता को कहते है किन्तु सात्त्विकादि कर्मका स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण अठारहें अध्याय के तेईसश्लोक आदिमेंजेतर कहेगे ॥१६॥ अब पूर्वोक्त सत्वादि गुणकेफल स्वरूप सुख आदि का हेतु कहते है कि सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है इस से सात्विक कर्मका प्रकाश जो सुख सोई होता है औ रजोगुण से लोभ जन्मै है इस से लोभ पूर्वक सर्वकर्म का दुख ही फल होता है औ तमोगुण से प्रमाद मोह

त्वा गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
१९॥ गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृत
मश्नुते॥२०॥ अर्जुन उवाच। कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो। किमा

भाषा अनुवाद

तथा अज्ञान प्रगटै है इससे अज्ञान जड़ता यही फल होना उचित है॥१७॥ अब सतोगुण आदि आचरणशीलों के फल भेद कहते हैं कि सत्त्वस्थ कहे सतोगुण प्रधान पुरुषों को जो लोक प्राप्त होते अर्थात् सत्त्व के प्रताप से पुण्य की आधिक्य होती है उत्तरोत्तर कहे आगे आगे सौगुनी आनन्द स्वरूप होते हुये मनुष्य लोक गन्धर्वलोक पितृलोक देवलोक सत्यलोक पर्यन्त प्राप्त होते हैं और रजोगुण प्रधान मनुष्य लोभग्रस्त मध्यलोक में रहे हैं अर्थात् मनुष्यलोक में जन्मै हैं और जघन्य कहे निकृष्ट जो तमोगुणी मनुष्य जो प्रमाद मोह से भरे पूरे हैं उनकी अधोगति ही होती है अर्थात् तमोगुण उनको क्रम करके अन्धतम नरक में पहुंचाय देता है॥१८॥ पूर्वोक्त प्रकार प्रकृति के गुण संग से संसार की नानात्व कहे बहुताई कहिके अब प्रकृति से पुरुष का विवेक करने ही से मोक्ष होती है यह देखावते हैं कि जिस काल में द्रष्टा जीव विवेकी होके बुद्धि आदि रूप को प्राप्त होय सत्त्व आदि गुणों को छोड़ दूसरे किसी को कर्त्ता नहीं देखता बल्कि गुण ही सब कर्म करते हैं यही देखता है और सत्त्व आदि गुणों से पर कहे भिन्न स्वरूप सोई गुणादि को साक्षी आप अपने को जब जाने तब सो जीव मद्भाव को प्राप्त होय अर्थात् ब्रह्मपद पावै॥१९॥ तिस के अनन्तर सत्त्व आदि गुण कृत सम्पूर्ण अनर्थ निवृत्त होने ही से जो कृतार्थ होता है कहते हैं कि सम्यक् प्रकार से जिसका देहादि रूप से उद्भव अर्थात् देह रूप परिणाम को प्राप्त है सोई देह समुद्भव कहावै है इस से देही जो जीवात्मा सो देह रूप परिणाम को प्राप्त ये सत्त्वादि तीन गुणों के अतिक्रमण करनेसे पर है अर्थात गुणकृत जन्म मरण जरा व्याधि दुःख आदि से अच्छी प्रकार मुक्त होय अमृत जो परम आनन्द सो लाभ करता है॥२०॥ जीव यह गुण त्रय से अतिक्रान्त कहे अलग होने से मुक्ति पावता है यह भगवान

चारःकथंचैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥ श्रीभगवानुवाच । प्रकाशञ्चप्रवृत्तिञ्च
मोहमेवचपाण्डव । नद्वेष्टिसंप्रवृत्तानिननिवृत्तानिकांक्षति ॥२२॥ उदासीनवदा

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण के मुख से श्रवण करिके गुणातीत मनुष्य के लक्षण और उन मनुष्यों का आचरण औ गुणों के अतिक्रम को उपाय सम्यक प्रकार से जानने की इच्छा करिके अर्जुन भगवान से कहते हैं कि हे प्रभो देही जो जीव सो किस प्रकार आपसे उत्पन्न लक्षण के द्वारा गुणातीत होय यह लक्षण पूछा और किमाचार कहे उसके आचरण कैसे होते अर्थात् किस प्रकार के व्यवहार में वर्त्तमान रहता है और किस उपाय से इन गुणों को अतिक्रमण करिके स्थिर होय है सो सब कृपा करि कहिके जो मेरो सन्देह दूर जाय ॥२१॥ स्थित प्रज्ञस्य का भाषा यह दूसरे अध्यायके चौबिस पचीस श्लोक आदि से यही बात अर्जुन ने पूछा भी था और उसका उत्तर भी भगवान दे चुके हैं तो भी फेरि विशेष रूप से जान ने की इच्छासे अर्जुन पूछते हैं यह विचार करि के भगवान दूसरे प्रकार से उनका लक्षण आदि इस श्लोकसे लेकर छः श्लोकसे कहते हैं और उनके बीच इस एक श्लोक के द्वारा उनके लक्षण जनावते हैं कि सत्व आदि गुणों को उपलक्ष्य करि कै कहा जो प्रकाश अर्थात् सर्व द्वारेषु देहेस्मिन् यह इस अध्याय के एका दश श्लोक से कहा जो सतोगुण का कार्य और प्रवृत्ति जो रजोगुण का कार्य तथा मोहादि जो तमो गुण का कार्य ये समस्त कार्य यथाक्रम से आप मे प्रवृत्त होनेपर दुख विचारकरि के जो पुरुष द्वेष हेतु से औ निवृत्ति होने से सुख जानि इच्छा न करै सोई गुणातीत मनुष्य है यह जानो ॥ २२ ॥ उक्त रूप अनायास बोधसे गम्य जो गुणातीत के लक्षण सो कहि कर गुणातीत का आचरण कैसा है इस दूसरे प्रश्न का उत्तर तीन श्लोक से कहते हैं कि उदासीन् के समान साक्षी रूप स्थित होके सत्व आदि गुण के कार्य सुख दुख आदि से जो मनुष्य अवि चलित है अर्थात् अपने द्रष्टा स्वरूप से च्युत न होय के वजु सत्वादि गुण अपने अपने काम मे वर्त्तमान है इन से हम में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे विवेक ज्ञानसे जो पुरुष चुपचाप मौन होय स्थित रहे और इस बातसे विचलित न होय

सीनोगुणैर्योनविचाल्यते। गुणावर्त्तन्तइत्येवंयोऽवतिष्ठतिनेङ्गते ॥२३॥ समदुःखसु
खःस्वस्थःसमलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागीगुणातीतःसउच्य
ते॥ २५॥ माञ्चयोऽव्यभिचारेणभक्तियोगेनसेवते। सगुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्म
भूयायकल्पते॥२६॥ ब्रह्मणोहिप्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यच। शाश्वतस्यचधर्मस्य
सुखस्यैकान्तिकस्यच॥२७॥ इति गुणत्रयविभागयोगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

भाषा अनुवाद

सो गुणातीत है॥ २३॥ और जो मनुष्य सुख दुख मे समान और माटी पाथर सोना आदि भी जिस के निकट समान हैं और सुख दुख के हेतु स्वरूप प्रिय अप्रिय विषय मे जिस की बुद्धि तुल्य है और धीर धीमान जो हैं तथा अपनी स्तुति औ निन्दा मे भी तुल्य बुद्धि हैं॥ २४॥ और जो मनुष्य मान अपमान मे एकभाव और मित्र शत्रु पक्ष मे समबुद्धि तथा जो दृष्ट अदृष्ट संपूर्ण अर्थके उद्यमको त्याग करने मे समर्थ है ऐसे आचरण से युक्त पुरुषको गुणातीत कहते हैं यह जानो॥ २५॥ किस प्रकार सत्वादि गुणों को अतिक्रम करिके वर्तमान रहैं इस प्रश्न का उत्तर करते हैं कि परमेश्वर स्वरूप हमारी जो सेवा अव्यभिचारिणी ऐकान्तिक भक्ति के द्वारा जो मनुष्य करता है सोई मनुष्य गुण त्रय को अच्छीतरह से अतिक्रम करिके मुक्ति प्राप्ति के योग्य होता है॥ २६॥ अब पूर्वोक्त भगवद्भक्त के मोक्ष प्राप्ति के विषय मे हेतु कहते हैं कि जिस हेतु ब्रह्म की प्रतिष्ठा जो प्रतिमा सो मै हूं अर्थात् घनीभूत प्रकाश मात्र जैसे सूर्य मण्डल तद्रूप हम घनीभूत ब्रह्म हैं और नित्यमुक्त अव्यय के और अमृत जो मुक्ति तिस के भी प्रतिमा हम हैं और शुद्ध सत्व मुक्ति के साधन स्वरूप सनातन धर्म के भी प्रतिमा मूर्त्ति हम हैं और परमानन्द सुख के भी मूर्त्ति हमै जानो इस से मेरे सेवक जनको मद्भाव रूप ब्रह्मत्व प्राप्ति की अवश्य सम्भावना है जिस के आश्रय हेतु से असत जो सत के समान प्रतीयमान यह संसार तिससे हमारे भक्त अनायास ही तर जाते हैं यही चौदहें अध्याय मे भगवानने कहा है॥२७॥ इति श्रीजगन्नाथ सुकुल विरचित मनभावनी टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चदश अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थंप्राहुरव्ययं । छन्दांसियस्यपर्णानि

भाषा अनुवाद

वैराग्यके विना ज्ञान औ भक्ति दुर्लभ है इस लिये पंद्रहें अध्याय मे भगवान श्रीकृष्ण वैराग्य सहित ज्ञान का उपदेश अर्जुन को दिया है और पूर्व चौदहें अध्याय के अन्तमे जो कहा कि मांच योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते इत्यादि छब्बिसयें श्लोकादि से कि एकान्त भक्ति से परमेश्वरका भजनकारी मनुष्य भगवत की कृपासे ज्ञान लाभके द्वारा मुक्त होता है सो विराग रहित पुरुष को एकांत भक्ति अथवा ज्ञान होता ही नही इसी हेतु से वैराग्य कथन पूर्वक ज्ञान उपदेश करनेके मनोरथ से प्रथम डेढ श्लोक करिके संसारस्वरूपको वृक्षरूप रूपक अलङ्कार से वर्णन करते हुये भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ऊर्धमूल कहे उत्तम अर्थात् क्षर अक्षर से भी उत्कृष्ट जो पुरुषोत्तम परमेश्वर सो संसार के मूल कारण है इसी से संसार ऊर्धमूल है और अध.शाख कहे परमेश्वर की अपेक्षा अधः अर्थात् कार्यरूप उपाधि युक्त हिरण्यगर्भ आदि जो संसार की शाखा स्वरूप है सोई संसार को अधःशाख कहा है और यह संसार विनश्वर हेतुसे परदिन प्रभात लौं रहैगा ऐसो विश्वास के योग्य नहीं है इसी से अश्वत्थ कहा और अठयें अध्यायके उनीसवें श्लोककी उक्त अभिप्राय से यह संसार प्रलय के अनन्तर पुन. पुनः कहे वार वार उत्पन्न होता है तो होना जाना इस हेर फेर लगे रहने से धरावाहिक वृत्तिरूप इस संसारका विच्छेद नहीं है अर्थात् सदाही बना रहता है इससे अव्यय औ अनादि भी है और ऐसे ही श्रुतियो मे भी कहा

यस्तंवेदसवेदवित्॥१॥ अधश्चोर्द्ध्वंप्रसृतास्तस्यशाखागुणप्रवृद्धाविषयप्रवालाः । अध

भाषा अनुवाद

है और छन्द कहे वेद सकल इस संसार वृक्षके पत्र है अर्थात् धर्म अधर्मका प्रतिपादन करतेसे छायाके तुल्य है और कर्मफलके हेतु संसार वृक्षके आश्रित जीव समूह है यह कहते ऊर्ध्वे वेद पत्र समान है जो मनुष्य ऐसे करके संसार अश्वत्थरूप को जानते है सोई वेदके अर्थवित् है तात्पर्य यह कि प्रपंचरूप संसार वृक्ष के मूल परमेश्वर और परमेश्वर के अंश स्वरूप जो ब्रह्मादिक सो सब शाखा समान है सोई वृक्ष विनश्वर औ प्रवाहरूपसे नित्य भी है और वेद बिहित कर्मोंके द्वारा संसार वृक्षकी सेवा करना भी कहा है इतनाही वेदों का निश्चित अर्थ है इससे इस वृक्षके ज्ञानीपुरुष को वेदवित् कहनाचाहिये ॥१॥ और कार्यरूप उपाधि विशिष्ट हिरण्यगर्भ आदि जो सकल जीव सोइ शाखारूप पूर्व श्लोक मे कहा है तिन के मध्यमे जो अकर्म कारी अर्थात् कुत्सित कर्म करते है तेइ अधः अर्थात् पशुआदि योनिमे जाते है और जो सत् कर्म करते है वे ऊर्ध्व कहे देव योनि मे प्राप्त होय है येई संसार वृक्षके शाखा रूप सत्व आदि गुणों की वृत्तिसे जल सेचन के समान यथा योग बढते है और शाखाके अग्रतुल्य इन्द्रिय औ इन्द्रियों के विषय जो रूप रस आदि सोई प्रधान अर्थात् पत्र तुल्य हैं और अधोभाग मे ऊर्ध्व भागमे औ समस्त मूलमे परमेश्वर ही मुख्यमूल है और तद्भोगवासनारूप अवान्तर वासना सब अवान्तर मूल हैं और अवान्तर वासना के कार्य कहते है कि कर्म मात्र ही सकल वासना के अनुबन्ध अर्थात् उत्तर भावी कहे होन हार सोइ वासना समस्त मनुष्य लोक मे कर्म अनुबन्धी होती है अर्थात् ऊर्द्ध अधो लोकमे भुक्त जो नाना प्रकार के भोग सोइ सोई भोग वासनाके द्वारा ही कर्म क्षय होनेसे मनुष्य लोक को प्राप्त लोगो को सोइ सोइ वासना अनुरूप सकल कर्मोंमे प्रवृत्ति होती है और जिस हेतु मनुष्य लोक ही मे कर्म का अधिकार है और कोइ लोक मे नहीं है इससे मनुष्य लोक ही मे वासनारूप मूल को कर्मका अनुबन्धी कहाहै अब शोच यह है कि क्षणभङ्ग सकल साधन मनुष्य देह पायके न छेद कर सके इन मूलको भी भूलगये हाय किसीको

अमूलान्यनुसन्ततानिकर्मानुबन्धीनिमनुष्यलोके ॥ २ ॥ नरूपमस्येहतथोपलभ्यतेना
न्तोनचादिर्नचसंप्रतिष्ठा । अश्वत्थमेनंसुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेणदृढेनछित्त्वा ॥ ३ ॥
ततःपदंतत्परिमार्गितव्यंयस्मिन्गतानिवर्त्तन्तिभूयः । तमेवचाद्यंपुरुषंप्रपद्येयतः
प्रवृत्तिःप्रसृतापुराणी ॥ ४ ॥ निर्मानमोहाजितसङ्गदोषाअध्यात्मनित्याविनिवृत्तका
माः । द्वंद्वैर्विमुक्ताःसुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाःपदमव्ययंतत् ॥ ५ ॥ न तद्भासयते

भाषा अनुवाद

देखके या किसीके उपदेशमे आख अन्धे और कान वहिरे ही रह गये ॥ २ ॥
इस संसार मे वर्त्तमान जो प्राणी है वे संसार वृक्षका ऊर्द्धमूल आदि भेद
नहीं जानते है और अत्यन्त वडेपनके हेतु से इसका अन्तभी नहीं जाना जाय
है तथा अनादि हेतुसे आदि भी नहीं कोई जानि सकै है और स्थिति अर्थात्
यह संसार किस तरह स्थित औ कैसा है सो भी खवर किसी को नही है
इससे यह संसार वृक्ष दुश्छेद्य कहे इसका काटना वढा कठिनहै और अनर्थकारी
है इसी हेतु इस संसार को दृढ वैराग्य रूप शस्त्रसे छेदन करके तत्त्वज्ञान
की यत्न करना चाहिये यह डेढ श्लोकसे कहते है कि यह अश्वत्थरूप दृढमूल
संसार को अहं ममता त्यागरूप दृढ अस्त्रस्वरूप सम्यक् विचार से छेदन अर्थात्
पृथक करके ॥३॥ तदनन्तर संसारके मूल कारण स्वरूप तत्पदसे कहेहुये जिस
ईश्वरपदको अन्वेषण करना अर्थात् ढूंढना उचितहै सोपद कैसाहै इस अपेक्षापर
कहते है कि जहां जायकर फेर और संसार आवर्त्तन कहे यात्रा गमन होता
नहीं और अब भगवतपद ढूंढने की रीति कहते है कि जिससे इस पुराने संसार
की प्रवृत्ति भई है उसी आदि पुरुष के शरणागत होते है इसीतरह एकान्त
भक्ति के द्वारा उसपदको ढूंढे ॥४॥ सोई परमेश्वरकी प्राप्ति के विषय मे दूसरी उ
पाय देखावते हुये कहते है कि जिन मनुष्योंके मान अहंकार औ मिथ्या वस्तुमे
रुचि नहीं है अर्थात् मानादि दूर हो गये है और जिन के पुत्र स्त्री धन आदि
मे आशक्ति रूप दोष निवृत्त भये है और जिन को आत्मज्ञान मे भली प्रकार से
निष्ठाहै और जिनकी वासना अच्छीतरह निवृत्त हो गईहै और सुख दुखके हेतु
रूप शीत उष्ण हानि लाभ आदि द्वन्द्वसे अच्छीतरह छुट गये है ऐसे जो निवृत्त

सूर्योनशशाङ्कोनपावकः। यद्गत्वानिवर्त्तन्तेतद्धामपरमंमम ॥६॥ ममैवांशोजीव
लोकेजीवभूतःसनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणिप्रकृतिस्थानिकर्षति ॥७॥ शरीरं
यदवाप्नोतियच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानिसंयातिवायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८॥
श्रोत्रञ्चक्षुःस्पर्शनञ्चरसनंघ्राणमेवच। अधिष्ठायमनश्चायंविषयानुपसेवते ॥९॥ उ

भाषा अनुवाद

अविद्य कहे ज्ञानीजन हैं तेई अव्ययरूप को प्राप्त होते हैं ॥५॥ अब उसी अव्यय
पद को विशेषरूप से कहते हैं कि उस पद को सूर्य चन्द्र अग्नि भी प्रकाश नहीं
कर सकते हैं और योगीजन जिस पद को प्राप्त होय फेरि संसार मे आवर्तन
कहे गमनागमन नहीं करते हैं सोई धाम कहे तेजरूप हमारा स्वरूप है जहां
सूर्यादि की गति नहीं तहां दुख द्वन्द्व जड़ता का कौन प्रसङ्ग है ॥६॥ जो कहो कि
तुमारे धाम को प्राप्त होय फेरि संसार नहीं होता सो सत्य है सकल जीव सत
स्वरूप सम्पन्न होके द्वैत दृष्टि नहीं करते हैं और सुषुप्ति समय मे हम ब्रह्म भाव
को प्राप्त होते हैं ऐसे श्रुति विधान करैं हैं और प्रलयकाल मे भी सब जीव तिस
धाम को प्राप्त होते हैं तो फेरि संसारी और किस का नाम है इस आशङ्का पर
पांच श्लोक से संसारी स्वरूप देखावते हैं कि हमारा अंश जीव अविद्या से सुषुप्ति
तथा प्रलय के समय प्रकृति मे लीन होके रहते हैं और मन समेत इन्द्रिय इन
कृपो को मेरे ही अंश सनातन जीवभूत संसार के उपभोगार्थ फेर भी मनुष्यलोक
मे खैंचै है यहां यह जानना चाहिये कि इन्द्रिय शब्द से ज्ञान कर्म इन्द्रिय औ
पञ्च प्राण लेते हैं इसीसे संसारी होते हैं ॥ ७ ॥ और सोई इन्द्रियों को आक
र्षण करिके जीव क्या करते हैं जो यह शङ्का करो तो सुनो कि जब ईश्वर नाम
देह आदि का स्वामि स्वरूप व्यावहारिक जीव कर्मवशते दूसरे शरीर को प्राप्त
होतेहैं अथवा जब शरीरको छोड़िके गमन करतेहैं तब पूर्व शरीरसे इन्द्रियादि
कों ग्रहण करि के ही गमन करैं हैं इस मे दृष्टान्त यह कि जैसे वायु फूलों के
स्थानसे सुगन्धरूप सूक्ष्म अंश परमाणु ग्रहण करके गमन करै है तैसे ही यहभी
ग्रहण करता है सो जानो ॥८॥ इन्द्रियों के समाचार कह के अब जिस लिये उन
इन्द्रियों को ग्रहण करिकै जीव गमन करते हैं सो कहते हैं कि ये जीव श्रोत्र चक्षु

क्रामन्तंस्थितंवापिभुञ्जानंवागुणान्वितं । विमूढानानुपश्यन्तिपश्यन्तिज्ञानचक्षुषः ॥
१०॥ यतन्तोयोगिनश्चैनंपश्यन्त्यात्मन्यवस्थितं । यतन्तोऽप्यकृतात्मानोनैनंपश्यन्त्य
चेतसः ॥११॥ यदादित्यगतंतेजोजगद्भासयतेऽखिलं । यच्चन्द्रमसियच्चाग्नौतत्तेजोवि
द्धिमामकं ॥१२॥ गामाविश्यचभूतानिधारयाम्यहमोजसा । पुष्णामिचौषधीःस
र्वाःसोमभूत्वारसात्मकः ॥१३॥ अहंवैश्वानरोभूत्वाप्राणिनांदेहमाश्रितः । प्राणा

भाषा अनुवाद

स्पर्श जिह्वा और घ्राण ये बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरण को आश्रय करि के शब्द आदि विषयों को उपभोग करै है ॥ ९ ॥ जो कहो कि ऐसे आत्मा को कार्य कारण समूह से भिन्न रूप सब कोई क्यों नहीं देखते इस पर कहते हैं कि देहान्तरगामी अथवा उसी देह मे स्थित या विषयभोगी किम्बा इन्द्रियादि से युक्त जीव को विशेष मूढबुद्धि लोग सब नहीं देखते हैं परन्तु ज्ञानही जिसके चक्षु हैं ऐसे विवेकी मनुष्य ही देखते हैं ॥१०॥ और यह आत्मा दुर्विज्ञेय है क्यो कि विवेकिओं के बीच भी कोई देखते और कोई नहीं देख सकते हैं सोई कहते हैं कि ध्यान आदि के द्वारा यत्नकारी योगीजन अपनी शरीर मे इस आत्मा को पृथक् रूप से देखते हैं और शास्त्र अभ्यास से यत्न करके भी अकृतात्मा अर्थात् अशुद्ध चित्त मन्दमति लोग इस आत्मा को नहीं देखते है ॥ ११ ॥ इससे न तद्भासयते सूर्य इत्यादि इसी अध्याय के सप्तम आदि श्लोक के द्वारा परमेश्वर का जो परम धाम सो कहा गया है और तद्धाम प्राप्त जीवोको अपुनरवार आवृत्ति कही गई है और तद्विषयक संसारी के अभाव आशङ्कापर देह से भिन्न संसारी स्वरूप को भी देखाया है अब सोई परमेश्वर सम्बन्धीरूप इहां से लेकर चार श्लोक से अनन्त शक्ति क्रम से निरूपण करते है कि सूर्यादि मे स्थित अनेक प्रकार तेज जो विश्व को प्रकाश करै है ऐसे ही चन्द्र मे स्थित जो तेज अखिल संसार को प्रकाश करते हैं तैसे ही अग्निस्थ तेज ब्रह्माण्ड दीप्त करै है सो सब तेज हमारा ही है यह जानो ॥१२॥ और पृथिवी को अपने बलके द्वारा स्थित करके मैं चरा चरात्मक सकल भूतों को धारण करता हूं और अमृतात्मक चन्द्र स्वरूप होके वृक्ष आदि सम्पूर्ण शस्य को भी बढ़ावता हूं ॥१३॥ और मैं ही वैश्वानर नाम

मानसमायुक्तःपचाम्यन्नंचतुर्विधं ॥१४॥ सर्वस्यचाहंहृदिसन्निविष्टोमत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च । वेदैश्चसर्वैरहमेववेद्योवेदान्तकृद्वेदविदेवचाहं ॥१५॥ द्वाविमौपुरुषौलोकेचरश्चाचरएवच । चरःसर्वाणिभूतानिकूटस्थोऽचरउच्यते ॥१६॥ उत्त

भाषा अनुवाद

जठराग्नि स्वरूप होके प्राणियों की शरीर के मध्य मे प्रवेश कर के प्राण अपान वायु के साथ होय जीवों का भुक्त जो भोज्य भक्ष्य लेह्य चोष्य चतुर्विध अन्न तिस को परिपाक करता हूं भक्ष्य वह है जो दांतों से पीसकर खाया जाय दाल भात चर्बन वगैरः और भोज्य जो जिह्वा के इसारे से निगला जाय खीर हलुआ आदि लेह्य वह है द्रवरूप आस्वादन पूर्वक पान किया जाय सहत दुग्ध आदि चोष्य कहे जो चूंस कर घूट लिया जाय ऊख वगैरः को जानो ॥ १४ ॥ और मैंही यावत् प्राणी के हृदय मे अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करता हूं इसी से सब प्राणीयों को पूर्वकृत अर्थ विषय का स्मरण होता है और इन्द्रियो के संयोगसे जो रूपादि विषयों का ज्ञान सो हमी से होता है और अपोहन कहे स्मरण औ विषयों का ज्ञान इन दोनो का अभाव भी हम से ही होय है और वेदो मे कहे हुये तीन तीन देवता रूप भी हमीहै और वेदान्तकृत अर्थात् शिष्य प्रशिष्य रूपसे सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कहे ज्ञानदाता गुरुस्वरूपभी मैंहीहै औ वेदार्थवित् भी मैंहीहूं ॥१५॥ अब तद्धाम परमं मम यह जो इस अध्याय के सप्तम श्लोक मे कहा अपना सर्वोत्तमत्व सो तीन श्लोक से देखावते है कि जो चर औ अचर स्वरूप दुइ पुरुष लोक मे प्रसिद्ध है, इन का विशेष यह है कि ब्रह्मा आदि, स्थावर पर्यन्त जो देहधारी तिन का नाम चर पुरुष क्योंकि अविवेकियों को स्थूल शरीर मे पुरुषत्व प्रसिद्ध है और कूटस्थ कहे शिलाराशि पर्वत के समान देह नाश भये भी निर्विकाररूपसे स्थिति करै ऐसा जो चैतन्य स्वरूप भोक्ता है क्योंकि देखो विवेकी जनोके विचारसे सोई अचर पुरुष है ॥१६॥ जिस हेतु चर औ अचर दोनो पुरुष लचित भये हैं इस से जो उत्तम पुरुष सो इन दोनो से भिन्न है उस की विलक्षणता कहते हैं कि सो परमात्मा स्वरूप है यह श्रुतियों मे कहा है और आत्मा अचेतनरूप चर से तथा परमात्मा अचररूप भोक्ता से भी भिन्न है अब उनका परमात्मत्व देखावते

मःपुरुषस्त्वन्यःपरमात्मेत्युदाहृतः । योलोकत्रयमाविश्यविभर्त्त्यव्ययईश्वरः ॥ १७ ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः । अतोऽस्मिलोकेवेदेचप्रथितःपुरुषोत्तमः ॥१८॥ योमामेवमसम्मूढोजानातिपुरुषोत्तमं । ससर्वविद्भजतिमांसर्वभावेनभारत ॥१९॥ इतिगुह्यतमंशास्त्रमिदमुक्तंमयाऽनघ । एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्चभारत ॥२०॥ इति भगवद्गीतायां पुरुषोत्तमयोगोनाम पञ्चदशोध्यायः ॥१५॥

भाषा अनुवाद

हैं कि सो ईश्वर मद्वाच्य नियन्ता औ अव्यय कहे निर्विकार स्वरूप हो के भी त्रैलोक्यके हृदयमे प्रवेश करिके प्राणीमात्रका प्रतिपालन करते हैं ॥१७॥ एवम्भूत पुरुषोत्तमत्व अपना नाम कहने से देखावते हैं कि जिस हेतु हम क्षर जो जड स मूह तिनको अतिक्रमण करते हुये और नियन्तारूप चेतन जो अक्षर उससे भी उत्तम हैं इस से सकल लोक और वेद मे हम पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है सोई श्रुति कहती हैं कि सोई जो पुरुषोत्तम वे आत्मा औ त्रैलोक्यके वशकरनेवाले और तीन लोक के ईश्वर सबके शासनकर्ता है यह भगवानने अर्जुनसे कहा ॥१८॥ ऐसे ईश्वर का जानने द्वारा ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का फल कहते है कि हे भारत अर्जुन इस तरह पूर्वोक्त निश्चित प्रकार से असंमूढ कहे निश्चितमति हो के जो पुरुषोत्तम स्वरूप हम को जानि शके है सोइ मनुष्य सम्यक प्रकार से हम को भजै है तिस के अनन्तर सर्वज्ञ होता है यह जानो ॥१९॥ अब अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते है कि हे अनघ निष्पाप अर्जुन यह संक्षेपसे अति रहस्य स्वरूप जो सम्पूर्ण शास्त्रोंका सारांश सो मैंने कहा केवल वीश श्लोकयुक्त एक अध्याय छोड़ के इससे जो कोइ होय यह मेरी कही हुई वाक्य को बोध करिके बुद्धिमान कहावता औ ज्ञानी होके चरितार्थ कृतार्थ होता है तो हे भरतवंशी अर्जुन तुम जो चरितार्थ होउगे इसमे क्या और कुछ कहनाहै । सर्व्वत्रपरिपूर्ण परमात्मारूप श्रीकृष्णजी संसार वृक्ष को भिन्न करके पुरुषोत्तमयोग नाम पंद्रहें इस अध्याय मे अपना परमपद अर्जुनको उपदेश किया है ॥२०॥ इति पञ्चदशोध्यायः ॥१५॥

श्रीमद्भगवद्गीता

षोडश अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। अभयंसत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यस्थितिः। दानंदमश्चयज्ञश्चस्वा
ध्यायस्तपआर्जवं ॥१॥ अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागःशान्तिरपैशुनं। दयाभूतेष्वलो

भाषा अनुवाद

अब इस सोलहें अध्यायका तात्पर्य कहते हैं कि आसुरी सम्पत् त्याग करके दैवी सम्पत् आश्रय लेनेवाले मनुष्य मुक्तहोते हैं इसकी निर्णयकरनेके अर्थ इस अध्याय मे उसका विस्तार करते हैं कि हे अर्जुन सकल शास्त्रके अनुरूप मेरे कहे हुये इस वृत्तान्त के जानने से लोग सम्यक ज्ञानी औ कृतार्थ होते हैं यह भगवानने पन्द्रहें अध्यायके अन्त मे कहा है तो कौन मनुष्य वह तत्व समझ सकते हैं और कौन नहीं इस अपेक्षापर तत्व ज्ञानके अधिकारी औ अनधिकारी की निर्णय करनेके लिये सोरहें अध्याय का आरम्भ होता है क्यों कि जिसने जिसका अधिकार है वह उसीसे पूरा परताहै इससे अब तत्वके अधिकारी पुरुष का गुण स्वरूप सम्पूर्ण दैवी संपत को इस श्लोकसे लेकर तीन श्लोकसे कहते हैं कि अभय औ सत्व संशुद्धि कहे बुद्धिकी प्रसन्नता औज्ञानयोग जो आत्मज्ञान की उपा यमे व्यवस्थिति कहे परिनिष्ठा औ दान कहे अपने भोजन की वस्तु अन्न आदिका भी यथा उचित देना तथा दम अर्थात् वाह्य इन्द्रियोंका संयमकरना और यज्ञ कहे यथाविधि से दर्श पौर्ण मास आदि याग करना और स्वाध्याय कहे मन्त्र यन्त्र और तप जो सत्रहें अध्यायके चौदहें श्लोक मे कहेंगे देव द्विज गुरू पण्डित ज्ञानी का पूजन तथा शौच सीधापन कोमलताई ब्रह्मचर्य अहिंसा इनको शरीर तप कहते हैं सो और आर्यव कहे सीधा स्वभाव॥ १ ॥ और अहिंसा कहे परपीड़ा

लुप्तंमार्दवंह्रीरचापलं ॥२॥　तेजःक्षमाधृतिःशौचमद्रोहोनातिमानिता। भवन्ति सम्पदंदैवीमभिजातस्यभारत ॥३॥　दम्भोदर्पोऽभिमानश्चक्रोधःपारुष्यमेवच। अज्ञानंचाभिजातस्यपार्थसम्पदमासुरीं ॥४॥　दैवीसम्पद्विमोक्षायनिबन्धायासुरीमता।

भाषा अनुवाद

का त्याग औ सत्य अर्थात् देखासुना ज्यों का त्यों कहना औ अक्रोध कहे कोई मारै या कुवाच्य कहै तौ भी चित्त क्रोधवश न होने देना तथा त्याग कहे प्रिय अप्रिय से उदासीनता और शान्ति अर्थात् विषयों से चित्तकी निवृत्ति औ अपै शून्य कहे परनिन्दा वर्जन पीठ पीछे निन्दा करनेको पैशून्य कहते है और दीन दरिद्र पर दया तथा अलोलुपत्व कहे निर्लोभता औ मार्दव जो कोमलता औ ह्री कहे कुकर्म करने मे लोकलज्जा तथा अचापल अर्थात् वृथा बोलना या वृथा कुछ करना चञ्चलताई जो सो ये सब न होय ॥२॥ और तेज कहे ढिठाई और क्षमा औ धृति कहे हानि तथा दुखमे धीरज रखना औ शौच अर्थात् बाहिर भीतर शुद्धता अद्रोह कहे हिंसा ईर्षारहितहोना अतिमानिता कहे अपनी पूजामान प्रशंसा का अभाव येई अभय आदि जो छबीश प्रकार की दैवी सम्पत् है सो उसी को होती हैं जिसको कल्याण भावी है अर्थात् आगे भला होनहार है ॥ ३ ॥ अब आसुरी सम्पत् कहते हैं कि दम्भ कहे लोगों के सामने अपनी धार्मिकता प्रकाश के हेतु मन भावते कल्पित धर्मों की ध्वजा देखलाना और दर्प कहे धन उपार्जन तथा विद्या आदि मे चित्त को उत्साह कहे उंचाई और अभिमान कहे अपने हरतरहके महत्त्व से दूसरे को कुछ न समझना और क्रोध तथा पारुष्य जो कठोरता निठुरता और अज्ञान कहे अविवेक ये आसुरीकहे आसुर राक्षसों की जो सम्पत् इन मे रुचि जिनको होती है वे असुर राक्षस हैं ॥४॥ अब इन दोनों सम्पदों के काज अकाज देखावते हुये कहते है कि दैवी सम्पद से युक्त मनुष्य ही मेरे कहे हुये तत्त्वज्ञान के अधिकारी है और जो मनुष्य आसुरी सम्पद से युक्त है ते सदाही संसारी होते है अब ये वचन भगवान के श्रवण करके मैं तत्त्वज्ञान का अधिकारी हौं कि नहीं इस सन्देह से व्यग्रचित्त अर्जुन को समझावते हुये भगवान कहते है कि हे परन्तप तुम शोच न करो क्यों कि

माशुचःसम्पदंदैवीमभिजातोऽसिपाण्डव ॥५॥ द्वौभूतसर्गौलोकेऽस्मिन्दैवआसुरएवच
दैवोविस्तरशःप्रोक्तआसुरंपार्थमेशृणु ॥६॥ प्रवृत्तिञ्चनिवृत्तिञ्चजनानविदुरासुराः।
नशौचंनापिचाचारोनसत्यंतेषुविद्यते ॥ ७ ॥ असत्यमप्रतिष्ठन्तेजगदाहुरनीश्वरं।

भाषा अनुवाद

दैवी सम्पद्के अभिमुख जन्मे हो और दैवी सम्पद् संयुक्त हो यह तुमारे आच रणों से प्रसिद्ध है ॥५॥ आसुरी सम्पद् अच्छी प्रकार से वर्णन करना ही कर्त्तव्य कर्म है इससे आसुरी सम्पदको विस्तार करिके कहते हैं कि जो दो प्रकार की भूतों की सृष्टि है सो मेरे मुख से श्रवण करो इस जगह असुर राक्षस सम्बन्धी दोनो प्रकृति की एकता करके देव प्रकृतिके साथ द्वइ मत कहा है इससे नवयें अ ध्यायके बारहें स्लोकमे आसुरीं राक्षसीं चैव इत्यादि त्रिविध प्रकृतिके साथ विरोध नहीं है हे अर्जुन इस लोकमे देव औ असुर सम्पदसे युक्त जो दो प्रकार भूतों की सृष्टि तिसके मध्यमे दैवो सम्पद युक्त सृष्टि मैंने पूर्व ही विस्ताररूपसे कहा है अब आसुरी सम्पद् से युक्त सो सृष्टि जो हमसे सुनो ॥ ६ ॥ आसुरी सम्पद इस स्लोक से लेकर बारह स्लोक तक दया करिके निरूपण करते हैं कि असुर स्वभाववाले मनुष्य सकल धर्म मे प्रवृत्ति औ अधर्मसे निवृत्ति कैसी होती है सो जानते ही नहीं इसी से इन लोगों मे शौच आचार औ सत्यता का लेश मात्र भी नहीं रहता है यह तुम जानो ॥ ७ ॥ वेदविहित जो धर्म अधर्म तिस मे प्रवृत्ति को असुर स्वभाव मनुष्य क्यों नहीं जानते और धर्म अधर्म को अङ्गीकार न करने से सांसारिक सुख औ दुख आदि होना किस प्रकारसे निरूपण किया जाय और शौच तथा आचार आदि मे ईश्वर की आज्ञाही को वा कैसे लङ्घन करते हैं और ईश्वर को न मानि के जगत की उत्पत्ति किससे कहते है सोई कहते हैंकि जो वेद पुराण इतिहास को प्रमाण नहीं मानते और कहते हैं कि मुनि औ भांड़ तथा राक्षस येइ तीनो ने वेद को बनाया है और जिन की धर्म अधर्म की प्रतिष्ठा अर्थात् व्यवस्था नहीं है तेइ अप्रतिष्ठ कहे नास्तिक लोग अपनी पूर्वोक्त वाक्य को पुष्ट करने के कारणसे इस जगत को अप्रतिष्ठ कहते हैं अर्थात् यह जगत की विचित्रता स्वभावसिद्ध भाव कहते हैं और जिनके मत मे इस जगत का स्थापक

अपरस्परसम्भूतंकिमन्यत्कामहेतुकं ॥ ८ ॥ एतांदृष्टिमवष्टभ्यनष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवंत्युग्रकर्माणःक्षयायजगतोऽहिताः ॥ ९ ॥ काममाश्रित्यदुष्पूरंदम्भमानमदान्विताः मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥ चिन्तामपरिमेयाञ्चप्रलयान्तामु

भाषा अनुवाद

ईश्वर नहीं है इस से यह संसार अनीश्वर है ऐसे नास्तीक लोग अपनी बात का पक्ष करके जगत को अनीश्वर कहते हैं जो पूछो कि तौं फेरि वे लोग इस जगत की उत्पत्ति किस से मानते है इस पर उनकी कहावत कहते है कि अपरस्पर कहे पर अपर से भिन्न जो स्त्री पुरुष इन दोनो के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है इसका और कोइ कारण नहीं है यह जगत काम हेतुक अर्थात् स्त्री पुरुष इन दोनो का जो काम सोइ धारा प्रवाह क्रम से इस संसार का कारण स्वरूप चला आवता है नास्तीक लोग ऐसे ही कहते है ॥ ८ ॥ देखो निरीश्वर वादीयों की दृष्टि कहे तजवीज और कल्पना से कल्पित बातों औ उनके दर्शन कहे मतग्रन्थों का आश्रयण करके मलिनचित्त अल्पबुद्धि अर्थात् जो देखैं सुनै उसी पर तुर्त्त वेविचार विश्वासकरिके मनुष्य जिनको हिंसाही करना मात्र काम है वे शत्रुस्वरूप हो के संसार के नाश के हेतु प्रगट होते है ॥ ९ ॥ और जो कामना भोगादि करने से भी कभी पूरी नहीं होती ऐसी कामना को अवलम्बन करके दम्भ पापण्ड से युक्त होय क्षुद्र देवता भूत प्रेत आदि की आराधना मे प्रवृत्त होते हैं सोइ कहते है कि असतग्राह ग्रहण अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा इस देवता की आराधना से बहुत धन प्राप्त होगा ऐसा दुराग्रह मोहवशते जो मनुष्य अङ्गीकार करि लेतेहैं और अल्पबुद्धियों के अशुचि कहे मद्य मांस आदि युक्तव्रत नियम होते है तेई मनुष्य इन निषिद्ध कर्मोंमे प्रवृत्तहोते है ॥१०॥ और प्रलय कहे मरण काल पर्यन्त है जिसका अन्त ऐसी जो अपरिमेय चिन्ता अर्थात् कितनी है इसका ठिकाना नहीं तिस के आश्रित कहे चिन्तापरायण मनुष्य जिनको काम भोग करनाही परमप्रयोजन है और कामभोग छोडके दूसरा और कोई परमपुरुषार्थ नहीं है इतनोंहीकिये है निश्चय जोलोग ते कुकर्म्मकेद्वारा धन सञ्चय करने की इच्छा करते है इस श्लोककी पर श्लोक के साथ अन्वय होती

माश्रिताः। कामोपभोगपरमाएतावदितिनिश्चिता॥ ११॥ आशापाशशतैर्बद्धा
कामक्रोधपरायणाः। ईहन्तेकामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥ इदमद्य
मयालब्धमिदंप्राप्स्येमनोरथं। इदमस्तीदमपिमेभविष्यतिपुनर्धनं॥ १३॥ असौ
मयाहतःशत्रुर्हनिष्येचापरानपि। ईश्वरोऽहमहंभोगीसिद्धोऽहंवलवान्सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्तिसदृशोमया। यक्ष्येदास्यामिमोदिष्यइत्यज्ञानवि

भाषा अनुवाद

वृहस्पति का सूत्र प्रमाण देते है कामएवैक पुरुषार्थ इति इसका अर्थ यह है कि चैतन्यविशिष्ट जो काम उसी को पुरुष मद से कहते है॥ ११॥ इसी से आशा रूप सैकडो रसीयो से बन्धे इधर उधर खैंचे जाते हुये लोग काम क्रोध के आश्रय स्वरूपभूत काम उपभोग के अर्थ अन्याय कहे चोरी लवारी दगावाजी ठगी वटपारी से धन वटोर ने की इच्छा करते है इसी से वह धन कुकर्म छोड सुकर्म मे नही लगै है देखो अज्ञानी आप अपने हाथ गले मे सैकडो फासी लगाय लेते है॥ १२॥ अव ऐसे लोगो के मनोरथ कहि कर उन को नरक प्राप्ति का इत्तान्त इस श्लोक से लेकर चार श्लोक से कहते हैं कि इसी अज्ञान से विशेष मोहको प्राप्त होके नरक मे पडते हैं देखो उनको रुची औ मनोरथ ये है कि आज हम को यह लाभ भई और यह मनभावती प्यारी वस्तु मरे कहे आगे पावेंगे और यह धन हमारे है हमारा है और फेर भी तजवीज लगाये हैं कि यह धन भी हमारा होता हैपरन्तु यह नही शोचते कि हम किस के हवाले होयंगे और किस गति को जायंगे॥ १३॥ और इस शत्रुको हम मार डालेगे औ इसको मार लिया है और हम जो चाहै सो करे हम कर्त्ता और हम भोगी है हम सिद्ध हैं जो कुछ करनाथा कर चुके हैं हम वलवान हम सुखी हैं इन सब वातों का स्मरण तो क्षण भर भी नही भूलते पर काल वलवान की सुध को तो एक वार्गी ही भूल गये हैं कि वह क्या करेगा॥ १४॥ और हमधनी हैं हम अभिजनवान् अर्थात् कुलीन तथा यज्ञदान आदि जो कभी किया तो समझते हैं कि हमारी वरावर और किसीने नही किया लोगो मे हम वडी प्रतिष्ठा पावेगे अर्थात् प्रशंसा होगी और जोकोई हमारी स्तुतिकरेगा उसको हम

मोहिताः ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रान्तामोहजालसमावृताः। प्रसक्ताःकामभोगेषु पतन्तिनरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥ आत्मसम्भावितास्तब्धाधनमानमदान्विताः। यजन्तेनामयज्ञैस्तेदंभेनाविधिपूर्वकं ॥ १७ ॥ अहङ्कारंबलंदर्पंकामंक्रोधञ्चसंश्रिताः। मा

भाषा अनुवाद

धन वस्त्र आदि देयंगे और उसपर हमप्रसन्न होयगे इस प्रकार के मनुष्य अज्ञान से विमोहित मिथ्या अभिनिवेशको प्राप्त कहे झूठे मनोरथो मे डूबे हुये है ॥१५॥ ऐसे मनुष्य जिस प्रकार का फल पावते है सो सुनो कि अनेक चित्त कहे मनकी लापों अभिलाषों मे प्रवृत्त जो चित्त तिससे विक्षेप को प्राप्त ये लोग सोई वोइ मोह मय जाल से घेरे हुये अर्थात् सूतके जालसे वह मत्स्य के समान बन्धे है और काम भोग मे आसक्त होके अशुचिजोश्लेष्मयुक्त नरक तिसमे आपही से पडते हैं ॥१६॥ यज्ञ करिके औरों से हम बडी प्रतिष्ठा पावें ऐसे जो उनके मनोरथ जो पीछे पंद्रहें श्लोक मे कहा है वह अभिलाष केवल दंभ अहंकार आदि प्रधान है सतोगुण प्रधान नहीं है इस अभिप्राय पर दो श्लोक से कहते है कि आप अपने मनसे सम्भावित कहे महात्मा बने है पर कोई साधु उनकी प्रतिष्ठा नही करते है इसीसे वे शुष्क अर्थात् अनम्र स्वभाव कहे कठोरचित्त मनुष्य धनादि से जो मान औ अहङ्कार तिससे युक्त होके यज्ञदान आदि का तो केवल नाम मात्र ही है पर करते हैं इस वास्ते कि फलाना आदमी वडा पूजा करने वाला औ दानी है ऐसे नाम प्रसिद्ध होय इस वासना से यज्ञ दान करते है वह यज्ञ दान करना कैसा है सो कहते है कि वे खाली अपनी अपनी ख्याति लाभ अर्थात् नाम के लिये छोड और कुछ श्रद्धा से नहीं करते है तो अविधि पूर्वक यज्ञ दान जैसे है यह भी तैसे ही निष्फल है यह जानो ॥ १७ ॥ अब अविधि पूर्ववाक्यको प्रकाश करते है कि अभ्यसूयक कहे निन्दा करनेवाले मनुष्य अर्थात् भगवान् कहते है कि मेरे पथके अवलम्बी पुरुषो के गुणो मे दोष लगाने हारे मनुष्य अहङ्कार बल औ प्रगल्भता जो ढोठापन तथा काम और क्रोध का आश्रय कर अर्थात् वश होय अपनी देह औ परकी देह मे चेतन ज्ञानरूप से टिका जो मै हूं सो सम्पूर्णरूपसे मेरे प्रति द्रोहकारी यज्ञ आदिकर्म करते है परन्तु मारे

मात्मपरदेहेषुप्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥ तानहंद्विषतःक्रूरान्संसारेषुनराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु॥१९॥ आसुरींयोनिमापन्नामूढाजन्मनिजन्म
नि। मामप्राप्यैवकौन्तेयततोयान्त्यधमांगतिं ॥२०॥ त्रिविधंनरकस्येदंद्वारंनाशनमात्म
नः। कामःक्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥२१॥ एतैर्विमुक्तःकौन्तेयतमोद्वारै
स्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनःश्रेयस्ततोयातिपरांगतिं ॥२२॥ यःशास्त्रविधिमुत्सृज्य

भाषा अनुवाद

दम्भके यज्ञादिमे श्रद्धाके विना अपनेको वृथा क्लेश देते हैं और पशु आदिकों को भी अविधिपूर्वक नाहक हिंसा करने से चैतन्य जीवका द्रोहमात्र ही फल उत्पन्न होय है और तो कुछ हाथलगता नहीं इसीसे ये मनुष्य मेरेसाथ द्रोह करनेवाले मेरे शत्रु तुल्य है इससे इन हत्यारों को जो फल मिलेगा वह तुम जानिलो ॥१८॥ और उनका आसुरी स्वभाव कभी जाता नहीं यह दो श्लोक से कहते हैं कि हमसे द्वेष करने वाले क्रूरस्वरूप नराधमोंको मै जन्म मृत्युकी मार्गस्वरूप संसार मे आसुरी कहे अति क्रूर व्याघ्र सर्प आदि दुष्ट योनि मे हमेसा फेंका करता हूं अर्थात् उनको वही निषिद्ध योनि मिला करती हैं ॥ १९ ॥ और एव कहने से इस श्लोक मे यह कहा गया कि हे कौन्तेय अर्जुन बहुत जन्म आसुरी योनि मे प्राप्त जो मूढजन उनको मेरी प्राप्ति की शङ्का कहां है वल्कि मेरी प्राप्तिकी उपाय जो सतमार्ग उसको भी न पायके असुरादि योनि के भी अधम जो कृमि कीटादि गति तिस दुर्गतिको वे जाते हैं ॥ २० ॥ पूर्व कहे हुये सब आसुरी दोषोके मध्यमे सकल दोष के कारणस्वरूप जो तीनि दोष तिन को सदाही त्याग करना योग्य हैं सोइ कहते हैं कि काम क्रोध औ लोभ ये तीन दोष नरक के द्वार स्वरूप हैं तो क्योन नीच योनि प्राप्ति कारक होंय इसी से मुमुक्षु कहे मुक्ति की इच्छा रखने वाले इन तीनो दोषोंको सवतरह से त्याग करैं है ये अनर्थ के मूल हैं औ देखो कैसे दुख दाई हैं ॥ २१ ॥ अब इन तीन दोषों के त्याग करने मे विशेष फल कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन तम कहे नरक के द्वार रूप काम आदि तीन दोष से अच्छी तरह मुक्त पुरुष अपने कल्याण के साधन स्वरूप तप योग आदि आचरण करते हैं और तिस के अनन्तर मुक्ति पावते

वर्त्तेकामचारतः । नससिद्धिमवाप्नोतिनसुखंनपरांगतिं ॥ २३ ॥ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्तेकार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तंकर्म्मकर्तुमिहार्हसि ॥२४॥ इति देवासुरसम्पद्विभागयोगोनाम षोडषोऽध्यायः ॥ १६ ॥

भाषा अनुवाद

है ॥ २२ ॥ कामादि त्याग करना भी स्वधर्म आचरण के विना नहीं हो सकै है यही कहते हैं कि शास्त्र औ विधि कहे वेद विहित धर्म्म त्याग करके जो मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कर्म्म करते हैं वे सिद्धि कहे तत्त्व ज्ञान को नहीं पावते हैं और उपशम अर्थात् शान्तिरूप सुख भी नहीं पावते और न उत्तम गति जो मुक्ति तिसको पावते हैं ॥२३॥ अब तात्पर्य कहते हैं कि यह काज औ यह अकाज इसकी व्यवस्था कहे निर्णय मे तुमको शास्त्र औ वेद स्मृति कहे धर्म शास्त्र पुराण प्रमाण स्वरूप हैं इस से शास्त्र की विधिमे कहे जो कर्म्म तिन्को जानि कर इस कर्म अधिकारमे वर्त्तमान तुम अपने अधिकार के अनुरूप कर्म करने को योग्य होउ जिस हेतु सत्त्व शुद्धि औ सम्यक ज्ञान औ मुक्ति के विषय मे भी कर्महीं मूल कहे कारण स्वरूप है ॥ २४ ॥ इति योगजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी भाषाटीकायां षोडश अध्याय ॥ १६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तदश अध्यायः ।

अर्जुनउवाच । येशास्त्रविधिमुत्सृज्ययजन्तेश्रद्धयान्विताः । तेषांनिष्ठातुका कृष्णसत्त्वमाहोरजस्तमः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । त्रिविधाभवतिश्रद्धादेहिनां

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञान के अधिकारी होने मे जो सात्त्विकी श्रद्धा है सोई मुख्य कारण है यह पूर्व हीं कहा है इससे अब सत्रहें अध्यायमे भगवान श्रद्धाके तीनिभेद कहैंगे और जो सोरहें अध्याय मे यःशास्त्रविधिमुत्सृज्यवर्त्ततेकामचारतः इस तेईसयें श्लोक में कहा कि वेद शास्त्र की विधि छोड़ि अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करनेवाले को तत्त्वज्ञान नहीं होता है तो विधि त्याग करि श्रद्धा से कर्म मे वर्तमान जनो को तत्त्वज्ञान का अधिकार है कि नहीं यही ज्ञान होने की इच्छा से अर्जुन कहते हैं कि जो मनुष्य वेदशास्त्र की विधि को दुख समझकर अथवा आलस्य से त्याग करि के केवल लोकाचार के अनुसार श्रद्धायुक्त होय यज्ञ दान आदि कर्म करते हैं उसकी निष्ठा कहे स्थिति कैसी होती हैं इसी को पूछते है कि हे कृष्ण उनकी जो देव पूजा अथवा यज्ञ आदि कर्म हैं सो सात्त्विक राजसी किंवा तामसी हैं ऐसी तीन प्रकार की शङ्का होती हैं जो ये पूर्वोक्त कर्मकारी लोग सतोगुणी होयं तो सात्विक हेतु से तत्वज्ञान मे उनका अधिकार हो सकै है और जो सतोगुणयुक्त न होंय तो नहीं हो सकता है यह पूछने का तात्पर्य है ॥ १ ॥ इस का उत्तर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह जो वेदशास्त्र के क्रम से भगवदर्चन करनेवालोंकी सात्विकी श्रद्धा एकही प्रकार की है पर हां लोकाचार अनुसार कर्म अनुष्ठान करनेवालोंकी जो श्रद्धा सोई सात्विकी राजसी तामसी

स्वभावजा। सात्त्विकीराजसीचैवतामसीचेतितांश्टणु ॥२॥ सत्त्वानुरूपासर्वस्य श्रद्धाभवतिभारत। श्रद्धामयोऽयंपुरुषोयोयच्छ्रद्धःसएवसः ॥३॥ यजन्तेसात्त्विकादेवा न्यक्षरक्षांसिराजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्येयजन्तेतामसाजनाः ॥ ४ ॥ अशास्त्र

भाषा अनुवाद

तीन प्रकार की होती है तिसका कारण यह है कि स्वभाव कहे पूर्व्वकर्म के संस्कारवशते उत्पन्न जो श्रद्धा उसको स्वभावजा कहते है इससे स्वभाव को अन्यथा करने मे निश्चित समर्थ जो शास्त्रोक्त विवेकज्ञान सो लोकाचार कर्म करनेवालों को नहीं है इससे शुद्ध पूर्व स्वभाव के क्रमसे उत्पन्न जो श्रद्धा सो तीन प्रकार की होती है सो तीन भेद हम से सुनो परन्तु भगवत अर्चन विषयक सात्विकी श्रद्धा जो एकही प्रकार है सो भी व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन इस दूसरे अध्याय के एकतालीशयें श्लोक मे कही गई है यह जानो ॥२॥ पूर्वपक्ष कहते है कि हां श्रद्धा सात्विकी है क्योंकि श्रीभगवानने एकादशस्कन्धके पचीशये अध्याय के द्वितीय श्लोक से सत्व कार्यरूप हो भगवान उद्धव के प्रति निर्देश किया अर्थात् दिखाया है कि शम दम तितिक्षा ज्ञान तप सत्य दया स्मृति तुष्टि त्याग अनिच्छा श्रद्धा लज्जा औ आत्मनिवृति कहे आत्मसुख ये सब हत्तो सतोगुण ही की है इस से श्रद्धा तीन प्रकार की कैसे कहते है जो ऐसा कहो तो सुनो कि हां सत्य कहते हो पर तथापि रजोगुण औ तमोगुण के संयोग से सत्वगुण की तीन प्रकारता हेतुक सात्विक श्रद्धा भी जो तीन प्रकार होती है सोई कहते है कि जो पूर्व सात्विक स्वभाव था सो उसके संस्कार से फेर भी सात्विकश्रद्धायुक्त होता है और जो रजोगुण प्रकाश था सो रजोगुण स्वभाव होता और तमोगुण वालों की तमोगुणी श्रद्धा होती अर्थात् तामसयुक्त होता है इस कारण लोकाचार कर्म कारी ऐसे सात्विक राजस तामस स्वरूप तीन प्रकार श्रद्धाका निर्देशमात्र करके देखाया है परन्तु जो लोग शास्त्रज्ञान से प्रगट विवेकज्ञान से युक्त है तिनका स्वभाव सर्वोत्तम होने के वास्ते एकही प्रकारकी श्रद्धा होती है. इतना ही इस प्रक रण का तात्पर्यार्थ है ॥३॥ सात्विक आदि जो गुणभेद उसीको कार्य भेदसे विस्तार कर कहते है कि सात्विक स्वभावके जन सत्वप्रकृति लोग देवतोंको पूजते है ऐसे

विहितंघोरंतप्यन्तेयेतपोजनाः । दम्भाहङ्कारसंयुक्ताःकामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तःशरीरस्थंभूतग्राममचेतसः । माञ्चैवान्तःशरीरस्थंतान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्
॥ ६ ॥ आहारस्त्वपिसर्वस्यत्रिविधोभवतिप्रियः । यज्ञस्तपस्तथादानंतेषांभेदमिमं
शृणु ॥ ७ ॥ आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः । रस्याःस्निग्धाःस्थिराहृ

भाषा अनुवाद

होराजसस्वभाव रजः प्रकृति देवता यक्ष राक्षसादिकों को पूजते औ तामसी तमो गुणी भूतप्रेतों को पूजते हैं ॥४॥ और राजस तामस के मध्य मे भी जो विशेष है सो फेर दोश्लोकसे कहते हैं कि शास्त्र को विना जाने भी पूर्व संस्कार बल से कोई कोइ उत्तम पुरुष सात्त्विक स्वभाव होते हैं कोई मध्यम जन राजस स्वभाव होते और कोई अधम लोग तामस स्वभाव होते हैं और जो अत्यन्त मन्दभाग्य लोग अन्धपरम्परा मे पाषण्डियों के सङ्ग से पाषण्ड आचार के अनुवर्ती होके शास्त्र विधान से भिन्न लोक भयङ्कररूप तपस्या करते हैं तिनके विषय मे हेतु स्वरूप दम्भ औ अहङ्कार से संयुक्त तथा काम कहे अभिलाष औ राग कहे अभिलषित वस्तु मे चित्तरञ्जन के अनुरूप जो अधिक आसक्ति और बल कहे विषयों का आग्रह इस सब से युक्त होके। इस श्लोकका अर्थ दूसरे श्लोक के साथ पूरा होता ह ॥ ५ ॥ शरीरस्थ कहे शरीर के कारणरूप देह मे वर्त्तमान जो पृथिवी अप तेज वायु आकाश पंच भूत तिनको वृथा उपास करने से दुर्बल करके औ अन्त र्यामीरूप देहके बीच टिके हुये मेरे को भी लङ्घन कर दुखदाइ होय जो अवि वेकी लोग तपस्या करते हैं तिनको आसुर निश्चय कहे अति क्रूरबुद्धि जानो तात्पर्य यह कि मेरी आज्ञा लङ्घन करना ही मुझे दुख देना हैं ॥६॥ और आहा, रादि भेद से भी सात्विकादि गुण देखावने के मनोरथ से इस श्लोक से लेकर त्रयोदश श्लोक पर्यन्त कहते हैं कि सकल मनुष्यों का आहार जो अन्न आदि भी यथायोग्य तीन प्रकारसे प्रिय लगता है और यज्ञ तपस्या तथा दान आदि भी तीन प्रकार के होते हैं, सो सब भेद सुनो कि राजस तामस आहार औ यज्ञ दानादि परित्याग करके सतोगुण की वृद्धि के निमित्त सात्त्विक आहार औ यज्ञ आदि के विषय मे जो यत्न करना कर्त्तव्य है यह भगवान कहते हैं ॥ ७ ॥ अब पूर्वोक्त

द्याचाहाराःसात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आ
हाराराजसस्येष्टादुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥ यातयामंगतरसंपूतिपर्युषितञ्चयत् ।
उच्छिष्टमपिचामेध्यंभोजनंतामसप्रियं ॥ १० ॥ अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञोविधिदिष्टोयइ
ज्यते । यष्टव्यमेवेतिमनःसमाधायससात्त्विकः ॥ ११ ॥ अभिसन्धायतुफलंदम्भार्थ

भाषा अनुवाद

सात्त्विकादि आहार के तीन प्रकार भेद तीन श्लोक से कहते हैं कि आयु कहे जीवन सत्त्व कहे उत्साह बल कहे शक्ति औ आरोग्य औ सुख कहे चित्त की प्रसन्नता प्रीति कहे अभिरुचि इस से यह आया कि आयु सत्त्व आदि के बढावनेवाले और रस्य कहे रसयुक्त और स्निग्ध कहे चिकने घृतयुक्त औ स्थिर कहे रसांशके द्वारा चिरकाल देह मे रहनेवाले और हृद्य कहे देखतेमात्र भोजन की इच्छाहोय ऐसे सुन्दर स्वरूप आहार भक्ष्य भोज्य आदि सात्त्विकरूप सात्त्विक स्वभाव पुरुष को प्रिय होते हैं ॥८॥ और अति कटु नींब आदि औ अति अम्ल औ अति लवण औ अति उष्ण कहे गरम औ अति तीक्ष्ण मरिचादि औ अति रूक्ष औ अति उग्र सरसों आदि ये सब राजस स्वभाव मनुष्य को प्रिय होते है परन्तु ये सब वस्तु दुख कहे भोजन समय मे हृदय को सन्ताप आदि और शोक कहे भोजन के अनन्तर अप्रसन्नता और आमय कहे रोग ये सब खानेवाले को देते हैं क्यों कि ये सब दुख शोकमय है ॥९॥ और जो अन्न यातयाम कहे जिसको एक पहर बीत गया और ठंढा हो गया और गतरस कहे जिसका रस सूख गया सीठीसा रह गया औ पूति कहे दुर्गन्धयुक्त जो है और पर्जुषित कहे बासी अन्न औ उच्छिष्ट कहे दूसरे का जूठा और अमेध्य कहे अपवित्र अभक्ष्य मांस आदि ऐसे आहार तामस स्वभाव मनुष्यों को प्रिय लगते हैं ॥१०॥ और यज्ञ भी तीन प्रकार की हैं तिनके बीच मे सात्त्विक जो यज्ञ सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो पुरुष फल की आकांक्षा रहित अवश्य कर्तव्य है यह जानि यज्ञ करते सो यज्ञ सात्विक कहावती है, और वे मनुष्य किस कारण से यज्ञ अनुष्ठान करते इस पर कहते हैं कि यज्ञकर्म करनाही चाहिये औरकोई फलकेअर्थ कर्तव्य नहीं है ऐसा विचारि मन को एकाग्र करके यज्ञकरते हैं ॥११॥ राजस यज्ञकहते हैं कि हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन

मपिचैवयत्। इज्यतेभरतश्रेष्ठतंयज्ञंविद्धिराजसं॥ १२॥ विधिहीनमसृष्टान्नंमंत्र
हीनमदक्षिणं। श्रद्धाविरहितंयज्ञंतामसंपरिचक्षते॥ १३॥ देवद्विजगुरुप्राज्ञ
पूजनंशौचमार्जवं। ब्रह्मचर्य्यमहिंसाचशारीरंतपउच्यते॥ १४॥ अनुद्वेगकरंवा
क्यंसत्यंप्रियहितञ्चयत्। स्वाध्यायाभ्यसनंचैववाङ्मयंतपउच्यते॥ १५॥ मनःप्र
सादःसौम्यत्वंमौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपोमानसमुच्यते॥ १६॥
श्रद्धयापरयातप्तंतपस्तत्त्रिविधंनरैः। अफलाकांक्षिभिर्युक्तैःसात्त्विकंपरिचक्षते॥१७॥

भाषा अनुवाद

फलकी कामनापूर्वक अपने महत्वको जनावनेके अर्थजो यज्ञकीहुईजाय सो राजस यज्ञ जानो॥१२॥ अब तामस यज्ञ कहते हैं कि विधि हीन औ असृष्टान्न कहे जो यज्ञ के अर्थ अन्न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य से नहीं मिला होय सो अन्न औ मन्त्र हीन औ दक्षिणा दान रहित होय तथा श्रद्धा वर्जित को हुई यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं॥ १३॥ तपस्या भी सात्त्विकादि भेद देखावने के मानस से प्रथम शरीरादि के भेद क्रम से त्रिविध है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि प्राज्ञ कहे गुरुजन से भिन्न और और तत्त्वज्ञानी औ ब्राह्मण तथा गुरुजन की पूजा और शौच आदि क्रिया इन सब को शिष्ट पुरुष शरीर सम्पादित तपस्या कहते हैं॥१४ और वचन सम्बन्धी तपस्या कहते हैं कि कोई मनुष्य जिनसे भय न होय ऐसे अनुद्वेग कर वचन और सत्य तथा श्रोता को प्रिय लगे और परिणाम कहे अंत मो सुखदाई और वेद अभ्यास करनेवाले वचनो को भी वाक्य तपस्या कहते हैं॥ १५॥ अब मानसिक तपस्या कहते हैं कि मन की निर्मलता और सौम्यत्व कहे अक्रूरता और मौन कहे मुनिधर्म जो मनन करना आत्म विनिग्रह कहे विषयोंसे इन्द्रियोंको निग्रह जो रोकना और भावसंशुद्धि कहे व्यवहारमे निष्कपट रहना ये सब मानसिक तपस्यास्वरूप कहेजाते हैं॥ १६॥ शरीर वचन मनके द्वारा तीन प्रकार तपस्या देखाया सोई तीन प्रकार तप जो सात्विकादि गुण भेद से भी तीन प्रकार है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो उत्कृष्ट श्रद्धा से फल की कामनारहित औ एकाग्रचित्त होय मनुष्य लोग त्रिविध प्रकार कर्म करते तिनको पण्डित लोग सात्विक कहते हैं॥१७॥ राजस कहते हैं कि जो सत्कार

सत्कारमानपूजार्थंतपोदम्भेनचैवयत्। क्रियतेतदिहप्रोक्तंराजसंचलमध्रुवं॥१८॥ मूढग्राहेणात्मनोयत्पीडयाक्रियतेतपः। परस्योत्सादनार्थंवातत्तामसमुदाहृतं॥१९॥ दातव्यमितियद्दानंदीयतेऽनुपकारिणे। देशेकालेचपात्रेचतद्दानंसात्त्विकं स्मृतं॥२०॥ यत्तुप्रत्युपकारार्थंफलमुद्दिश्यवापुनः। दीयतेचपरिक्लिष्टंतद्दानंराजसंस्मृतं॥२१॥ अदेशकालेयद्दानमपात्रेभ्यश्चदीयते। असत्कृतमवज्ञातंतत्तामसमु

भाषा अनुवाद

अर्थात् यह पुरुष साधु औ यह तपस्वी ऐसे प्रतिष्ठावचनो से जो पूजा औ मान कहे उन को देख उठ खड़े होना औ प्रणाम करना आदि जो दैहिक पूजा और पूजा कहे अर्थ लाभादि इन सब के निमित्त औ अपने महत्व के प्रकाश के अर्थ जो की जाय अथवा जो अनित्य और क्षणिक रूप है उसी को इस लोक मे शिष्ट लोग राजस कहते हैं॥ १८॥ तामस तपस्या कहते हैं कि अविवेक से कुचेष्टा कर शरीर को क्लेश देय किम्वा और किसीके विनाश या दुख के अर्थ अभिचार स्वरूप जो तपस्या तिसको पण्डितजन तामस तपस्या कहते हैं॥ १९॥ पूर्व कथित श्रद्धीकृत दान के विषय मे भी सात्विकादि तीन प्रकार कहते हैं कि दान करना हीं चाहिये ऐसी निश्चय से जो दान और उस से प्रत्युपकार न होय अर्थात् अपना उपकार न चाहै न वह पुरुष उपकारके जोग्यहोय जिसको दानदेय और कुरुक्षेत्र काशी प्रयाग तीर्थ स्थान मे तथा ग्रहण संक्रान्ति पर्व आदिक मे और वेद शास्त्रयुक्त ब्राह्मणों को अथवा यह पात्र सकल आप दों से दाता की रक्षा करै एवंभूत पात्र कहे पात्र को जो दान दिया जाय उसी को पण्डित जन सात्विक दान कहते हैं॥ २०॥ राजस दान कहते हैं कि समय के अनुसार यह मेरा प्रत्युपकार करैगा इस हेतु से अथवा स्वर्ग फलभोगके अर्थ चित्तक्लेशयुक्त देते समय कष्ट होय अर्थात्ऐसा जो दान तिसको शिष्टलोग राजस कहते हैं॥२१॥ अब तामस दान कहते हैं कि अदेश कहे अपवित्र स्थान मे अकाल कहे अशौचादि समय मे और अपात्र कहे चोर लवार नाचने नकल करनेवालों को जो दान अथवा देश काल विद्यावान के रहते भी असत्कृत कहे पाद प्रक्षालन आदि सत्कार रहित अथवा अनादर से जो दान सुपात्र को भी दिया जाय तिस

दाहृतं ॥२२ ओंतत्सदितिनिर्देशोब्रह्मणस्त्रिविधःस्मृतः । ब्राह्मणास्तेनवेदाश्च
यज्ञाश्चविहिताःपुरा ॥२३॥ तस्मादोमित्युदाहृत्ययज्ञदानतपःक्रिया. । प्रवर्त्तन्ते
विधानोक्ताःसततंब्रह्मवादिनां ॥२४॥ तदित्यनभिसन्धायफलंयज्ञतपःक्रियाः । दा

भाषा अनुवाद

को शिष्ट लोग तामस दान कहते है ॥ २२ ॥ जो कहो कि ऐसा विचार करने से प्राय सब यज्ञ औ तपस्या तथा दान आदि राजस औ तामस मात्र ही होते है इस कारण यज्ञ आदि कर्मों मे यत्न करना वृथा है इस शङ्का पर पूर्वोक्त यज्ञ दान आदि बहुधा राजस तामस होने से भी सात्त्विकत्व प्रतिपादन की उपाय देखाय कर कहते है कि ओं तत् सत् ये जो तीन शब्द सो परमात्मा के नाम के अनुरूप निर्दिष्ट है इन के मध्य मे अकार उकार औ मकार का स्वरूप जो ओंकार सो ब्रह्म है यह श्रुतियो मे प्रसिद्ध है सो ओं शब्द ब्रह्म ही का नाम है और जगत्कारण हेतु से ज्ञानियों को अपरोक्ष है तत् भी ब्रह्म और परमार्थ औ विद्यमानत्व औ साधुत्व औ प्रसस्तत्वादि प्रयुक्त और हे सौम्य इस जगत की सृष्टि के पूर्व सत्स्वरूप मे था ऐसे श्रुतियों के कहने से सत् शब्द भी ब्रह्महो का नाम है और यह त्रिविध नाम कहने से निकृष्टको भी उत्कृष्ट करने को नाम समर्थ है इस अभिप्राय से प्रशंसा करते है कि विधाता ने सृष्टिके प्रथम इस परमात्मा के त्रिविध नाम का उद्देश कर के ब्राह्मण औ वेद औ यज्ञका निर्माण किया अथवा जो परमात्मा का यह तीन प्रकार निर्देश है सोई परमात्मा ने ब्राह्मण अति पवित्र को सृष्ट किया इससे ओं तत् सत् यह कहना अति प्रसस्त कहे उत्तम है ॥ २३ ॥ अब ओंकारादि शब्दो की प्रसस्तता देखावने के मनोरथ से ओंकार का प्रसस्तत्व कहते है कि जिस हेतु परमात्मा का निर्देश इसी रूप से प्रसस्त है इस से ओ भाव उच्चारण पूर्वक वेदादि द्वारा यज्ञ दान औ तपस्या आदि शास्त्रोक्त क्रिया सकल यथावत् संपूर्ण न होने से अर्थात् हीन होने से भी अच्छी तरह गुण संपन्न सर्वाङ्ग पूर्ण होती है ॥ २४ ॥ दूसरे नाम की प्रसंशा करते है इस स्थल मे पूर्वोक्त ओं शब्द के साथ तत्पद का सम्बन्ध है शुद्ध चित्त मुमुक्षु पुरुषो की अक्षत फल रूप कामना ब्रह्मरूप यज्ञ आदि क्रिया

नक्रियाश्चविविधा क्रियन्तेमोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥ सद्भावेसाधुभावेचसदित्येतत्प्रयुज्य
ते । प्रशस्तेकर्मणितथासच्छब्दःपार्थयुज्यते ॥२६॥ यज्ञेतपसिदानेचस्थितिःसदिति
चोच्यते । कर्मचैवतदर्थीयंसदित्येवाभिधीयते ॥२७॥ अश्रद्धयाहुतंदत्तंतपस्तप्तंकृत
ञ्चयत् । असदित्युच्यतेपार्थनचतत्प्रेत्यनोइह ॥२८॥ इति सप्तदशोध्यायः ॥१७॥

भाषा अनुवाद

तत् शब्द उच्चारण पूर्वक की जाती हैं इसी से चित्तशुद्धि के द्वारा फल सङ्कल्प त्याग पूर्वक मुमुक्षुत्व हेतु से तत् शब्द का निर्देश करना भी प्रसस्त है ॥ २५ ॥ सत् शब्द प्रसस्त है यह दो स्लोक से कहते है कि सत् भाव कहे अस्तित्व और साधुभाव कहे साधुत्व इन दोनो अर्थ को सत् शब्द कहता है और हे अर्जुन प्रसस्त कहे माङ्गलिक विवाहादि कर्म मे भी यह सत् कर्म इन विषयों मे सत् शब्द का प्रयोग योग्य है और मङ्गलादि अर्थ को भी कहता है ॥ २६ ॥ और यज्ञ तप दान मे जो स्थिति कहे इन का तात्पर्य जानि कर अवस्थान है उसको भी विद्वान जन सत् कहते है औ परमात्मा के अर्थ अथवा यज्ञ तप दान के अर्थ जो कर्म किये जायें वे भी सत् कहे जाते है जो ये यज्ञ दान तप आदि कर्म परमात्मा की सेवा के अर्थ जो कर्म सब असात्विक किम्बा विगुण अङ्गहीन भी होयं पर श्रद्धापूर्वक किये होंय और ब्रह्मके नाम जो ओं तत् सत् इनसे युक्त किये होयं तो सगुण सात्विक होतें है ॥ २७ ॥ अब मनुष्य श्रद्धा पूर्वक कर्म मे प्रवृत्त होंय इस लिये अश्रद्धा कृत कर्म की निन्दा करते है कि अश्रद्धा से होम तप दान औ पूजा आदि कर्म जो किये जाते है उनको ज्ञानी औ शिष्ट कहे भलेलोग असत् मात्र कहते हैं क्यो कि अङ्ग विकल होने से इन कर्मों का फल परलोक मे भी नहीं होता है और अयश करनेवाले हैं इस से इह लोक मे भी कुछ फल नहीं है तो शरीर का क्लेश औ धन की खरावी करने से भी क्या फल है अयश तो न करके औ करके भी मिले होगा जो इस फल की इच्छा होय तो ॥ २८ ॥ इति जगन्नाथ सुकुल विरचित मनभावनी टीकायां सप्तदशोध्याय ॥ १७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादश अध्यायः।

अर्जुनउवाच। संन्यासस्यमहावाहोतत्त्वमिच्छामिवेदितुं। त्यागस्यचहृषीकेश

भाषा अनुवाद

अब प्रथम समग्र अष्टादश अध्याय का तात्पर्य संक्षेप से श्रीधरस्वामी कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण ने समग्र गीताशास्त्र का जो संग्रह अर्थ सोई परमार्थ है यह निर्णय करने के अर्थ अठारहें अध्याय मे संन्यास औ त्याग भिन्न भिन्न करके स्पष्ट रूप से कहा है और सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी यह ५ अध्याय का १३ श्लोक औ शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्य से कर्मवन्धनैः संन्यास योगयुक्तात्मा विमुक्तोमामुपैष्यसि यह ९ अध्याय का २८ श्लोक औ त्यक्त्वाकर्मफला संगंनित्यतृप्तोनिराश्रयः यह ४ अध्याय का २० श्लोक औ सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरुयतात्मवान् यह १२ अध्याय का ११ श्लोक इन सव श्लोकों से और और अध्याय मे भी तीन तीन श्लोकों से फल मात्र त्याग करके निष्काम समस्त कर्म करने का उपदेश दिया है परन्तु परम करुणामय सर्वज्ञ जो भगवान श्रीकृष्ण सो परस्पर विरुद्ध वचन कभी भी उपदेश न करैंगे इसी से कर्मोके त्यागकरने के विषयमे जिस प्रकारसे विरोध न पडे सोई जानने की इच्छा करि अर्जुन कहते हैं कि हे हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के नियामक प्रवर्त्तक और हे केशिनिषूदन केशी नाम दैत्य व्रजलीला के समय अश्व रूप धरके आया तो भगवान उसके मुख मे अपना हाथ डाल ककरी के समान चीर डाल के डाल दियाथा सोई कहा कि हे महावाहो श्रीकृष्ण संन्यास औ त्याग शब्द का तत्त्व अर्थ मे भिन्न भिन्न करके जाना चहूं हौं सो दया करके मुझसे कहिये ॥१॥ इस अर्जुन की प्रश्न

यज्ञकेशिनिषूदन ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच। काम्यानांकर्मणांन्यासंसंन्यासंकवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागंप्राहुस्त्यागंविचक्षणाः ॥२॥ त्याज्यंदोषवदित्येकेकर्मप्राहुर्म

भाषा अनुवाद

के उत्तर मे भगवान कहते है कि देखो पुत्र की कामना करि के पुत्रइष्ठि यज्ञ करै और स्वर्ग की कामना करि अश्वमेध यज्ञ करै तथा और और कामना करि जो जो कर्म विहित है ऐसे जो काम्यकर्म तिन सब के परित्याग करने को ही पण्डित लोग संन्यास जानते है अर्थात् फल सहित सकल कर्म के त्याग को संन्यास ज्ञान करते है और जितने कर्म अकर्म कहे कुत्सित कर्म औ नित्य नैमित्तिक कर्मो के फलमात्र त्याग को विचक्षण कहे निपुण लोग त्याग कहते है पर विचार से तो कर्म त्याग करनेको तो त्याग नहीं कहते है फल त्याग वलु त्याग हो सकै है क्यों कि बहुतेरे कर्म ऐसे है कि जिनका शरीर रहते त्याग नहीं हो सकता है तो शास्त्रोक्त कर्म नित्यनैमित्तिक उपासना आदि जिन से बुद्धि की शुद्धि औ ज्ञान की योग्यता होती उनका त्याग लोकविरुद्ध संसार अवस्था मे अनुचित है परन्तु जिसको तत्त्व ज्ञान नहीं भया है उसको कर्मफल के त्याग करने हीं को त्याग जानो और जिसको तत्वज्ञान है उसीको समस्त कर्म का संन्यास हो सके है और उचित भी है यह भगवानने अर्जुनसे कहा ॥२॥ मतान्तर कहे अन्यमतको निषेध करते हुये उक्त विषय को दृढ करने की इच्छा से मतभेद देखाते है कि हिंसादि कर्म दोषयुक्त औ अनर्थहेतु से बन्धस्वरूप हैं इस लिये सब कर्म का त्याग करना उचित यह सांख्य मतवाले विवेकी लोग माहिं स्यात्सर्वभूतानि इस वचन से कहते है और अग्नीषोमीयं पशुमालभेत् इस श्रुति से अग्निष्टोम यज्ञ मे पशुहिंसा को यज्ञक्रिया का अङ्गविधान किया है और सकल कर्मो के करने मे जीवहिंसा ज्ञान अज्ञानपूर्वक होती है इसमे कर्ममात्र का त्याग कहा है और कर्मकाण्डी मीमांसा मतवाले अग्नीषोमीयं पशुमालभेत् इस विधि केवलसे कहते है कि यज्ञकर्ममे हिंसा हिंसा नहीं है करनी ही चाहिये और यज्ञ छोडकर हिंसा करने से पुरुष को पाप होता है इस अभि प्राय पर भगवान कहतेहै कि कोई बुद्धिमान तो कहते कि दोषवत कहे दोषयुक्त

नीषिणः । यज्ञदानतपःकर्मनत्याज्यमितिचापरे ॥३॥ निश्चयंशृणुमेतत्रत्यागेभर तसत्तम । त्यागोहिपुरुषव्याघ्रत्रिविधः संप्रकीर्त्तितः ॥४॥ यज्ञदानतपः कर्मनत्या ज्यंकार्य्यमेवतत् । यज्ञोदानंतपश्चैवपावनानिमनीषिणां ॥५॥ एतान्यपितुकर्माणि संगंत्यक्त्वाफलानिच । कर्त्तव्यानीतिमेपार्थनिश्चितंमतमुत्तमं ॥ ६ ॥ नियतस्यतुसं

भाषा अनुवाद

कर्मत्याग करना चाहिये और कोई यज्ञ दान तप कर्मका त्याग नहीं कहते हैं क्यो कि विधिकृत हिंसा से दोष नहीं होता है परन्तु अहिंसातो परम धर्म है ॥३॥ इस प्रकार से अन्य मत कहि कर अब अपने मत कहने की इच्छा से भगवान कहते हैं कि हे भरतसत्तम भरतवंशी अर्जुन इस पूर्व्वोक्त परस्परविरुद्ध मत के विषय मे निश्चयरूप जो मेरे वचन सो सुनो और त्याग जो लोकमे प्रसिद्ध है तो उसके विषयमे और क्या सुनैंगे ऐसा अनादर न करना यहीकहते हैं कि हे पुरुष व्याघ्र कहे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन त्याग पदार्थ बड़ा कठिन दुर्बोध है जिसहेतु इसकाम्य कर्मका त्याग तत्त्वदर्शी लोगों ने अच्छीतरह से विचार करके तामसआदि भेद से त्रिविध कहे तीन प्रकार का कहा है सो त्यागविषयक तीन प्रकार इसी अध्यायके इस सतये श्लोक से कहेंगे कि नियतस्यतुसंन्यास इति ॥४॥ अब प्रथमअपने निश्चित वचनको दो श्लोकसे कहतेहैं कि यज्ञदान औ तपरूपकर्मत्याग करनेके योग नहीं है बरन अवश्यही कर्त्तव्य है क्योंकि ये यज्ञ दान तप पूजन आदि सत्कर्म विवेकी पुरुषों को पावन करते हैं अर्थात् चित्त के शुद्धि करनेवाले है॥५॥ जिस प्रकार से किये गिये हुये ये कर्म विवेकी जनोके चित्त को शुद्ध करते है सोई प्रकार से इन कर्मोका अनुष्ठान देखावते हुये कहते है कि हे पार्थ अर्जुन सङ्ग कहे कर्त्त त्वाभिनिवेश अर्थात् हम कर्त्ता इस कर्म को करते है इस अहंकार को छोडकर केवल ईश्वर के आधीन रूप से कर्म का अनुष्ठान करना उचित है और फल की कामना को भी त्याग करके जो कर्मका करना है यही हमारा निश्चित अभिमत सिद्धान्त है इसी से वह कर्म उत्तम है यह भगवानने अर्जुन से कहा है ॥६॥ अब इस श्लोकसे देखावते हैं कि सकल काम्यकर्मोको बन्धकत्व है अर्थात् कामना करि किये हुये कर्म बन्धन करते है इस हेतु से उनका त्याग करना हीं कर्त्तव्य है

न्यास:कर्मणोनोपपद्यते। मोहात्तस्यपरित्यागस्तामस:परिकीर्त्तितः॥ ७॥ दुःख
मित्येवयत्कर्मकायक्लेशभयात्यजेत्। सकृत्वाराजसंत्यागंनैवत्यागफलंलभेत्॥ ८॥
कार्य्यमित्येवयत्कर्मनियतंक्रियतेऽर्जुन। सङ्गंत्यक्त्वाफलञ्चैवसत्यागःसात्त्विकोमतः॥९॥
नद्वेष्ट्यकुशलंकर्मकुशलेनानुषज्जते। त्यागसत्त्वसमाविष्टोमेधावीछिन्नसंशयः॥१०॥

भाषा अनुवाद

परन्तु नियतकहे नित्य कर्मोंका त्यागकरना योग्यनहींहै क्योंकिनित्यकर्म सत्वशुद्धि केद्वारा मोक्षके साधनस्वरूपहै इससे यद्यपि कर्मका परित्याग करना ठीक है तौ भी नित्यकर्म्म का त्याग मोह मात्रहीसे होता अर्थात् तामस है क्यों कि मोह तमो गुण से होता हैं इस से उस त्याग को शिष्ट लोगों ने तामस ही कहा है॥ ७॥ राजस त्यागको कहते हैं कि जो मनुष्य आत्मज्ञान के बिना केवल कर्म्म करना दुख मात्र है यह विचारि के और शरीर के क्लेश के भय से नित्यकर्म्मको त्याग करता है सो त्याग राजस है क्यों कि दुख रजोगुण का धर्म्म है इसी से राजस त्याग कारी रजो गुणी पुरुष को ज्ञानमे निष्ठा जो त्याग का फल सो कभूं भी नहीं मिलै है॥ ८॥ अब सात्विकरूप त्याग कहते हैं कि हे अर्जुन कर्म्म सब कर्त्तव्य है ऐसे विचार से नियत कहे अवश्य कर्त्तव्य रूप विहित कर्मों को कर्तृत्व अभि निवेश कहे अहंबुद्धि औ फल की कामना रहित जो त्याग करना सो सात्विक त्याग है॥ ९॥ एवम्भूत सात्विक त्याग मे प्रकृष्ट निष्ठायुक्त पुरुष के लक्षण कहते है कि सतोगुण से सात्विकत्यागी पुरुष अकुशल कहे दुखदायी अर्थात् शिशिर कहे जाडे मे प्रातःस्नान आदि कर्म्म से द्वेष नहीं करते और कुशल कहे ग्रीष्म काल के मध्यान्ह स्नान दानादि कर्मों मे प्रीति नहीं रखते है इसका कारण यह है कि वे लोग स्थिर बुद्धि अर्थात् विवेक से अन्यकृत पराभव अनादर आदि महा दुख भी सहते है और स्वर्गादि सुख को भी त्याग करते है फेरि सुख औ दुख जो क्षणिक कहे क्षण मात्र रहनेवाला है यह निश्चय जानते है औ जिस का दैहिक सुख दुख के ग्रहण औ त्याग की इच्छा रूप जो मिथ्या ज्ञान सो जिसका नष्ट हो गया है वही छिन्न संशय पुरुष है॥ १०॥ जो कहो कि पूर्वोक्त कर्मों के फल त्यागसे कर्मों ही का त्याग करना क्यों श्रेष्ठ क्यों

नहिदेहभृताशक्यंत्यक्तुंकर्माण्यशेषतः । यस्तुकर्मफलत्यागीसत्यागीत्यभिधीयते॥११॥
अनिष्टमिष्टंमिश्रञ्चत्रिविधंकर्मणःफलं। भवत्यत्यागिनांप्रेत्यनतुसंन्यासिनांक्वचित्॥१२॥
पञ्चैतानिमहाबाहोकारणानिनिबोधमे। सांख्येकृतान्तेप्रोक्तानिसिद्धयेसर्वकर्मणां॥१३॥

भाषा अनुवाद

न होय जिस हेतु विक्षेप करनेवाले कर्म दूर होने से अविक्षेप क्रम से ज्ञाननिष्ठा रूप जो सुख सो सम्पन्न होयगा इस पर कहते है कि देह अभिमानयुक्त मनुष्य तावत् सर्व कर्मों का सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकते है इस मे प्रमाण तीसरे अध्याय के पञ्चयें स्लोक आदि से कहा है कि न कश्चित् क्षणमपिजातुतिष्ठत्यकर्म्मकृत् इति इससे जो सकल कर्मका अनुष्ठान करके भी फलमे त्यागी है वेई पुरुष प्रधान त्यागी है ॥ ११ ॥ अब पूर्वोक्त त्यागका फल कहते है कि अनिष्ट कहे नरक औ इष्ट कहे देवत्व तथा मिश्र कहे मनुष्यत्व येई पाप पुण्य मिले हुये कर्मों के फल है सो काम्यकर्म करनेवालों को देहान्त होने पर प्राप्त होते है क्यों कि सकाम मनुष्यों को पाप पुण्य औ दोनोसे मिले हुयें त्रिविध कर्म सम्भव होते है परन्तु ये कर्म संन्यासी पुरुष को किसी तरह सम्भव नहीं होते और संन्यासी इस प्रसङ्गमे कर्मफलका त्यागीही लिया जाता है यहां प्रमाण सुनो कि अनाश्रित कर्मफलं कार्य्यं कर्मकरोति यः स संन्यासी च योगी च इति ६ अध्याय के प्रथम श्लोक से लेकर कहा है और कर्मफलत्यागी पुरुषको सब जगह संन्यासी कहा है इस से यह फल त्यागी सात्त्विक मनुष्य को पाप के असम्भव हेतु से और भगवत् को अर्पण करने से पुण्यफलके भी त्याग होने से त्रिविध जो कर्मफल वे किसी प्रकार से भी नहीं होते है ॥ १२ ॥ जो कहो कि कर्मी पुरुष को कर्मफल क्यों न होयंगे इसशङ्कापर सङ्गत्यागी विद्वान मनुष्यको जो कर्मबन्ध नहीं होते यह सिद्ध करने की इच्छासे यहां से पांच स्लोकके द्वारा कहते है कि हे महाबाहो कर्मोंकी निष्पत्तिमे ये पांचकारण मेरे वचनसे तुम जानो और अपने कर्तृत्वरूप अभिमान को निवृत्ति के अर्थ इन कारणो को अवश्य ही जानना चाहिये कि इस प्रकार परमात्मा सम्यक् रूप से प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञान का विषय होता है इस अर्थ का सूचन करनेवाला जो सांख्य भावार्थ यह कि तत्वज्ञान से प्रकाशमान आत्मबोध ही को

अधिष्ठानंतथाकर्त्ताकरणञ्चपृथग्विधं। विविधाश्चपृथक्चेष्टादैवञ्चैवात्रपञ्चमं ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मप्रारभतेनरः। न्याय्यंवाविपरीतंवापञ्चैतेतस्यहेतवः ॥१५॥
तत्रैवंसतिकर्त्तारमात्मानंकेवलन्तुयः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्नसपश्यतिदुर्मति ॥१६॥

भाषा अनुवाद

सांख्य कहते हैं और ऐसे कर्मों का अन्त कहे समाप्ति इसी मे है इस अर्थका सूचक जो कृतान्त अर्थात् सांख्य कृतान्त कहे वेदान्त सिद्धान्त मे अथवा इसमे सब तत्त्व गने गये हैं इस अर्थ का सूचक सांख्य और इस तरह से किया है अन्त अर्थात् सकल निर्णय है इस मे इस अर्थका सूचक जो कृतान्त पद इन दोनो पदार्थ को सांख्य कहते हैं सोइ सांख्यने ये पांचो कारण अच्छी प्रकार से कहा है इस से तुम इसको सम्यक् प्रकार से जानो॥ १३॥ सोई सर्वकर्म संपत्तिके विषय मे कारण कहते हैं कि अधिष्ठान कहे शरीर औ कर्त्ता कहे चित औ जड़ की ग्रन्थि रूप अहङ्कार और भिन्न भिन्न अनेक प्रकार करण स्वरूप चक्षु आदि इन्द्रीय और विविध कहे कार्य से या स्वरूप से भिन्न भिन्न चेष्टा अर्थात् प्राण अपानादि वायु के व्यापार समूह और अत्र कहे अधिष्ठान शरीर आदि सब के मध्य मे पञ्चम स्वरूप दैव अन्तर्यामी सर्वनियन्ता अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुकूलकारी सूर्य आदि देवता जानो इहां चित्तका अर्थ ज्ञान है॥ १४॥ इन्ही पांचों को सर्व्व कर्म मे कारणत्व कहते हैं कि इन्ही पांचो के कारण से आरम्भ किये जाते जो कर्म सकल तिनको शरीरादि मे अन्तर्गत कहे मानिके इस श्लोक मे कहा है कि जिस हेतु कर्ममात्र जो शारीरिक औ वाचनिक तथा मानसिक होते हैं यह प्रसिद्ध है औ श्लोक का अर्थ यह है कि शरीर वचन औ मन के द्वारा सब मनुष्य जो कोई धर्म या अधर्म करतेहैं सोई सकल कर्मके कारण हैं येई अधिष्ठान कहे शरीर आदि पांच कर्मोके हेतु हैं॥१५॥ तो इससे फेरि क्या होता है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि उन कर्मो के हेतु जो अधिष्ठानादि पांचमात्र हैं और कोईहेतु नही है सो होनेसेभी शास्त्र औ आचार्य के उपदेशसे नहीं शोधी गई बुद्धि इस कारणसे जो दुर्म्मति मनुष्य उपाधि रहित असङ्गरूप आत्माको कर्त्तारूप देखते हैं इस से ये दुर्म्मति मनुष्य

यस्यनाहंकृतोभावोबुद्धिर्यस्यनलिप्यते। हत्वापिसइमांल्लोकान्नहन्तिननिबध्यते ॥१७
ज्ञानंज्ञेयंपरिज्ञाताविविधाकर्मचोदना। करणंकर्मकर्त्तेतिविविधःकर्मसंग्रहः॥

भाषा अनुवाद

दर्शी नहीं हैं॥ १६॥ जिस को कर्म लेप नहीं है ऐसा सुमति कौन है इस अपेक्षा से कहते हैं कि मैंने यह कर्म किया और मैं कर्त्ता हूं ऐसी वासना जिस्के नहीं है अथवा शरीर औ इन्द्रीभाव को कर्तृत्त्व देखने से अहंकार स्वभाव रूप कर्तृत्व का भी लेश जिसको नहीं हैं इस हेतु से जिसकी बुद्धि इष्ट अनिष्ट विचार से सकल कर्म मे आसक्त नहीं होती है ऐसा जो देहादि से भिन्न रूप आत्मादर्शी पुरुष प्राणियों को लोक दृष्टि से हनन करके भी सबमें अभिन्न रूप आत्मदृष्टि हेतु से किसीका भी हनन नहीं करता है और कर्मफल से बन्धको नहीं पावता है सत्वशुद्धि के द्वारा अपरोक्ष कहे प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हेतुसे निष्काम कर्मके द्वारा उसको बन्धनकी शङ्का और बाकी क्या है यह ५ अध्याय के १० श्लोक मे कह चुके हैं कि जो कर्म फल की आसक्ति छोड़ भगवदर्पण पूर्वक कर्मका अनुष्ठान करते हैं ते मनुष्य जलके बीच वर्त्तमान पद्मपत्र के समान पुण्य पाप समस्त कर्म से अलग रहते लिप्त नहीं होते हैं॥ १७॥ कर्म मे अभिनिवेश जो इच्छा औ आसक्ति कहे तनमन से लगे रहना इन दोनो से रहित पुरुष हनन करके भी हनन नहीं करते औ बंधन को प्राप्त होते इस पूर्वोक्त वाक्यभाव के कहने के लिये कर्मकी विधि है औ कर्म श्रेय कहे कल्याण कर है और कर्मफल आदि सबको त्रिगुणात्मकत्व हेतु से गुणातीत जो आत्मा तिसको इस कर्मविधि आदिके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है इस कहने की अभिप्राय से कर्म विधि औ कर्म श्रेय कहते हैं कि ज्ञान कहे यही इष्टका साधन हैं ऐसा जो बोध औ ज्ञेय कहे इष्ट के साधन स्वरूप जो कर्म और परिज्ञाता कहे ऐसे ज्ञानका आश्रय भूत जो मनुष्य यही त्रिविध कर्मविधि कहे प्रेरणा है अर्थात् इसी प्रेरणा से लोग कर्म मे प्रवृत्त होते हैं श्लोकार्थ यह हैं कि कर्मविषयक जो विधि सो उक्तरूप त्रिगुणात्मक ज्ञान आदि को अवलम्बन करके प्रवृत्त होती है यह दूसरे अध्यायके ४५ श्लोक मे कहा है कि

१८॥ ज्ञानंकर्मचकर्त्ताचत्रिधैवगुणभेदतः। प्रोच्यतेगुणसंख्यानेयथावच्छृणुतान्यपि
॥ १९ ॥ सर्वभूतेषुयेनैकंभावमव्ययमीक्ष्यते। अविभक्तंविभक्तेषुतज्ज्ञानंविद्धिसा
त्त्विकं॥२०॥ पृथक्त्वेनतुयज्ज्ञानंनानाभावान्पृथग्विधान्। वेत्तिसर्वेषुभूतेषुतज्ज्ञा
नंविद्धिराजसं॥ २१ ॥ यत्तुकृत्स्नवदेकस्मिन्कार्येसक्तमहैतुकं। अतत्त्वार्थवदल्प

भाषा अनुवाद

हे अर्जुन त्रिगुणात्मक सकाम अधिकारीके सम्बन्धसे फल सम्बन्ध वेद मे कहा है और करण कहे साधन औ कर्मकहे कर्त्ताकी अत्यन्त इच्छा की अधिक ईसे किया जाय जो व्यापार और कर्त्ता कहे कियाका करने हारा और सब कर्म सम्पूर्ण रूप से इसी मे गृहीत होते है इस अर्थके सूचन करनेवाले पदको कर्मसंग्रह कहते हैं करण कर्म कर्त्तारूप तीन कारक ये क्रियाके आश्रयहैं और सम्प्रदान अपादान औ अधिकरण ये तीन केवल परस्पर आक्रमण से क्रिया के प्रवर्त्तक हैं साक्षात् क्रियाके आश्रय स्वरूप नहीं हैं इसीसे पूर्वोक्त तीन करणोको क्रिया के आश्रय स्वरूप कहा है॥ १८॥ अब क्रिया कारक औ फल को गुणात्मता से सत्त्व रज तम कृत त्रिविध भेद कहा चाहते है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि इसीमे गुण कार्य भेदसे सम्पूर्णप्रतिपादन करकेकहते हैं इस अर्थका सूचन करनेवाला संख्यान कहे सांख्यशास्त्र तिस मे सात्त्विक आदि गुणभेद क्रमसे तथा कार्य के द्वारा ज्ञान औ कर्म तथा कर्त्ता ये प्रत्येक त्रिविध स्वरूप कहे गये हैं सोई मै यथावत् कहता हूं तिन को भी तुम श्रवण करो॥ १९॥ इस श्लोक से लेकर तीन श्लोक मे इस ज्ञानका सात्त्विक आदि भेद से तीन प्रकार कहते है कि ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त परस्पर भिन्न भिन्न सकल वस्तु मे प्राप्त एक निर्व्विकार स्वरूप अव्यय परमात्मतत्त्व का जिस ज्ञान से आलोचन किया जाय उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान तुम जानो॥२०॥ इस श्लोक मे राजस ज्ञान कहते हैं कि भूत कहे देहधारीमात्र मे नाना भाव अर्थात् सब की शरीर मे क्षेत्रज्ञ आत्मा पृथक् पृथक् सुखी दुखी रूप से भिन्न भिन्न भी जाना जाय जिस ज्ञान से सो ज्ञान राजस जानो॥२१॥ तामसज्ञान कहते हैं कि एक कार्य मे अर्थात् स्थूल शरीर मे अथवा प्रतिमा आदि मे सक्त कहे शरीर ही आत्मा औ प्रतिमा ही ईश्वर है

त्वतत्तामसमुदाहृतं ॥२२॥ नियतंसङ्गरहितमरागद्वेषतःकृतं। अफलप्रेप्सुना
कर्म्मयत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥ यत्तुकामेप्सुनाकर्म्मसाहङ्कारेणवापुनः। क्रिय
तेबहुलायासंतद्राजसमुदाहृतं ॥२४॥ अनुबंधंक्षयंहिंसामनपेक्ष्यचपौरुषं। मो
हादारभ्यतेकर्म्मयत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥ मुक्तसङ्गोऽनहंवादीधृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारःकर्त्तासात्त्विकउच्यते ॥ २६ ॥ रागीकर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धोहिं

भाषा अनुवाद

ऐसे निश्चय से युक्त और अहेतुक कहे युक्तिविरुद्ध औ परमार्थ अवलम्बन रहित जो ज्ञान उक्त कारणों से अल्प विषय अल्प फल हेतु से तुच्छ है उस ज्ञान को शिष्टजनो ने तामसरूप निरूपण किया है॥ २२॥ अब इस श्लोक से ले तीन श्लोक के द्वारा सकल कर्म को त्रिविध कहते हैं कि फलप्राप्ति की इच्छा करते है ऐसे जो फल के लोभी जनो से किये जाते है उन से भिन्नरूप निष्काम कर्म के अनुष्ठान करने वालों से नियत कहे नित्यरूप से विहित औ अभिनिवेश आसक्ति शून्य जो कर्म किये जायं और जो पुत्र आदि के प्रीत्यर्थ अथवा शत्रु पर क्रोध काम से किये न होंय ऐसे कर्म सात्त्विक है॥ २३॥ और कर्मफल प्राप्ति का इच्छुक अथवा अहङ्कारी कहे जो अपने समान और को नही मानता है ऐसे अहङ्कारयुक्त मनुष्य से किये गये अथवा जो कर्म अति क्लेशयुक्त होंय उन्ही को शिष्टजन राजस स्वरूप कहते है॥२४॥ अब तामस कर्म कहते है कि पश्चात् वन्धकरैं ऐसे अनुवन्ध कहे पश्चात्भावीशुभ अशुभ और धनव्यय तथा अपनी सामर्थ्य न विचारिके केवल मोह से जो कर्म आरम्भ किये जाय वेई तामस कर्म है॥ २५॥ इस श्लोक से ले तीन श्लोक से कर्मकर्त्ता सव को त्रिविध करके कहते है कि कर्म अनुठाई पुरुष कर्तृत्व अभिनिवेश बुद्धि रहित और गर्व्ववचन रहित औ धैर्य उत्साह जो उद्यम इन दोनो के द्वारा युक्त समस्त कर्म मे सिद्धि असिद्धि को अपेक्षा हर्ष विषाद शून्य होय ऐसे कर्त्ता पुरुषों की सात्विक स्वभाव कहते है॥ २६॥ और पुत्र आदि के स्नेहयुक्त औ कर्मफल का कामी और परधन का अभिलाषी औ निर्दय स्वभाव औ शौच रहित औ हानि लाभ मे शोक हर्षयुक्त कर्मकारी मनुष्य राजस स्वरूप कहे रजो

सात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितकर्त्ताराजसः परिकीर्त्तितः॥२७॥ अयुक्तःप्रा
कृतःस्तब्धःशठोनैष्कृतिकोऽलसः। विषादीदीर्घसूत्रीचकर्त्तातामसउच्यते॥२८॥
बुद्धेर्भेदंधृतेश्चैवगुणतस्त्रिविधंशृणु। प्रोच्यमानमशेषेणपृथक्त्वेनधनञ्जय॥ २९ ॥
प्रवृत्तिञ्चनिवृत्तिञ्चकार्य्याकार्य्येभयाभये। बन्धंमोक्षञ्चयावेत्तिबुद्धिःसापार्थसात्वि
की॥ ३०॥ ययाधर्म्ममधर्म्मञ्चकार्य्यञ्चाकार्य्यमेवच। अयथावत्प्रजानातिबुद्धि
सापार्थराजसी ॥ ३१ ॥ अधर्मंधर्ममितियामन्यतेतमसावृता। सर्व्वार्थान्वि

भाषा अनुवाद

गुणी है॥२७॥ और अयुक्त कहे असावधान औ प्राकृत कहे विवेक रहित औ स्तब्ध अनम्र स्वभाव औ शठ कहे कर्मचोर औ नैष्कृतिक कहे परका अपमान करनेवाला तथा आलसी औ विषाद या सदा शोगी औ दीर्घसूत्री कहे जो कर्म तुर्त करने का होय उसे महीनो तकटाले ऐसे मनुष्य तामसकर्त्ता कहावते हैं ऐसे ही कर्त्ताकी त्रैविध्य से ज्ञाताभी तीन प्रकारके है और कर्म की त्रैविध्यसे ज्ञेयमात्र को त्रैविध्य कहा औ बुद्धि त्रिविध कहने से कारण भी तीन प्रकार के है॥ २८॥ अब बुद्धि औ धृति कहे धैर्यकी त्रैविध्य कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं कि हे धनञ्जय अर्जुन बुद्धि के औ धैर्यके सत्व आदि गुण क्रमसे तीन भेद जो है उन को मै भिन्न भिन्न कहता हूं तुम सावधान होय सुनो॥२९॥ अब इस श्लोक से ले तीन श्लोकसे बुद्धि की त्रैविध्य कहते हैं कि धर्म मे प्रवृत्ति औ अधर्म से निवृत्ति औ देश कालके अनुसार जो कर्त्तव्य औ अकर्त्तव्यकर्म औ काज अकाज जानि अर्थ अनर्थ ज्ञान तथा बन्ध ही कैसे औ मोक्ष ही वा कैसे होतो इस विचार से भय अभय ये सब बुद्धि कहे अन्तःकरण जानि शके है ऐसो बुद्धि सात्विकी है इस जगह बुद्धि के द्वारा पुरुष सबजानता है यह कहनेको थे परवह रीतिछोड इसीतरह परकहा कारण को कर्त्ता करके कहा है॥३०॥ और हे पार्थ अर्जुन जिस बुद्धि से धर्म अधर्म औ काज अकाज अयथावत् कहे ठीक ठीक नजाना जाय जिससे सो बुद्धि राजसी है॥ ३१॥ और तमोगुणसे आवृत कहे घेरी जो बुद्धि अधर्मको भी जानि धर्मके सकल विषय को विपरीत कहे उलटा जाने ऐसी विपरीत ग्रहण करनेवाली बुद्धि तामसी है यहां भी करणता बुद्धि की उचित थी पर कर्त्तारूप से कहा है अथवा धर्म

परीतान्श्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥ धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन । प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥ ३५ ॥ सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ । अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥ ३६ ॥ तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमं । तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजं ॥ ३७ ॥

भाषा अनुवाद

अन्त करण की वृत्ति बुद्धि औ निश्चय तथा इच्छा द्वेष आदि रूप अन्त करण की वृत्ति बहुत रहते भी धर्म अधर्म औ भय अभय की साधनरूप बुद्धि को प्रधान किया है और सब उपलक्षणरूपसे त्रिविध कहे गये हैं ॥३२॥ अब इस श्लोक को अवधिकर तीन श्लोकसे धृतिको त्रैविध्य कहते हैं कि हे अर्जुन योग कहे चित्त की एकाग्रता से और और विषय का धारण न करके जो धैर्य से मन औ प्राण तथा सब इन्द्रियों की सकल क्रिया को रुकई जायं वही धृति सतोगुणी है ॥ ३३ ॥ अब राजसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन तिससे भिन्न जा धृति कि जिस से धर्म अर्थ औ काम सब श्रेष्ठरूप से धारण किये जाय परित्यक्त न होय और उन के सङ्गम से धर्मादि के फल की आकांक्षी भी होय ऐसी धृति का नाम राजसी है ॥ ३४ ॥ अब तामसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन जिस मनुष्य की दुर्मेधा कहे अविवेकिनी नीच बुद्धि है और वह दुर्बुद्धि मनुष्य जिस धृति कहे धैर्य से निद्रा औ भय शोक तथा विषाद कहे दुख औ मद इनको नही छोडता है वह धृति तामसी है ॥३५॥ अब सुख भी तीन प्रकार का है यह प्रतिज्ञा आधे श्लोक से कहते हैं कि हे भरत वंशी अर्जुन अब त्रिविध सुख भी हम से सुनो कि जो पुरुष नित्य अभ्यास के हेतु से सुखभोग करता है और विषयी लोगों के समान विषय वासना से अति हठ धर करके सुख [illegible] नही करता औ प्रीति को नही प्राप्त होता है वैसा जो सुख भोगी पुरुष सो हठा [illegible] फलको प्राप्त होता अर्थात् दुखसे छूट जाता है ॥३६॥ और वह सुख कैसा है इस पर कहते हैं कि जो सुख अग्रे कहे प्रथम विषके तुल्य है औ अन्त को अमृत समान होता है वह सुख सात्विक है और आत्मा तथा

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमं। परिणामेविषमिवतत्सुखंराजसंस्मृतं ॥३८॥
यदग्रेचानुबन्धेचसुखंमोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थंतत्तामससमुदाहृतं ॥३९॥
नतदस्तिपृथिव्यांवादिविदेवेषुवापुनः। सत्त्वंप्रकृतिजैर्मुक्तंयदेभिःस्यात्रिभिर्गुणैः ॥
४०॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशांशूद्राणाञ्चपरन्तप। कर्माणिप्रविभक्तानिस्वभावप्रभवै

भाषा अनुवाद

बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न है अर्थात् मलरूप रजोगुण तिनको तमोगुण सतोगुण दूर करै है तब वह सुख प्रगटै है ॥ ३७॥ अब राजस सुख कहते है कि विषय वासना सहित इन्द्रियों के संयोग से जो प्रिय सङ्गम आदि सुख होता है और पहले तो अमृत तुल्य लगता है औ अन्त को दुख दाई होनेसे विष समान होता सोई सुख राजस है ॥ ३८॥ तामस सुख कहते है कि अग्रे कहे पहिले और अनुबंध कहे पीछे भी जो सुख मोहकारी विशेष से निद्रा औ आलस्य तथा प्रमाद कहे चित्त की असावधानी औ मन की जडता से जो सुख होय है सोई तामस सुख है ॥३९॥ अब जो पूर्व अध्यायों मे कहीं नहीं कहा सो इस स्लोक से ले तीन स्लोक से कहते है कि इन सतोगुण आदि प्रकृति के गुणों से मुक्त अर्थात् छूटा हुआ सत्व आदि कहे प्राणीमात्र नहीं है अथवा और कोई वस्तु क्या पृथिवी मे मनुष्य आदि क्या स्वर्ग मे देवता आदिमे भी कोई नहीं है ॥४०॥ जो समस्त क्रिया औ कारक कहे क्रियों के साधन तथा फल आदि औ प्राणीमात्र सब भी त्रिगुणात्मक कहे त्रिगुणमय भये है तो इन लोगों की मुक्ति कैसे घटै कहे होय सकै है इस शङ्का निवारण के अर्थ अपने अपने अधिकार अनुसार कर्म अनुष्ठान के द्वारा भगवत आराधन से भई हुई भगवत की कृपा प्राप्ति से प्रगट जो तत्वज्ञान तिसके द्वारा ही जो मुक्ति होयगी यह जो सब गीता का सारसंग्रह है सो देखावनेका मानसकरके इसश्लोकसे ले अध्यायसमाप्ति पर्यन्त प्रकारान्तर कहे दूसरी रीत कहने का आरम्भ करते है कि हे परन्तप यवनांतक अर्जुन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य औ शूद्र इन के कर्म प्रविभक्त कहे प्रकृष्ट रूप से भिन्न भिन्न विहित हैं और द्विज पद से शास्त्र मे ब्राह्मण आदि तीन वर्ण कहे जाते है इस से शूद्र को अलग करके कहा है सोई लक्षण कहते है कि स्वभाव कहे सतोगुण

गुणैः ॥ ४१ ॥ शमोदमस्तपःशौचंक्षान्तिरार्जवमेवच। ज्ञानंविज्ञानमास्तिक्यंब्रह्म
कर्मस्वभावजं ॥ ४२ ॥ शौर्य्यंतेजोधृतिर्दाक्ष्यंयुद्धेचाप्यपलायनं। दानमीश्वरभाव
श्चक्षत्रकर्मस्वभावजं ॥ ४३ ॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यंवैश्यकर्मस्वभावजं। परिचर्य्या

भाषा अनुवाद

आदि जिनसे सबका प्रभव कहे उत्पत्ति है उन्हींके अनुसार ब्राह्मण आदिके कर्म पृथक पृथक विहित है अथवा स्वभाव कहे पूर्व जन्मका,संस्कार उसके अनुसार जो ब्राह्मण आदि की गुणक्रम से कर्मों मे प्रवृत्ति है विशेष यह कि ब्राह्मण सतोगुण प्रधान है औ क्षत्रिय कुछ सतोगुण सहित रजोगुण प्रधान है और वैश्य कुछ सतोगुण तमोगुण ले कर रजोगुण प्रधान है और शूद्र कुछ रजोगुण युक्त तमोगुण प्रधान है यह जानो ॥ ४१ ॥ तो वे स्वाभाविक कौन कर्म हैं सोई कहते है कि शम कहे चित्त की शान्ति औ दम कहे बाह्य इन्द्रियों की शान्ति औ तप जो १७ अध्याय के १४ श्लोक मे शरीर की तपस्या कहा है तथा शौच अर्थात् बाहर भीतर की शुद्धि औ क्षान्ति कहे क्षमा आर्जव कहे सीधापन औ ज्ञान कहे शास्त्र के अर्थ का बोध और विज्ञान कहे अनुभव तथा आस्तिक्य कहे परलोक है ऐसी निश्चय रूप बुद्धि ये सब ब्राह्मणों के स्वभाव सिद्ध कर्म हैं सो जानो ॥ ४२ ॥ अब क्षत्रिय के स्वभावज जो कर्म उनको कहते है कि शौर्य कहे पराक्रम औ तेज कहे ढीठापन धृति कहे धैर्य औ दाक्ष्य कहे निपुणता और संग्राम आन पडने से पीठिदे न भागना तथा दान कहे उदारता औ ईश्वर भाव अर्थात् विषय सम्बन्धी नियम आदि करने की शक्ति ये सब क्षत्रियों के स्वभाव ही से उत्पन्न कर्म है ॥ ४२ ॥ अब वैश्यके स्वभावज कहे स्वभाव सिद्ध कर्म कहते हैं कि कृषी कहे खेती औ गो रक्षा सो दो प्रकार की है एक तो गऊका रक्षण दूसरा अपने आश्रितका पालन करना औ वाणिज्य व्यापार खरी दना बेचना तथा ब्राह्मण देवता मे श्रद्धा रखना ये सब वैश्यवंश के स्वाभाविक कर्म हैं अब शूद्र का कर्म सुनो कि इन तीनो वर्ण की सेवारूप व्यापार शूद्रका स्वभा वज कर्म है शूद्र को सेवा छोड और कर्म नहीं है ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण आदि वर्णों के इन सब कर्मों को ज्ञान का हेतुत्व कहते हैं कि अपने अपने अधिकार

स्वकंरमंशूद्रस्यापिस्वभावजं ॥ ४४ ॥ स्वेस्वेकर्मण्यभिरतःसंसिद्धिंलभतेनरः। स्वकर्मनिरतःसिद्धिंयथाविन्दतितच्छृणु ॥ ४५ ॥ यतःप्रवृत्तिर्भूतानांयेनसर्व्वमिदंततं। स्वकर्मणातमभ्यर्च्यसिद्धिंविन्दतिमानवः ॥ ४६ ॥ श्रेयान्स्वधर्मोविगुणःपरधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतंकर्मकुर्व्वन्नाप्नोतिकिल्बिषं ॥ ४७ ॥ सहजंकर्मकौन्तेय

भाषा अनुवाद

के अनुसार विहित कर्म मे निरत कहे निष्ठा से लगे हुये मनुष्य संसिद्ध कहे ज्ञान की योग्यता लाभ करते हैं और कर्म के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की प्रकार इस स्लोक के आधे से ले डेढ स्लोक मे कहते हैं कि अपने कर्म मे सब तरह निष्ठायुक्त पुरुष जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं सो प्रकार तुम श्रवण करो ॥४५॥ अब कर्म से ज्ञान प्राप्ति का प्रकार कहते हैं कि अन्तर्यामी रूप जो परमेश्वर कि जिस से प्राणी मात्र चेष्टा करते हैं और कारण स्वरूप जो ईश्वर कि जिस ईश्वर से यह समस्त जगत व्याप्त है उस ईश्वर को समस्त कर्म के द्वारा अभ्यर्च्य कहे पूजन करके मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ४६ ॥ और पूर्व स्लोक मे कहा जो स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य उसी स्वकर्म विशेषण वचन का फल कहते हैं कि स्वानुष्ठित कहे अच्छीतरह से किये हुये पराये के धर्म की अपेक्षा से स्वधर्म कहे अपना धर्म विगुण अर्थात् अङ्गहीन भी श्रेय कहे अति उत्तम है इस हेतु बन्धुवध आदि से युक्त भी क्षत्री का धर्म जो युद्ध तिस से भिक्षाटन स्वरूप पर धर्म श्रेष्ठ नही है और पूर्वोक्त स्वभाव क्रम से नियत कहे नियम स्वरूप शास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुष्ठान कर्त्ता हुआ कोई भी पुरुष किल्बिष जो पाप तिस को नही प्राप्त होता है सो अर्जुन तुम किस विचार के बखेडे मे पडे हो अपने कामको देखो इस चिन्ता से कुछ फल नहीं है ॥४७॥ परन्तु स्वधर्म मे जो सांख्यमत के अनुसार हिंसा को दोष रूप जानि के औ अहिंसा हेतु से परधर्म श्रेष्ठ जो विचार करो तौ परधर्म के आचरण मे भी दोष हैं इस अभिप्राय पर कहते है कि हे कौन्तेय अर्जुन मनुष्यों को सहज कहे स्वभावसिद्ध औ शास्त्रविहित जो स्वधर्म सो दोषयुक्त होने से भी त्याग करने योग्य नहीं है क्योंकि समस्त आरम्भ अर्थात् दृष्ट अदृष्ट

सदोषमपिनत्यजेत्। सर्वारम्भाहिदोषेणधूमेनाग्निरिवावृता ॥ ४८॥ असक्त
बुद्धि:सर्व्वत्रजितात्माविगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिंपरमांसंन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥
सिद्धिंप्राप्तोयथाब्रह्मतथाप्नोतिनिबोधमे। समासेनैवकौन्तेयनिष्ठाज्ञानस्ययापरा॥
॥५०॥ बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तोधृत्यात्मानंनियम्यच। शब्दादिन्विषयांस्त्यक्त्वारागद्वेषौ

भाषा अनुवाद

कर्ममात्र सब दोषयुक्त है तो जैसे स्वाभाविक धूम से आवृत अग्निको दोषयुक्त रहते भी लोग धूम रूप दोष परित्याग करके केवल अन्धकार औ शीत वारण के अर्थ सेवन करते हैं तैसे ही स्वकर्म भी दोष अंश को छोडके गुण अंश मात्र सत्त्वबुद्धिके अर्थ सेवन करने योग्य है सोई कहा कि हे अर्जुन सहज कहे स्वाभाविक दोषयुक्त भी अपना कर्म छोडना न चाहिये क्यों कि सब आरम्भ कहे कर्म सदोष है जैसे धूम दोष से युक्त अग्नि को कौन छोड देय है ॥४८॥ जो कहो कि दोष अंश छोडि के गुण मात्र ही ग्रहण करि के कर्म किस प्रकार किये जाय सकैंगे इस अपेक्षा पर कहते हैं कि जिन की बुद्धि असक्त कहे आशक्ति रहित है और जितात्मा अर्थात् जो निरहङ्कार है और जिनकी इच्छा कर्म के फल से दूर होगई है ऐसे पुरुष सङ्ग जो आशक्ति औ फल इन दोनो को भी छोडकर इस अध्याय के नवम श्लोकमे कहे अनुसार आशक्ति औ फल त्यागरूप संन्यासके द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि कहे सर्व कर्म निवृत्तिरूप जो सत्वशुद्धि सो पावते हैं ॥४९॥ पूर्वोक्त ऐसे परमहंस पुरुष को ज्ञाननिष्ठाके क्रम से ब्रह्मभाव की प्राप्ति का प्रकार इस श्लोक से ले साठि के श्लोक तक कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त करके ज्ञानविषयक प्रकृष्टनिष्ठा से जैसे पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते है सो, प्रकार संक्षेप मे श्रवण करो अर्थात् ज्ञान की जो श्रेष्ठ निष्ठा है सो सुनो ॥५०॥ सोई कहते है कि उक्त प्रकार क्रमसे पूर्वोक्त विशुद्धस्वरूप सात्त्विक बुद्धियुक्त पुरुष सात्त्विकी धृति से आत्मा कहे इस बुद्धि को नियम्य कहे निश्चय करके शब्द आदि सर्व्व विषय का त्याग करनेके अनन्तर और विषयप्रयुक्त राग द्वेषको भी दूर करके ब्रह्मभावको प्राप्तहोतेहैं इसश्लोकसे ले तीन श्लोकका अर्थ एकसाथ होताहै ॥५१॥ विविक्त सेवी कहे पवित्र देशवासी और लघ्वासी कहे परिमित आहारकारी होय

व्युदस्यच ॥५१॥ विविक्तसेवीलघ्वाशीयतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरोनित्यंवैरा
ग्यंसमुपाश्रितः ॥५२॥ अहङ्कारंवलंदर्पंकामंक्रोधंपरिग्रहं। विमुच्यनिर्ममःशा
न्तोब्रह्मभूयायकल्पते ॥५३॥ ब्रह्मभूतःप्रसन्नात्मानशोचतिनकांक्षति। समःसर्वेषु
भूतेषुमद्भक्तिंलभतेपरां ॥ ५४ ॥ भक्त्यामामभिजानातियावान्यश्चास्मितत्त्वतः।
ततोमांतत्त्वतोज्ञात्वाविशतेतदनन्तरं ॥५५॥ सर्वकर्माण्यपिसदाकुर्वाणोमद्व्यपाश्रयः

भाषा अनुवाद

और इन उपायों से यत वाक् काय मानस अर्थात् वचन देह और मन को वश करके सदा ध्यान क्रम से जो योग कहे अविद्या अज्ञान निवृत्तिरूप ब्रह्म साक्षात् कार तिसमे तत्पर होय अपने ध्यान के अविच्छेद के लिये सम्पूर्णरूप से वारवार दृढ वैराग्य का आश्रय लेकर ॥५२॥ और अहङ्कार औ वल कहे निंद्यवस्तु की इच्छा औ दर्प कहे योगवल से आकाश गमनरूप आदि मायामे प्रवृत्ति और प्रार अवशते अप्राप्य वस्तु मे जो काम क्रोध का रोकना और अदृष्टवशते हठात् प्राप्त वस्तु मे भी ममता रहित होके शान्ति को प्राप्त पुरुष ब्रह्म के साथ समता अर्थात् अहंब्रह्म ऐसा अचलरूप अवस्थान करनेके योग्यहै ॥५३॥ अहं ब्रह्म ऐसी निश्चय रूप अवस्थिति का फल कहते है कि ब्रह्मभूत कहे ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्न चित्त पुरुष देह आदिमे अभिमानके अभावसे नष्ट जो संसारीविषय तिनका शोच नहीं करते है और अप्राप्त विषय की भी आकांक्षा नहीं करते इसी से रागद्वेषादिकृत विक्षेप के अभाव से भूतमात्र मे समभावयुक्त होने के अनन्तर सकल प्राणीयों मे मद्भावरूप जो मेरी उत्तमभक्ति तिसको प्राप्त होते है ॥५४॥ तिसके अनन्तर वही उत्तम भक्तिके द्वारा हम को यथार्थरूपसे जानते है और मै कैसा हूं इस अपेक्षा पर कहते है कि जिस रूप से हम सर्वव्यापी औ सच्चिदानन्दस्वरूप हैं तैसा हम को जानते है और तिस के अनन्तर हम को ऐसे यथार्थरूप से जानि कै फेर उस ज्ञान के उपर कहे शान्त होने पर हमारे ही मे प्रवेश करते अर्थात् परमा नन्दस्वरूप होते है ॥५५॥ अपने अधिकार के अनुसार कर्मके क्रमसे भगवत की आराधना हेतु से कहा जो मुक्ति का प्रकार सो कहते है कि नित्य औ नैमित्तिक पूर्व कहे हुये सर्व कर्मका निरन्तर अनुष्ठानकारी और मत् व्यापाश्रय कहे जिस

मत्प्रसादादवाप्नोतिशाश्वतंपदमव्ययं ॥५६॥ चेतसासर्वकर्माणिमयिसंन्यस्यमत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्यमच्चित्त'सततंभव ॥५७॥ मच्चित्त.सर्वदुर्गाणिमत्प्रसादात्तरिष्य
सि। अथचेत्त्वमहङ्कारान्नश्रोष्यसिविनङ्‌क्ष्यसि ॥५८॥ यदहङ्कारमाश्रित्यनयोत्
स्यइतिमन्यसे। मिथ्यैषव्यवसायस्तेप्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति ॥५९॥ स्वभावजेनकौन्ते

भाषा अनुवाद

के मै ही आश्रयणीय हौ और स्वर्ग आदि फल आश्रयणीय नहीं है ऐसे पुरुष मेरी अनुग्रह से सास्वत अर्थात् अनादि औ अव्यय कहे नित्य जो सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मपद तिसको प्राप्त होते है ॥ ५६ ॥ जिस हेतु नित्य आदि कर्म के अनुष्ठान से ब्रह्म प्राप्ति होती है इस से सर्व कर्म बुद्धि के द्वारा हम को समर्पण करि के मत्पर कहे मही हौ परम प्रार्थनीय प्राप्य परम पुरुषार्थ सर्वस्वरूप जिस के अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के कर्मयोग को आश्रय कर के सतत कहे कर्म अनुष्ठान काल मे भी मद्गतचित्तपुरुष ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि.ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतं इस ४ अध्यायके २४ श्लोक से कहे हुये ज्ञानके द्वारा मेरे मे चित्त समर्पित होता है सो हे अर्जुन तुम बुद्धियोग से तद्रूप समचित्त होउ ॥ ५७ ॥ और समचित्त होने से जो होगा सो सुनो तात्पर्य यह कि मद्गतचित्त हो के मेरी क्षमा से तावत दुर्ग अर्थात् दुस्तर सांसारिक दुख समूह से तरि जावगे और इस के विपरीत आच रण मे दोष कहते है कि और जो इस प्रकार कहने पर भी तुम अपने अहंकार अर्थात् हम बडे ज्ञानी इस अभिमानसे हमारे कहने पर कान न करोगे तो पुरुष को उचित औ हित करनेवाला जो धर्म तिस सेभ्रष्ट होउगे अर्थात् विनष्ट हो जावगे औ दुर्गति भी भोगना पडेगा ॥५८॥ और जो कहो कि अच्छा हम धर्म से भ्रष्ट होय परन्तु तौ भी भाई और बन्धुवों के साथ युद्ध न करेंगे तिस पर कहते है कि मेरी कही सब बातो को अनादर पूर्वक अहङ्कारके भरोसे जो कहो कि मैं युद्ध न करूंगा ऐसी जो तुम मनमे निश्चय करते हौ तो तुमारा यह निश्चय करना स्वाधीनता के अभाव हेतुसे अर्थात् तुम स्वाधीन नही हौ इससे यह बात मिथ्या कहे झूठमूठहै सोई कहतेहैं कि जो तुमारीप्रकृति कहे क्षत्रीको रजोगुण की अधिकाई सो तुम को अवश्यही युद्धमे प्रवृत्त करेगी अन्त को आप मारोगे औ

यनिवद्धःस्वेनकर्मणा । कर्त्तुंनेच्छसियन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत् ॥६०॥ ईश्वरः
सर्व्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति । भ्रामयन्सर्व्वभूतानियन्त्रारूढानिमायया ॥६१॥
तमेवशरणंगच्छसर्व्वभावेनभारत । तत्प्रसादात्परांशान्तिंस्थानंप्राप्स्यसिशाश्वतं ॥

भाषा अनुवाद

लडोगे और इस पीटने के पीटने से केवल जगत मे दुर्यश छोड और कुछ हाथ, लागना नहीं है यह जानो ॥५९॥ और हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्वभाव कहे जो पूर्व कर्मका संस्कार जिससे रजोगुण विशिष्ट क्षत्री के जामा को प्राप्त हौ और शूरता आदिगुण कर्म से निवद्ध कहे वशीभूत तुम मोहके मारे जो इस क्षणमे युद्ध कर्मकरनेकी इच्छा नहीं करते हौ पर इसके वाद अवश होय यही कर्म अवश्यही करोगे इसमेकुछभी झूठ न मानो ॥६०॥ इससे पिच्छिले दोनोस्लोकमे सांख्य आदि मतानुसारी मनुष्योकी प्रकृतिपारतंत्र्य कहे स्वभावाधीनता कही गई अव दो श्लोक से निज कहे अपना मत कहते है कि हे अर्जुन सकल भूतोंके हृदय मे नियामक रूपसे अन्तर्यामी ईश्वरस्थिति करते है तो किस प्रकार से टिके है इस आकांक्षा पर कहते है कि भूतमात्र को माया जो अपनी शक्ति तिस के ओर से भ्रमण कहे उपस्थिति समस्त कर्मोंमे प्रवृत्त करावते भये सबमे टिकेहै जैसे कठपुतली को सूत्र धार वाजीगर लोग लोगों के सामने नचावैहै अथवा यन्त्र कहे शरीरआरूढ कहे जीव को भ्रमण करावते स्थिति करते है इस पर श्वेताश्वतर उपनिषद के मन्त्र का प्रमाण देते है कि एक स्वयं प्रकाश जो परमात्मा सो भूतो मे निगूढभाव से स्थित औ सर्वव्यापी सब का अन्तर्य्यामी औ कर्मों का नियन्ता औ भूतों का आधार रूप औ द्रष्टा देखनेवाला औ भूतमात्र को चेतनकारी अद्वितीय औ गुणातीत है और अन्तर्यामी जो वुद्धि मे स्थिति करके वुद्धि का नियम करै है और जिस को वुद्धि नहीं जानती और वुद्धि ही जिसकी उपाधिहै सोई तुमारेभी आत्मा औ अन्तर्यामी तथा कैवल्यस्वरूप है ॥६१॥ जब कि ईश्वर ही सर्व्वभूतमात्र का प्रेरक है और उसी की प्रेरणासे सकल कर्म प्राणी करते है तो फेरि अपना पुरुषार्थ करना वृथा है इस अभिप्राय से कहते है कि जिस हेतुसे जीवमात्र परमेश्वर के वशीभूत है इससे हे भारत अर्जुन तुम अहङ्कार को परित्याग करके सम्यक प्रकारसे

६२॥ इतितेज्ञानमाख्यातंगुह्याद्गुह्यतरंमया।विमृश्यैतदशेषेणयथेच्छसितथाकुरु।
॥६३॥ सर्वगुह्यतमंभूयःशृणुमेपरमंवचः। इष्टोऽसिमेदृढमितिततोवक्ष्यामितेहि
तं॥६४॥ मन्मनाभवमद्भक्तोमद्याजीमांनमस्कुरु। मामेवैष्यसिसत्यंतेप्रतिजानेप्रि

भाषा अनुवाद

ईश्वर की शरण ग्रहणकरो तदनन्तर तिनकी कृपासे मेरा कहे उत्तम शान्ति औ परमेश्वरसम्बन्धीनित्य जो स्थान सो पाओगे यह भगवाने अर्जुनसे कहा॥६२॥ अब समस्त भगवद्गीता का अर्थ कहे तात्पर्य कहते हैं कि इस प्रकार से मैं ने दया कर के तुम को ज्ञान उपदेश दिया और सो ज्ञान कैसा है इस अपेक्षा से कहते हैं कि गुह्य कहे गोपन करने योग्य तथा मन्त्रयोग आदिसे भी जो ज्ञान गुह्यतर अति रहस्य है सोई मैंने कहा इससे तुम गीताशास्त्रको महिले अच्छीतरह आलो चन कर के फेर तुमारी जैसी इच्छा होय तैसा करो भावार्थ यह कि इस गीता के अर्थ को विचार करने से अवश्य ही तुमारा मोह निवृत्त हो जायगा यह भग वानने कहा॥ ६३॥ अति गूढ अर्थ से युक्त जो गीताशास्त्र तिसकी सम्यक आलोचना करने को असमर्थ जो अर्जुन तिनसे अनुग्रह करके भगवान आप ही गीताका सारसंग्रहरूप अर्थ करि इस श्लोकसे ले तीन श्लोकके द्वारा कहते है कि उस सब गोपनीयसेभी अति गुह्यतम जो हमारे वचन सो यद्यपि प्रसङ्ग प्रसङ्गमर कहे भी गये हैं मर तौ भी फेर कहता हूं सो तुम सुनो और वारवार कहने में हेतुकहतेहैं कि तुम हमारे दृढ कहे अत्यन्त प्रियहौ इसीसे तुमारी प्रीति औहित के अर्थ फेरभी कहूंगा अथवा मेरी वाक्य को तुमने दृढ प्रमाण करके जाना और माना इससे तुम हमै अतिप्रिय हौ तो फेरि तुमारेहितके जो वचनहै सो कहूंगा ॥६४॥ अब समस्तहितोंसे बढके परमहित क्याहै इस शङ्कापर कहनेको अङ्गीकार किये हुये गीतार्थ सारको कहते है कि मन्मना कहे मतचित्त होउ और मेरही भक्त कहे आश्रित होउ औ मतयाजी कहे मेरेही पूजनकारी होउ और हमीको नमस्कार करो इस प्रकार से वर्त्तमान रहने पर मेरी अनुग्रहसे प्राप्ततत्त्वज्ञानके द्वारा जो हम को प्राप्त होउगे इस मे कुछ संशय न करो क्योंकि तुम हमारे प्रियपात्र हौ सो इसपर तुमको सत्यप्रत्यय कहे प्रतीति जिसमे होय इससे हम तुम

षोऽसिमे ॥६५॥ सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकंशरणंव्रज। अहंत्वांसर्वपापेभ्योमोच
यिष्यामिमाशुचः ॥६६॥ इदन्तेनातपस्कायनाभक्तायकदाचन। नचाशुश्रूषवेवाच्यं
नचमांयोऽभ्यसूयति ॥६७॥ यइमंपरमंगुह्यंमद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिंमयिपरां
कृत्वामामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥ नचतस्मान्मनुष्येषुकश्चिन्मेप्रियकृत्तम.। भवितान

भाषा अनुवाद

को प्रतिज्ञा करके कहते हैं ॥६५॥ पूर्व कही गुह्यतम बात से भी जो गुह्य कहे गोपनीय सो कहते हैं कि हमारी भक्तिही से सकल सिद्धि होती है इस प्रकार दृढ विश्वास करिके विधि कहे प्रारब्ध औ वेद शास्त्र के विधान का भरोसा छोडि एक हमारी ही शरण लेउ अर्थात् मेरे कहे पर विश्वास करो तो ऐसे हमारी शरणागत रूप मे वर्त्तमान तुमारे कर्मयोग से जो फेरि और पाप होंयगे ऐसा शोच न करना क्योंकि एक मेरे शरण मे प्राप्त तुमको मै यावत पाप से उद्धार औ मुक्त करूंगा इस से शोक दूर करो और अपना काम देखो ॥६६॥ इस प्रकार से श्रीभगवतगीता का तत्त्व अर्थ उपदेश करके अब गीता की संप्रदाय रूप प्रवर्त्तन करने मे अर्थात् दूसरे को उपदेश देने मे नियम कहते है कि हे अर्जुन इस गीताके अर्थ तत्त्व को तुम अतपस्क कहे स्वधर्म्म अनुष्ठान रहित मनुष्य से न कहना और न कभी अभक्त कहे ईश्वर गुरु तथा ब्राह्मण की भक्ति विहीन को कहना और अशुश्रूषु अर्थात् ब्राह्मण गुरु तथा ईश्वर की शुश्रूषा सेवा जो नहीं करता अथवा गीता श्रवण करने की जिसको अनिच्छा होय ऐसे मनुष्यों को भी कभी न कहियो और जो परमेश्वर स्वरूप हमारे मे मनुष्य बुद्धि लाय कर दोष आरोप करता हुआ निन्दा करै उसको भी तुमकभी न कहना यह तुम से हम प्रत्युपकार चाहते है ॥ ६७ ॥ पूर्व कहे हुये सब दर्पो से वर्जित भक्तजनों को गीतार्थ के उपदेश करनेवाले पुरुषका फल कहते है कि जो यह परम गुह्य गीतार्थ का उपदेश मेरे भक्तको करैगा सो मनुष्य मेरी पर कहे उत्तम भक्तिका अधिकारी होयगा और तदनन्तरसो मनुष्य सर्व संशयसे रहित होय हमको प्राप्त होयगा यह जानो ॥६८॥ तिसमे हे अर्जुन उपदेश करने औ संप्रदाय चलानेवाले मनुष्यों के मध्य मे मेरा भक्त,गीता का उपदेशकारी जो है उसके समान और

चमेतस्मादन्यःप्रियतरोभुवि ॥६९॥ अध्येष्यतेचयइमंधर्म्यंसम्वादमावयोः । ज्ञानय
ज्ञेनतेनाहमिष्टःस्यामिति मेमतिः ॥७०॥ श्रद्धावाननसूयश्चशृणुयादपियोनरः ।
सोऽपिमुक्तःशुभान्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणां ॥७१॥ कच्चिदेतच्छ्रुतंपार्थत्वयैका
ग्रेणचेतसा । कच्चिदज्ञानसम्मोहःप्रनष्टस्तेधनञ्जय ॥७२॥ अर्जुनउवाच । नष्टो

भाषा अनुवाद

कोई भी नहीं मेरा अत्यन्त परितोष करनेवाला है और न होगा और पृथिवी मे उससे अधिक प्रिय हमारे और कोई नही है न होगा ॥ ६९ ॥ अब गीता पाठ करने का फल कहते है कि जो मनुष्य हमारा औ तुमारा यह धर्मयुक्त संवाद नियम से पाठ करैगा सो पुरुष समस्त यज्ञों मे श्रेष्ट ज्ञानयज्ञ से हमारा पूजन किया यह मेरी निश्चित बुद्धिहै भावार्थ यह कि जो अर्थ न जानिकेभी जपके समान गीता पढैतो उसके श्रोता हम उस पर प्रसन्न होतेहै ज्ञान अज्ञान किसी तरह से हमको स्मरण करे पर हम उसके निकट अवश्य जायंगे जैसे अजामिल औ व्याध आदिकों के निकट हम गये है ॥७० ॥ अब गीता श्रवण करने का फल कहते है कि जो कोई श्रद्धा कहे विश्वास युक्त होय केवल गीता पाठ श्रवण करै और अनसूय कहे यह मनुष्य क्यो जोरसे चिलाय के पढता है अथवा अशुद्ध निकले तो इसे टोकै ऐसे दोष न देखै ऐसे मनुष्य तावत सफल पाप से मुक्त होय अश्वमेध यज्ञ आदि कर्म करनेवाले जो लोक पावते है वे भी उसी लोक को प्राप्त होंय गे और जो अर्थयुक्त अति प्रीति पूर्वक श्रवण करैं तो वे जीवनमुक्त है औ अन्तको साचात् ब्रह्मस्वरूप होयंगे इसमे कुछ सन्देह वाकोनही है॥७१॥ जो सम्यक प्रकार बोध तुमको न भया हो तो हम फेर भी तुमको उपदेश करैंगे इस आशय से पूछते है कि हे पार्थ अर्जुन कहो तो मैने जो कहा सो सब एकाग्र चित्त होय तुमने सुना और हे धनञ्जय संमोह कहे तत्वज्ञान के विषय मे अज्ञान जनित तुमारी विपरीत बुद्धि नष्ट भई कि नहीं अर्थात् मेरे वचनो से अज्ञान दूर गया कि नहीं यह भगवान ने पूछा ॥ ७२ ॥ तब तो भगवत की वाणी से परम कृतार्थ होय अर्जुन कहते है कि हे अच्युत श्रीकृष्ण आपकी कृपा से अब मेरा आत्मज्ञान के विषय मे मोह नष्ट होगया और स्मृति जो ज्ञान सो माया श्रो

मोहःस्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मिगतसन्देहःकरिष्येवचनंतव ॥७३॥
सञ्जयउवाच। इत्यहंवासुदेवस्यपार्थस्यचमहात्मनः। सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं
लोमहर्षणम् ॥७४॥ व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमंगुह्यमहंपरं। योगंयोगेश्वरात्कृ
ष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयं ॥७५॥ राजन्संस्मृत्यसंस्मृत्यसम्वादमिममद्भुत। केशवा
र्जुनयो.पुण्यंहृष्यामिचमुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥ तच्चसंस्मृत्यसंस्मृत्यरूपमत्यद्भुतंहरेः।
विस्मयोमेमहान्राजन्हृष्यामिचपुन.पुनः ॥७७॥ यत्रयोगेश्वरो.कृष्णोयत्रपार्थोध

भाषा अनुवाद

आत्मस्वरूपके अनुसन्धानमे स्थिति भई अर्थात् आत्मस्वरूपका ज्ञान मेरेको प्रकाश भया और धर्म्मके विषयमे संदेह मेरे चित्तसे चली गई ऐसा जो मैहूं सो अब आप की आज्ञा प्रतिपालन करूंगा और युद्ध करने के लिये तयार खडा हूं जो आज्ञा होय सो अब करूं यह अर्जुन ने भगवान कहा ॥ ७३ ॥ सोई श्रीकृष्ण अर्जुन का संवाद राजा धृतराष्ट्र से सञ्जय कहते है कि महात्मा वासुदेव औ अर्जुन का यह अद्भुत संवाद रोंवा खडे करनेवाला मैने जो सुना सो आपको कह सुनाया है ॥ ७४ ॥ अब सञ्जय यह वृत्तान्त अपने श्रवण करने का समाचार कहते है कि भगवान व्यासदेव ने हम को दिव्य चक्षु औ कर्ण दिया है कि उन्की कृपासे परम योगरूप जो परम गुह्य अर्जुन के प्रति साक्षात् योगमाया के ईश्वर श्रीकृष्णने आप अपने मुखसे कहा सो मैने श्रवण किया और आपके प्रति भी मैने कहा ॥७५॥ सो हे महाराज धृतराष्ट्र यह परमपवित्र केशव औ अर्जुनका अद्भुत संवाद स्मरणकरके मै वारवार हर्षितहोताहूं अथवा वारवार मेरे रोम खडेहोते है ॥७६॥ औ तत् शब्द से भगवान के विश्वरूप का निर्देश करते अर्थात् कहते है कि हे महाराज धृतराष्ट्र हरि श्रीकृष्णके उस अद्भुत विश्वरूपका स्मरण करि करिके हमको अत्यन्त विस्मय होती है अर्थात् आश्चर्य होता है और वारवार रोमाञ्च होता है ॥ ७७ ॥ इससे हे महाराज अब तुम अपने पुत्रों के राज्य लाभ की शंका भी परित्याग करो इस आशय पर कहते है कि जिसके पक्ष मे योगे श्वर श्रीकृष्ण वर्त्तमान है और जहां गाण्डीव धनुर्द्धारी अर्जुन तयारहै तहांई श्री कहे राजलक्ष्मी औ विजय तथा भूति कहे उत्तर उत्तर अभिवृद्धि कहे बढ़ती औ

नुर्धरः। तत्रश्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥७८॥ इतिअष्टादशोध्यायः ॥१८॥

भाषा अनुवाद

नीति जो न्याय सोसब निश्चयकरके है ऐसी मेरी मति है इससे अब तुम पुत्रोंको साथ ले श्रीकृष्ण की शरण जाय के औ पांडवों को अपना सर्वस्व दे प्रसन्नकरावते हुये अपने पुत्रों की प्राण रक्षामात्र करो यह सञ्जयने धृतराष्ट्रको कहा समझाय के ॥७८॥ इति जगन्नाथसुक्कुलविरचित मनभावनीटीकायां अष्टादशोऽध्याय ॥१८॥

अति पावनि है अनभावन की नित आवनि गावन मे मन दीजै
तजि दावन पाप परावन जो वैतामनशावनह्वै जियलीजै
भवरोग दुरावनि ज्ञान वढावनि मुक्ति उपावनि प्रतिदिन पीजै
कामिनके मन भामिनिज्यों मनभावनित्यों मनभावनि कीजै

ज्ञानरत्नाकरयन्त्रे यन्त्रिता समाप्ताचेयं श्रीमद्भगवद्गीता
॥ सम्वत् १९२४ वैशाख कृष्ण ३ ॥

अथ अङ्गन्यास करन्यासौ

ओंश्रीगणेशायनमः ओंअस्यश्रीभगवद्गीतामालामन्त्रस्य श्रीभगवान्वेदव्यास ऋषिरनुष्टुपछन्दःश्रीकृष्णःपरमात्मादेवता अशोच्यानन्वशोचस्त्वंप्रज्ञावादांश्चभाषस इतिबीजम् सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकंशरणंव्रजेतिशक्तिः अहंत्वासर्वपापेभ्योमोक्ष यिष्यामिमाशुचइतिकीलकं नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणिनैनंदहतिपावक इत्यंगुष्ठाभ्यांनमः नचैनंक्लेदयन्त्यापोनशोषयतिमारुत इतितर्जनीभ्यांनमः अच्छेद्योयमदाह्योयमक्ले द्योशोष्यएवचेतिमध्यमाभ्यांनमः नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोयंसनातनइत्यनामिका भ्यांनमःपश्यमेपार्थरूपाणिशतशोथसहस्रशइतिकनिष्ठिकाभ्यांनमः नानाविधानि दिव्यानिनानावर्णाकृतीनिचेतिकरतलकरपृष्ठाभ्यांनमः इतिकरन्यासः नैनंछिन्द न्तिशस्त्राणीतिहृदयायनमः नचैनंक्लेदयन्त्यापइतिशिरसेस्वाहा अच्छेद्योयमदाह्यो यमितिशिखायैवषट् नित्यःसर्वगत.स्थाणुरितिकवचायहुं पश्यमेपार्थरूपाणीतिनेत्र

त्रयायवौषट् नानाविधानिदिव्यानीत्यस्त्रायफट् श्रीकृष्णप्रीत्यर्थेजपेविनियोगः इति षडङ्गन्यासः अथध्यानम् ॐपार्थायप्रतिबोधितांभगवतानारायणेनस्वयं व्यासेनग्र थितांपुराणमुनिनामध्येमहाभारते अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी मंबत्वामनुसंदधामिभगवद्गीतेभवद्वेषिणीम् १ नमोस्तुतेव्यासविशालबुद्धेफुल्लारवि न्दायतपत्रनेत्र येनत्वयाभारततैलपूर्णः प्रज्वालितोज्ञानमयप्रदीपः २ प्रपन्नपारिजा ताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ज्ञानमुद्रायकृष्णाय गीतामृतदुहेनमः ३ सर्वोपनिषदोगावोदो ग्धागोपालनन्दनः पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्ता दुग्धंगीतामृतंमहत् ४ वसुदेवसुतंदेवंकंसचा णूरमर्दनं देवकीपरमानन्दं कृष्णंवन्देजगद्गुरुम् ५ भीष्मद्रोणतयाजयद्रथजलागान्धा रनीलोत्पला शल्यग्राहवतीकृपेणवहिनीकर्णेनवेलाकुला अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी सोत्तीर्णाखलुपाण्डवैःकुरुनदीकैवर्त्तकःकेशवः ६ पाराशर्य्यवचः सरोजममलंगीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यानककेशरंहरिकथासम्बोधनाबोधितं लोके सज्जनषट्पदैरहरहःपेपीयमानंमुदा भूयाद्भारतपङ्कजंकलिमलप्रध्वंसिनःश्रेयसे ७ मूकंकरोतिवाचालंपङ्गुंलङ्घयतेगिरिंयत्कृपातमहंवन्देपरमानन्दमाधवं ८ यंब्रह्मावरु णेन्द्ररुद्रमरुतःस्तुन्वन्तिदिव्यैस्तवैर्वेदैःसाङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्तियंसामगाःध्याना वस्थिततद्गतेनमनसापश्यन्तियंयोगिनो यस्यान्तन्नविदुःसुरासुरगणादेवायतस्मैनमः ९

श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यं ।

श्रीगणेशायनमः ऋषिरुवाच गीतायाश्चैवमाहात्म्यंयथावत्सूतमेवद पुराणमुनि नाप्रोक्तंव्यासेनमुनिनोदितम् १ सूतउवाच पृष्टंभवद्भिर्ऋषिभिर्यद्गोप्यंपुरातनम् शक्यतेकेनवैवक्तुंगीतामाहात्म्यमुत्तमम् २ कृष्णोजानातिवैसम्यक्किञ्चित्कुन्तीसुतः फलम् व्यासोवाव्यासपुत्रोवायाज्ञवल्क्योथमैथिलः ३ अन्येश्रवणतःश्रुत्वालेशंसंकीर्त्त यन्तिच तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्रव्यासस्यास्यान्मयाश्रुतम् ४ सर्वोपनिषदोगावोदोग्धा गोपालनन्दनः पार्थोवत्ससुधीर्भोक्तादुग्धंगीताऽमृतंमहत् ५ सारथ्यमर्जुनस्यादौकुर्व न्गीतामृतंददौ लोकत्रयोपकारायतस्मैकृष्णात्मनेनमः ६ संसारसागरंघोरंतर्त्तुमि च्छतियोनरः गीतानावंसमासाद्यपारंयातिसुखेनसः ७ गीताज्ञानंश्रुतंनैवसदैवा भ्यासयोगतः मोक्षमिच्छतिमूढात्मायातिबालकहास्यताम् ८ येशृण्वन्तिपठन्त्येवगी ताशास्त्रमहर्निशम् नतेवैमानुषाज्ञेयादेवरूपानसंशयः ९ गीताज्ञानेनसम्बोधंक्ष

ज्ञात्वालभतेमुक्तिमुत्तमां ६३ गीतेत्युच्चारसंयुक्तोम्रियमाणोगतिंलभेत् यद्यत्कर्मच
सर्वत्रगीतापाठप्रकोर्त्तिमत् ६४ तत्तत्कर्मचनिर्दोषंभूत्वापूर्णत्वमाप्नुयात् पितृनु
द्दिश्ययःश्राद्धेगीतापाठंकरोतिवै ६५ सन्तुष्टाःपितरस्तस्यनिरयाद्यान्तिस्वर्गतिं गी
तापाठेनसन्तुष्टाःपितरःश्राद्धतर्पिताः ६६ पितृलोकंप्रयान्त्येवपुत्राशीर्वादतत्पराः
गीतापुस्तकदानंचधेनुपुच्छसमन्वितम् ६७ कृत्वाचतद्दिनेसम्यक्कृतार्थोजायतेजनः
पुस्तकंहेमसंयुक्तंगीतायाःशुद्धमानसः ६८ दत्वाविप्रायविदुषेजायतेनपुनर्भवः शत
पुस्तकदानञ्चगीतायाःप्रकरोतियः ६९ सयातिब्रह्मसदनंपुनरावृत्तिदुर्लभम् गी
तादानप्रभावेणसप्तकल्पावधिंसमाः ७० विष्णुलोकमवाप्नोतिविष्णुनासहमोदते स
म्यक्श्रुत्वाचगीतार्थंपुस्तकंयःप्रदापयेत् ७१ तस्मैप्रीतोहिभगवान्ददातिमनसे
प्सितं देहंमानुषमाश्रित्यचातुर्वर्ण्येषुभारत ७२ नशृणोतिनपठतिगीताममृतरूपि
णीं हस्तात्त्यक्त्वामृतंप्राप्तंकष्टात्क्ष्वेडसमश्नुते ७३ पीत्वागीतामृतंलोकेलब्ध्वामोक्षं
सुखीभवेत् जनैःसंसारदुःखार्त्तैर्गीताज्ञानंचयैःश्रुतम् ७४ संप्राप्तममृतंतैश्चगतास्ते
सदनंहरेः गीतामाश्रित्यबहवोभूभुजोजनकादयः ७५ निर्धूतकल्मषालोकेगता
स्तेपरमंपदं गीतासुनविशेषोस्तिजनेषूच्चावचेषुच ७६ ज्ञानेष्वेवसमग्रेषुसमाब्रह्म
स्वरूपिणी योभिमन्यतिगीतार्थंनिन्दांवाकरोतिच ७७ समेतिनरकंघोरंयावदा
भूतसंप्लवं अहङ्कारेणमूढात्मागीतार्थंनैवमन्यते ७८ कुम्भीपाकेषुपच्येतयावत्कल्प
क्षयोभवेत् गीतार्थंवाच्यमानंयोनशृणोतिसमीपतः ७९ सशूकरभवांयोनिमनेका
सोधिगच्छति चौर्यंकृत्वाचगीतायाःपुस्तकंयःसमानयेत् ८० नतस्यचफलंकिञ्चि
त्पठनाच्चवृथाभवेत् यःश्रुत्वानैवगीतार्थंमोदतेपरमार्थतः ८१ नैवाप्नोतिफलंलोके
प्रमादाच्चवृथाश्रमः गीतांश्रुत्वाहिरण्यंचभक्ष्यंपट्टांबरप्रवेष्टनं ८२ निवेदयेद्यतद्भक्त्याप्रीत
येपरमात्मनः वाचकंपूजयेद्भक्त्याद्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ८३ अनेकैर्बहुधाप्रीत्यातुष्य
तांभगवान्हरिः माहात्म्यमेतद्गीतायाःकृष्णप्रोक्तंपुरातनम् ८४ गीतान्तेपठतेयस्तु
यथोक्तफलभाग्भवेत् गीतायाःपठनंकृत्वामाहात्म्यंनैवयःपठेत् ८५ वृथापाठफलंतस्य
श्रमएवउदाहृतः एतन्माहात्म्यसंयुक्तंगीतापाठंकरोतियः ८६ श्रद्धयायःशृणोत्येव
दुर्लभांगतिमाप्नुयात् श्रुत्वापठित्वागीतांचमाहात्म्यंयःशृणोतिच ८७ तस्यपुण्यफ
लंलोकेभवेद्देमनसेप्सितम् एवंज्ञात्वाप्रकुर्वोतगीतापाठमनुत्तमम् ८८

इति श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यं श्रीकृष्णेनार्जुनायोक्तं समाप्तम्